प्रकाशक ·

विरजानन्द वैदिक सस्थान,

संन्यास आश्रम, गाज़ियाबाद, २०१००१

(उत्तर प्रदेश)

प्राक्कथन लेखक ·

विद्याभास्कर, वेदरत्न

श्री आचार्य उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, साख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति

प्रस्तावना लेखक

श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

राज संस्करण मूल्य २५) रु०

मुद्रक :

जनशक्ति मुद्रण यन्त्रालय,

के १७, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

आधुनिक कपिल

श्री आचार्य उदयवीर जी शास्त्री

को

सादर समर्पित

विषय सूची

प्राक्कथन

प्रस्तावना

प्रकाशकीय

१—सत्यासत्य निर्णय १—१७

२—ईश्वर १८—६०

३—जीवात्मा ६१—९३

४—पुनर्जन्म ९४—११८

५—मुक्ति ११९—१५०

६—सृष्टि १५१—१९८

७—तीन अनादि १९९—२४५

८—उपासना २४६—२८०

९—मनोविज्ञान २८१—३१५

१०—विषय-निर्देशिका ३१७—३३०

प्राक्कथन

"सर्वज्ञानमयो हि स"–भगवान् मनु के इस वचन के अनुसार भारतीय परम्परागत दृष्टि से वेद ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप मे समस्त ज्ञान विज्ञान का भण्डार है। *सायणाचार्य ने अपने तैत्तिरीय सहिता भाष्य के* उपोद्घात मे कहा है—

> **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
> **एत विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥**

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो अर्थ नही जाना जाता है वह वेदो से अवश्य जाना जाता है। यही वेदो का वेदत्व है।

हमारे दार्शनिक सिद्धान्त भी वेदमूलक हैं। इस विषय मे ऋग्वेद दशम मण्डल के कतिपय सूक्त (७२, ८१, १२९) द्रष्टव्य हैं, जहा जगत् के उपादान कारण प्रकृति, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के कर्त्ता परमात्मा तथा भोक्ता जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। भारतीय दर्शन के ये मौलिक तत्त्व हैं, जिनके विवेचन मे समस्त दर्शनो का पर्यवसान है। ऋग्वेद (१०-८१-३) की एक ऋचा है जिसमे जगत् के गतिशील मूल उपादान तत्त्वो का 'पतत्र' पद द्वारा सकेत किया है—

> **विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।**
> **सं बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक॥**

ऋचा के पूर्वार्द्ध मे परमात्मा के विश्वरूप का दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ उत्तरार्द्ध मे जगत् का जनयिता एक देव पृथक् बताया गया है। जगत् के उपादान कारणरूप मे साधन सामग्री का सकेत 'पतत्र' पद से किया गया है जो रचयिता से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। इससे जगत्सर्ग के विषय मे यह वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि जगत् का कर्त्ता चेतन परमात्मा पृथक् और यह जड जगत् जिन साधन तत्त्वो से इस रूप मे परिणत होता है, वे कर्त्ता से पृथक् हैं।

वेद मे स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि अनेक नामो से जगत् के मूल उपादान तत्त्व का निर्देश हुआ है। सर्ग स्थिति काल मे प्रकृति के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध बताने वाली ऋग्वेद (१-१६४-३८) की ऋचा इस प्रकार है—

> **अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येन सयोनि।**
> **ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्य चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥**

अपने भोगापवर्ग के लिए चेतन जीव जड प्रकृति के साथ सपृक्त होता है। यही प्रकृति के द्वारा उसका गृहीत होना है। प्रकृति से सबद्ध होकर ही वह

अपने भोग-अपवर्ग को सम्पन्न कर सकता है। इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिए कतिपय विनाशी (मर्त्य) तत्त्व सर्गकाल मे सदा जीव के साथ रहते हैं। यह अठारह तत्त्वो से घटित सूक्ष्म शरीर है। इसी के साथ सम्बद्ध जीव ऊच-नीच विभिन्न योनियो मे आया जाया करता है। स्वधा (प्रकृति) और अमर्त्य (जीव) दोनो अनादि अनन्त हैं, इसलिये दोनो का सम्बन्ध भी अनादि अनन्त है। इस आवर्त्तमान चक्र मे ये कभी परस्पर बिछुड भी जाते हैं, पर कालान्तर मे उन्हे फिर अपनी उसी स्थिति मे आ जाना होता है। इसी रूप मे यह प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध अनादि अनन्त है। इन दो तत्त्वो मे से एक (दृश्यमान कार्य जगत् रूप मे स्वधा=प्रकृति) को अच्छी तरह देखा जाता है, अन्य (चेतन जीवात्मा) को इतनी स्पष्टता से नही जाना जाता।

अदिति, स्वधा, वृक्ष आदि पदो के समान 'गुण' पद का प्रयोग भी मूल उपादान तत्त्व के लिए वेद मे देखा जाता है। प्राय सब दर्शनो मे सारभूत तत्त्व, विशेष रूप से कापिल दर्शन मे मूल तत्त्व के लिए इस पद का प्रयोग है। अथर्ववेद (१०-८-४३) मे कहा है—

पुण्डरीकं नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वन् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

मन्त्र मे 'पुण्डरीक' पद मानव देह के लिए प्रयुक्त है। लोक और साहित्य में इस पद का अर्थ कमल अथवा पुष्पमात्र प्रसिद्ध है। पुष्परूप मे मानव देह का वर्णन उसकी नश्वरता की ओर सकेत करता है। प्रत्येक पुष्प कली की प्रारम्भिक अवस्था से खिलकर, क्षण भर के लिए ससार को आकृष्ट कर अन्त मे मुरझा कर नष्ट हो जाता है। ठीक यही दशा इस देह की है। 'पुण्डरीक' पद का प्रयोग पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि ऐ पुरुष! इस नौ द्वार वाले देह की नश्वरता को समझने के लिए पुष्प की दशा को सदा अपने सामने रख। भ्रमर के समान इसके रस को तो भोग, पर अपने अस्तित्व को विसार कर इसमे लीन मत हो।

यह देह, सत्त्व-रजस्-तमस्—इन तीन गुणो का परिणाम है। देह मे इसका अधिष्ठाता—चेतन आत्मा निवास करता है। इस आत्मा (जीव चेतन) के समान एक और 'यक्ष' है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् वस्तु मे व्याप्त है। इस 'यक्ष' को ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं। देह पर्याय पुण्डरीक पद को यदि कार्यमात्र का उपलक्षण माना जाये तो यह समस्त जगत् सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणो का परिणाम सिद्ध होता है। फलत देह प्रतीक मे आत्मा (जीव-चेतन) के समान, अखिल ब्रह्माण्ड मे यह यक्ष (परमात्म-चेतन) व्याप्त है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्रो मे हमारे दार्शनिक सिद्धान्तो के मूल का सकेत उपलब्ध है। अखिल ब्रह्माण्ड के मूल उपादान सत्त्व-रजस्-तमस् के रूप मे प्रकृति का, भोक्ता आत्मा का और सबके नियन्ता परमात्मा का अस्तित्व ही भारतीय

दार्शनिक सिद्धान्त 'त्रैतवाद का मूल आधार है वैदिक सहितायें, छह वैदिक दर्शन, उपनिषद् आदि मिलकर इन्ही तत्त्वो का उपपादन करते हैं।

इन्ही तत्त्वो का एकत्र सर्वांगपूर्ण उपपादन एव क्रमबद्ध विवेचन करने वाले ग्रन्थ की आवश्यकता थी।

एक वर्ष से कुछ अधिक हो गया, अचानक एक दिन प० लक्ष्मीदत्त दीक्षित[1] प्राचीन सूत्रकार ऋषियो की शैली मे प्रस्तुत अपनी रचना लेकर मेरे निवास स्थान पर पधारे। उनके निर्देशानुसार उस रचना का जायज़ा लेकर उनसे निवेदन किया कि आप इसका नाम 'अनादि तत्त्व दर्शन' रक्खें।

ग्रन्थ के विषय एव उसके प्रतिपादन प्रकार आदि के सम्वन्ध मे अपने कुछ विचार दीक्षित जी के सम्मुख प्रस्तुत किये। उस सम्वन्ध का हमारा साधारण पत्र व्यवहार चलता रहा। कुछ मास के अनन्तर दीक्षित जी पुन पधारे। उस प्रथम रचना का उन्होंने आमूलचूल परिवर्तन कर दिया था, तथा सुझाये गये उक्त नाम के अनुरूप उसमे अनेक अपेक्षित विषयो का समावेश कर दिया गया था। रचना नाम के सतुलन मे अत्यन्त उपयुक्त है और अपने पेट मे तत्सम्बन्धी अनेक विषयो को समाये हुए है।

मूल रचना सस्कृत मे सूत्रात्मक है। कतिपय सूत्र, प्राचीन सस्कृत वाङ्मय से उठाकर अपेक्षित सन्दर्भ के रूप मे प्रस्तुत हैं। शेष समस्त सूत्र जिनकी सख्या

---

१. दीक्षित जी का नाम बहुत दिन से सुनता रहा हू। पूर्व सम्मिलित पजाब तथा वर्तमान मे हरयाणा-पजाव के शिक्षा केन्द्रो मे अध्यापन आदि कार्य करते हुए उनके विशिष्ट कार्य कलापो की जानकारी भी यदा-कदा मिलती रही है। उस ओर मेरे आकर्षण का विशेष कारण यह कहा जा सकता है, कि दीक्षित जी, मेरे एक छात्रावस्था के साथी अभिन्नहृदय मित्र [सप्रति दिवगत] श्री देवेन्द्रनाथ शास्त्री साख्यतीर्थ के दामाद हैं। उनका साक्षात् परिचय कुछ वर्ष पहले ही हुआ है, जब वे डी० ए० वी० कालिज पानीपत के प्रधानाचार्य पद से अवकाश प्राप्त कर दिल्ली मॉडल टाउन स्थित अपने मकान मे निवास करने लगे, तथा समय-समय पर आयोजित विभिन्न सभा सम्मेलन आदि प्रसगो मे उनके तर्कपूर्ण व स्पष्ट सवादो को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ मेरे इस नाते को दो वर्ष पहले तक वे विल्कुल नही जानते थे।

देवेन्द्र जी के परिवार के साथ मेरा गहरा आत्मीय सवन्ध रहा है। उनके पिता श्री मुरारिलाल शर्मा जी की प्रेरणा से ही मैंने अध्ययन के लिए गुरुकुल प्रणाली मे प्रवेश पाया। उस समय के अनेक सस्मरण ये पक्तिया लिखते हुए मस्तिष्क मे उछल-कूद मचा रहे हैं। बस, अधिक कुछ नही। पाठको से क्षमा प्रार्थी हूँ।

पर्याप्त अधिक है—दीक्षित जी की अपनी रचना हैं। आधुनिक काल मे इस प्रकार की सूत्रात्मक रचना, भारतीय इतिहास की पाश्चात्य रीति पर रचना करने वाले उन ऐतिहासिको के लिये खुली चुनौती है, जो मुहफट होकर यह कहते रहे हैं कि भारतीय इतिहास मे एक विशिष्ट काल ऐसा रहा है, जब सूत्रात्मक रचना होती रही है। वस्तुतः सूत्रात्मक रचना का कोई काल विशेष निमित्त नही है। यह केवल लेखक या ग्रन्थ निर्माता की अपनी रुचि पर निर्भर करता है, वह अपनी रचना को क्या रूप देना चाहता है। रचना काल मे उसकी उपयोगिता का सवाल भी ग्रन्थकार के सामने होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दीक्षित जी के विस्तृत अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और अध्यवसाय का परिणाम है। नाम के अनुरूप तत्त्वो का विवरण रचना मे कहां तक सम्पन्न हुआ है, सुविज्ञ पाठक स्वय ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ कर इसकी परीक्षा कर सकेंगे। रचना के लिए दीक्षित जी को हार्दिक बधाई।

श्रावण शुक्ल पञ्चमी [नाग],
स० २०३६,
ता० २६।७।१६७६,
रविवार,

उदयवीर शास्त्री
सन्यास आश्रम, गाजियाबाद

प्रस्तावना

साधारणतया हमारी यह मान्यता है कि केवल मनुष्य की यह गरिमा है कि जीवन-चर्य्या की साधारण बातो को छोडकर वह गम्भीर प्रश्नो का प्रस्तोता भी बने और स्वय उठाये हुए प्रश्नो पर यथाशक्य विचार भी करे। इस बात मे वह अन्य पशुओ से भिन्न है। मनुष्य के परिवार मे रहने वाले ग्राम्य-पशु, अश्व, गो, अज और अवि, नितान्त मूर्ख हैं, किन्तु भावुक इतने हैं कि मनुष्य के प्रति उनका सौहार्द्र है, और मनुष्य के सम्पर्क मे आकर वे कुछ सीख भी जाते है, और इसका परिणाम यह हुआ है, कि ये पशु मनुष्य की स्वार्थ सिद्धि का अभिन्न अग बन गए हैं। बैल रथो मे जोता जाता है, कोल्हू मे भी नाथा जाता है, गाय बडे प्यार से मनुष्य के परिवार के सकेतो को समझती है, घोडे को युद्धकला की वहुत सी बातें आ जाती हैं, कुत्तो और हाथियो को वहुत कुछ मनुष्य सिखा डालता है। पालतू पशुओ मे सघठन का नितान्त अभाव सा है (स्वय चालित सघठन का अभाव, वैसे तो मनुष्य के सिखाये गए सघठन के अनुशासन मे वे रह लेना सीख लेते हैं)। ग्राम्य पशुओ के अतिरिक्त जो पशु कीट-पतग हैं वे अधिक कामकाजी हैं—मकडी जाला बुन लेती है (किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह जाला बुनना उसका अपना आविष्कार नही है, और न जाला वुनने की कला वह किसी शिक्षक से सीखती है)। मधुमक्खी छत्ता वनाती, और फूलो से पराग लाकर उससे मोम और मधु पृथक् करती है (किन्तु छत्ते का वनाना, और पराग से मधु और मोम का पृथक् करना मक्खी का अपना आविष्कार नही है)। केवल मनुष्य है जो प्रश्नो को उठाता है, उनका समाधान करता है, अपने इन समाधानो को आगे की सन्तति के लिए छोड जाता है, और आगे की यह सन्तान उन प्रश्नो को फिर नये ढंग से सोच सकती है और नये समाधान ढूढ सकती है। मनुष्य के द्वारा प्रस्तुत ये प्रश्न और उसके ही द्वारा दिए गए समाधान मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को निरन्तर प्रभावित करते रहे हैं, और आज जो कुछ भी हम हैं, वह इस परम्परा के परिणाम हैं।

अत चार बातें स्पष्ट हैं, जिसका साक्षी हमारा इतिहास है—(१) प्रश्न प्रस्तुत करने की आकांक्षा और क्षमता मनुष्य योनि की सदा से एक विशेषता रही है। (२) इन प्रस्तुत प्रश्नो पर विचार करने की क्षमता मनुष्य मे है। (३) विचार करने के अनन्तर जो समाधान मनुष्य ने उपलब्ध किए उनसे उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन भी प्रभावित होता रहा है। (४) मनुष्य को किसी प्रश्न का भी पूर्ण समाधान अभी तक प्राप्त नही हुआ, और इस

परम्परा मे वह स्थूल समाधानो से सूक्ष्म समाधानो की ओर बराबर अग्रमित होता रहा है।

इसमे सन्देह नही कि मनुष्य ने कौतूहलवश जिन प्रश्नो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और उन प्रश्नो के जो भी समाधान प्राप्त किए वे मानवीय थे—प्रश्न भी मानवीय और समाधान भी मानवीय। प्रश्नो और समाधानो का केन्द्र सदा मानव स्वय रहा है—वह कौन है ? कहा से आया, कैसे आया, कब आया, क्यो आया, उसे कौन लाया, उसके अतिरिक्त और कौन है, और उससे उसका क्या सम्बन्ध है ? कौन सी वस्तु, कौन सी क्रिया, कौन सी स्थिति उसके लिए प्रिय है, शिव है, सुखद है, अप्रिय है, अभद्र है या दु खद है ? कौन उसका मित्र है, कौन उसके लिए बाधक है ?—मानो समस्त सृष्टि का और समस्त प्रश्नो और समाधानो का केन्द्र वही हो !! उसने अपने लिए मानो इस सत्य का अन्वेषण किया हो, कि इस चराचर जगत् मे जो भी कोई क्रिया है, उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध इस मनुष्य से ही है।

अत. समस्त तत्त्वज्ञान का मूलबिन्दु या केन्द्र मनुष्य स्वय है। इसी का नाम अस्मद् है। पारस्परिक सम्बन्ध से अस्मद् ही युष्मद् है। तुम अपने लिए अस्मद् हो और मेरे लिए युष्मद्। मैं तुम्हारे लिए युष्मद् हू, अपने लिए अस्मद्। दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वप्रथम आविष्कार यह रहा होगा कि युष्मद् और अस्मद् पृथक्-पृथक् होते हुए भी सजातीय हैं। मधु की एक बूद मैंने अपनी जिह्वा पर रक्खी, वह मुझे जैसी लगी, उसे मैंने मीठा (मधुर) कहा। तुमने भी मधु की बूंद अपनी जीभ पर रखी, तुम्हे भी वह कुछ लगी होगी ! हम तुम दोनो सजातीय हैं, अत तुम्हे भी मधु बिन्दु जैसा प्रतीत होता होगा उसकी भी सज्ञा मीठा (मधुर) है।

श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जैसा मुझे सुनायी पडता है, वैसा ही तुम्हे सुनाई पडता होगा, ऐसी यथार्थ कल्पना सजातीयता के आधार पर ही तो है। जिस ध्वनि को मैं क, ख, ग कहता हू, वह ध्वनि तुम्हारे लिए भी क, ख, ग है, अगर यह रहस्य सिद्ध अनुभव न होता तो हम भाषा को विचारो के आदान-प्रदान का माध्यम बना ही न सकते।

अस्मद्-युष्मद् वाली सजातीयता का मैंने अभी उल्लेख किया। उसी प्रकार की, किन्तु उससे भिन्न, तद्—समुदाय की सजातीयता भी है। मधु का जो बिन्दु मैंने चखा, ठीक वही बिन्दु तो आपने नही चखा। बिन्दु अनेक थे, कुछ आपने चखे और कुछ मैंने। अनेकता या सख्या की दृष्टि से प्रत्येक बिन्दु अलग-अलग है, किन्तु इन बिन्दुओ की भी सजातीयता है, जिसके कारण हमने मधु समुच्चय को भी मीठा कहा। मधु की बूद नहीं जानती कि वह मीठी है, एक बिन्दु और दूसरे बिन्दु में अस्मद्-युष्मद् सबंध नहीं है, जैसाकि मुझमे और आपमे है, किन्तु हमे जिस प्रेरणा से अस्मद्-युष्मद् की अनुभूति होती है, उसी

अलौकिक प्ररणा से मधु विन्दु मे तद्-भाव की भी प्रतीति होती है। अस्मद्-युष्मद् मे सजातीयता है, किन्तु तद् अस्मद्-युष्मद् से सर्वथा भिन्न है, विजातीय है।

इस सृष्टि मे अस्मद्-युष्मद् परम यथार्थ है, और तद् भी यथार्थ है। परमार्थ जगत् और व्यवहार जगत्—इस प्रकार के दो जगतो की कल्पना करके आप इस यथार्थता की उपेक्षा नही कर सकते। अस्मद् एक है और युष्मद् असख्य है, दोनो सजातीय होते हुए भी व्यक्ति रूप मे पृथक्-पथक् है। दोनो मे जहाँ वहुत कुछ सामान्य है, वहा प्रत्येक युष्मद्-अस्मद् की अपनी विशेषताये भी हैं। ये विशेषतायें अनादि काल से चली आयी हैं, और अनन्त काल तक रहेगी। यह विशेष व्यक्तित्व भी परम यथार्थ है, काल्पनिक नही, व्यवहार जगत् का ही नही, मोक्ष मे भी हमारा साथ नही छोडेगा। जहा जीवन-मृत्यु का एक परिचित चक्र है (दिन-रात के चक्र के समान), वहाँ वन्ध-मोक्ष का भी एक चक्र है, जो प्रवाह से अनादि है। दो वन्धो के बीच मे एक मोक्ष है, और दो मोक्षो के वीच मे एक वन्ध है, और यह क्रम चलता ही रहेगा। प्रवाह से अनादि होने के कारण इम चक्र का अन्त होना सभव नही और पूछना भी भूल होगी कि हमको किसने वन्ध्र मे डाला। यह वन्ध और मोक्ष हमारी स्वाभाविक प्रकृति है, यह हमारा यथार्थ इतिहास है जिसे लेकर हम अनादि काल से चले आ रहे हैं, और अनन्त काल तक चलते जावेंगे।

निश्चय ही तत्त्वज्ञान का केन्द्र विन्दु मैं या अस्मद् है। यह अस्मद् ज्ञाता भी है और जव अपने सवध मे स्वय ऊहायें उपस्थित करने लगता है तो यह ज्ञाता और ज्ञेय दोनो ही वन जाता है। सामान्य तर्क शास्त्र की दृष्टि मे एक समय ही कोई ज्ञाता और ज्ञेय दोनो नही हो सकते। किन्तु यह तर्क तो साधारण तर्क शास्त्र का है, जिसकी सहायता से हम दूसरो के सम्वन्ध मे जानने का कुछ प्रयास कर सकते है। तर्क तो यह भी किया जा सकता है कि जो अपने को नही जान सकता है, वह दूसरे को कैसे जानेगा। यह तर्क नही तर्काभास है। कभी-कभी हम यह भी कह सकते हैं कि अपने से इतर विषय का ज्ञान उपलव्ध किया जाता है, किन्तु अपनी अनुभूति होती है। स्व का ज्ञान वहिर्ज्ञान से भिन्न है, दोनो ज्ञानो के साधन भी भिन्न हैं, और उनकी प्रक्रियायें भी भिन्न हैं। स्व के ज्ञान के निमित्त न तो इन्द्रियो की आवश्यकता होती है, न मानस तन्त्र की और न भाषा की। किन्तु जब यह ज्ञान दूसरों के प्रति व्यक्त किया जाता है, तो उसे हम उसी माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, जिस माध्यम के हम अभ्यस्त हैं। इस व्यक्तिकरण मे हम थोडा ही सफल हो पाते हैं, वहुधा हमारी भाषा आलकारिक ही रह जाती है। रूप, रस, गन्ध आदि को भी दूसरो के प्रति व्यक्त करना सरल नही है, और ऐसी स्थिति मे हम स्वय क्या हैं, इसे व्यक्त करना अतिकठिन है (स्यात्, हम गिनाते जावें कि हम क्या

सत्य है, (३) जिसने शरीर रचना की है, उसी ने सृष्टि की रचना भी की है, (४) सृष्टि रचयिता ने कोई भी रहस्य छिपा कर नही रक्खा। उसकी परम अभिव्यक्ति उसकी रचना मे है। (५) यह अभिव्यक्ति ही ऋत और सत्य है, इन ऋतो को जान लेने की वहुत कुछ क्षमता मनुष्य मे है। (६) ज्यो-ज्यो मनुष्य इन ऋतो अर्थात सृष्टि-अनुगत शाश्वत नियमो को समझता जायेगा, उमे प्रभु और उसकी रचना से प्रेम वढता जायेगा। (७) ऋतो के तत्त्व ज्ञान से मनुष्य अपने और अपने समाज के वैभव को वढा सकता है—अपनी सभ्यता और सस्कृति को विकसित कर सकता है। (८) सभ्यता और सस्कृति का विकास कोई पापाचार नही है, प्रत्युत लोक कल्याण की भावना मे किये गए प्रयास मनुष्य को अभ्युदय और नि श्रेयस की ओर प्रेरणा देने वाले होते हैं।

यह है पुरुपार्थमय जीवन का यथार्थ दर्शन जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनो का कल्याण हो सकता है। इसी का प्रतिपादन चारो वेदो मे है, उपनिषदो मे है और हमारे षड्दर्शन मे है। चारो वेदो मे से कोई वेद नीचा या ऊँचा नही, ग्यारह उपनिषदो मे से कोई भी उपनिषद् कम या अधिक प्रामाण्य नही, और उसी प्रकार षड् दर्शनो मे से कोई भी दर्शन निम्नकोटि का या उच्चकोटि का नही है। हमारे दर्शन शास्त्र, हमारी उपनिपदें और हमारी वैदिक सहितायें जगत् को व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् इस प्रकार के दो विभाजनो मे विभक्त करना स्वीकार नही करती।

न ससार क्षणभगुर है, और न हमारे जीवन की आयु ही सीमित है—प्रवाह से अनादि इस ससार मे अनन्त जीवन—प्राप्त हम अनन्त मार्ग के पथिक है—अणुमात्र सत्ता का व्यक्तित्व लिए हुए अपने अल्प सामर्थ्य के साथ जन्म-मृत्यु, और वन्ध और मोक्ष—इनके चक्रो मे सदा से घूम रहे हैं, और सदा घूमते रहेगे। हममे से वहुतसो को अपनी इस स्थिति से सन्तोप नही है। किन्तु स्थिति तो यथार्थ मे यही है। सन्तोष न होने से स्थिति वदल जाय, यह तो कोई तत्त्व ज्ञान नही है। यथार्थता क्या है, इसका पता चल जाय, यही तत्त्वज्ञान है। हम अल्पशक्तिक अणुमात्र सत्ताओ के लिए अनन्त काल के मोक्ष या अपवर्ग का कोई अर्थ नही, जहाँ हमारी अल्पज्ञता सर्वज्ञता मे परिणत हो जाय, जहाँ अल्पभोक्तृत्व की स्थिति अनन्तराशि के आनन्द से प्रतिस्थापित हो जाय, और हम भी "जगत्या जगत्" के स्वामी वन जाय, इस चराचर जगत् के रचयिता वन जाय, दूसरो के जीवन की व्यवस्था के निर्णायक हो जाय। वह हमारा प्रभु ही "पतिरेक आसीत्"—एक मात्र स्वामी रहा है, और रहेगा, वही हमारे कर्मो का एक मात्र ज्ञाता रहा है, और इसी एक का आशीर्वाद हमे प्राप्त करना है। हममें से कोई भी व्यक्ति अपने लघु जीवन के चरमोत्कर्ष मे भी ब्रह्म वनने की कल्पना नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति ब्रह्म वनता नही है, जो वस्तुत ब्रह्म है, वह स्वभावत ब्रह्म है,—जो ब्रह्म कभी न था, जो ब्रह्म नहीं है, वह कभी भी

ब्रह्म नही बनेगा। ब्रह्म को न अध्यास होता है, न वह **अविद्या या भ्रम** मे पड कर **जीव** बन जाता है, और न वह माया से ग्रसित होकर ईश्वर की उपाधि ग्रहण करता है, वह जो है, सो है, और वह क्या है, यह भी स्पष्ट है—सृष्टि का रचयिता है (**जन्माद्यस्य यतः**), और जो रचयिता होता है, वही उसका पालक और पोषक है, और वही सृष्टि का उपसहार करता है, और जो यह काम कर सकता है वही **शास्त्र की योनि** (**शास्त्रयोनित्वात्**) है, ज्ञान और जो पदार्थ ज्ञान से जाने जा सकते हैं, उनका आदि मूल है। वह मेरा प्रभु **स्वभाव** से ऐसा है—यही उसका बडप्पन है और इसीलिए वह ब्रह्म और बृहत् है, बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति है।

हमे अच्छा लगे या न लगे, हमारे आत्माभिमान को ठेस ही क्यो न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है, कि हम ब्रह्म नही हैं, और न कभी ब्रह्म हो सकेंगे। हम अणु और परिच्छिन्न ही रहेगे—अपने चरमोत्कर्ष के समय भी—**अमृत**—अवस्था प्राप्त करने के अनन्तर भी। हम ज्ञान, कर्म सामर्थ्य और आनन्द तीनो की दृष्टि से अणुमात्र ही रहेगे। इस स्थिति को समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है, और वैदिक दर्शन है—ब्रह्म का साहचर्य हमे मिलेगा, हम उसके प्रियतम परिवार के अग बन जायेंगे, उसके आनन्द मे विभोर होकर अपनी सुध-बुध खो बैठेंगे, हमारे लिए उस चरमोत्कर्ष की स्थिति मे न कुछ जानने को शेष रहेगा, और न कुछ करने को। ज्ञान और कर्म दोनो का परमात्मा के आनन्द मे विलय हो जायेगा। न कोई हमे देखेगा, न हम किसी को देखेंगे—ससार ज्यो का त्यो चलता रहेगा, पर हम उससे विरक्त रहेगे। न इन्द्रियाँ होगी, न तनु होगा, न कुछ द्रष्टव्य होगा और न कुछ मन्तव्य। हम होगे और हमारा प्रभु होगा, वही हमारे लिए द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासतव्य होगा और ऐसी अवस्था मे हमे अपनी सत्ता का भी बोध नही रह जायेगा—उत्तरतः आत्मा, दक्षिणत आत्मा, पुरस्ताद् आत्मा, पश्चात् आत्मा, उपरिष्ठात् आत्मा, अधस्ताद् आत्मा—सब ओर आत्मभाव होगा। उसी के साथ खेलेंगे—खेलते-खेलते उसी मे सुध-बुध खो बैठेंगे। प्रियतमा के साथ किल्लोल करते समय जो रति भाव होता है, उस भाव से इसकी थोडी सी तुलना की जा सकती है, पर इस भाव की भी चरम सीमा इस स्थिति मे होगी। यह स्थिति असख्यो मे से किसी एक को कभी प्राप्त होती है, किन्तु निराश नही होना चाहिए, हमारी जैसी सभी अणु सत्तायें अपने अनन्त जीवन काल मे न जाने कितनी बार **मुक्त** हो चुकी हैं, और आगे होगी भी। इस वर्तमान बन्धन से पूर्व न जाने कितनी बार हम मुक्त रह चुके हैं, और न जाने कितनी बार हम फिर मुक्त होगे। कोई भी बद्ध जीव ऐसा नही है, जो पहले कभी मुक्त न था, और न कोई ऐसा मुक्त अभी है, जो मुक्ति की अवधि समाप्त करके बद्ध जीवन मे नही आवेगा। मुक्ति के बाद बन्धन और बन्धन के बाद मुक्ति, यह श्रृखला बराबर चलती रहेगी।

नही हैं, यह अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ी अभिव्यक्ति होगी)। किन्तु हमारी स्व-सत्ता हमारे लिए भी और दूसरो के लिए भी प्रमाण की अपेक्षा नही रखती। मैं हू, इसमे मुझे सन्देह नही, आप भी है, इसमे मुझे सन्देह नही। आपको भी मेरी सत्ता के सम्बन्ध मे सन्देह नही है। मैं क्या हू और आप क्या हैं, यह न भी जानते हुए, मैं यह स्वीकार करता हू, कि मैं भी हू और आप भी हैं। मेरी आयु इस समय ७४ वर्ष की है। अपनी सत्ता के सम्बन्ध मे मुझे सन्देह नही हुआ, और न मुझे इस बात मे सन्देह हुआ, कि सत्ता की दृष्टि से १९७९ मे मैं वही व्यक्ति हू जिसने १९२१ मे मैट्रिकुलेशन की परीक्षा उत्तीर्ण की, या जिसने १९३२ मे डाक्टर की उपाधि प्राप्त की, या जो १९६७ मे यूनिवर्सिटी सेवा से मुक्त हुआ, या जो १९७१ मे सन्यासी बना। किसी मूर्ख दार्शनिक को तो इसमे सन्देह हो सकता है, किन्तु डाकखाने के कर्मचारियो को, बैंक के अधिकारियो को, बीमा कम्पनी के सचालको और मेरी मित्र मण्डली को या सम्बन्धियो को कभी इस बात मे सन्देह नही हुआ। मेरे शरीर के कण-कण बदल गए, और शरीर मे न जाने कितनी विध्वसकारी प्रतिक्रियायें हुई (अप-चयन-उपचयन की, विघटन और सघठन की), सब कुछ बदला पर अपनी दृष्टि मे और दूसरो की दृष्टि मे मैं वही सत्ता बना रहा जो १९०५ मे था। रूप बदला, नाम भी बदल सकता था, किन्तु नाम रूप से भिन्न जो मैं था, उसकी सत्ता मे न मुझे सन्देह हुआ और न अन्यो को जो मेरे सम्पर्क मे अब तक भी आये।

क्या मैं शरीर से भिन्न कोई सत्ता हूँ? क्या आप भी अपने शरीर से भिन्न कोई सत्ता हैं? मैं स्वत तो यह अनुभव करता रहा कि मैं शरीर मे तो हूँ—शरीर मेरा है, अर्थात् शरीर मेरे लिए है, जिसके द्वारा कुछ सीमित काम मैं कर सकता हूँ किन्तु मैं शरीर से पृथक हूँ, अवश्य। शरीर के सघात मात्र से उत्पन्न मैं कोई सत्ता नही हूँ। लोगो ने बडी चेष्टा की कि यह सिद्ध हो जाय कि मेरी चेतनता जड पदार्थों से प्रसूत एक विशिष्ट चेतना मात्र है। तरह-तरह के उदाहरणो से यह समझाने का यह प्रयत्न भी किया गया, कि मेरी चेतना किसी जैव-रासायनिक या भौतिक क्रिया का परिणाम है—पर ये कल्पनायें दुरूह कल्पनायें ही रही हैं। प्रत्येक प्रश्न के कई उत्तर हो सकते है, पर वैज्ञानिक पद्धति तो यह है कि अनेक उत्तरो मे जो अल्पतम जटिल हो उसे स्वीकार किया जाय। मनुष्य ने जीवन तथ्यो को बहुत कुछ समझने का प्रयास किया है, और उसकी उपलब्धियाँ भी बहुत रही हैं, किन्तु वह अभी साध्य प्रश्नो के पृष्ठ पर ही मानो खेल रहा है, गहराई मे प्रवेश भी नही कर पाया है।

हमने शरीर के जिस अश को थोडा बहुत समझा है, वह अतिस्थूल है। अन्नमय कोश के हम अश नही हैं, प्राणमय कोश की भी हम सत्ता नही हैं, मनोमय कोश को हमने समझा ही नहीं है, और आनन्दमय और विज्ञानमय

कोश की सरचना के सम्बन्ध मे हम नितान्त मूर्ख है। इन कोशो के बनाने वाले हम नही हैं–हमने तो किसी से पाये है। उनका उपयोग कुछ सीमा तक हम करते है, किन्तु किस प्रकार इस उपयोग के करने मे हम सफल होते है, इसका हमे ज्ञान भी नही है। किन्तु इतना सब होते हुए भी हम यह मानने को तैयार नही हैं कि शरीर के मरने से हम मरते हैं, और शरीर के बन जाने पर हम स्वत बन जाते हैं। है तो कुछ उल्टा ही। माता के गर्भ मे (या पिता के गर्भ मे) आने पर हमारा शरीर बनने लगता है, किन्तु हम इस शरीर को बनाने वाले नही हैं। यह शरीर यथार्थ है, कल्पना या मिथ्या नही है, प्रयोजन से सम्पन्न है। यथार्थ शरीर न स्वय बनता है, न हम इसे बनाते हैं। कोई है अवश्य जो हमसे भिन्न है, हमसे अधिक समझदार है, जिससे हमारा निकट का सम्बन्ध है, और जिसे विशाल जगत् का परिचय है। उसकी व्यवस्था से माता के गर्भ मे मेरा शरीर बना (गर्भ की अधेरी कोठरी मे उसकी व्यवस्था ने मेरी आँखें बनायी जिनमे दूरस्थ सूर्य और तारो को देखने की क्षमता विकसित हुई। गर्भ मे ही उसने मेरी नासिका बनायी, जिससे मैं गुलाब-चमेली के फूलो की गन्ध सूँघ सकूँ, और उसी गर्भ मे उसने मेरे मुख के भीतर, जब कि मुख खुला भी न था, ऐसी जिह्वा बना दी जिससे मैं शक्कर का मिठास अनुभव कर सकूँ–उस शक्कर का जो गन्ने के भीतर बन रही है–मुझसे कही दूर किसी खेत मे। अतः स्पष्ट है कि मेरे शरीर को व्यवस्थित करने वाला कोई वह है, जिसे सृष्टि का ज्ञान है, और जो दूरस्थ प्रदेशो मे सृष्टि की व्यवस्था को चला रहा है। मेरे शरीर से सामञ्जस्य रखने वाले इस समस्त जगत् को मिथ्या, काल्पनिक, अध्यास या व्यवहार मात्र का मानना एक ऐसा तथ्य है, जो कतिपय विद्वानो को कितना ही मुग्ध करने वाला क्यो न हो, यथार्थता और सत्य से बहुत ही दूर है।

जादू–चमत्कारो मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति सभवतया इस ससार को किसी मायावी की लीला मान सकता है। सृष्टि के रगमच पर खेल मात्र करने वाले हम खिलाडी नही है जो आवागमन के चक्र मे ग्रसित है। हमारे जीवन का एक महान् प्रयोजन है, जिसमे हमे कुछ बनना है,–किसी ओर जाना है और जिसमे किसी अदृष्ट शक्ति से प्रेरणा भी मिल रही है। इसी प्रकार की आस्तिक आस्था रखने वाला व्यक्ति जीवन के उन रहस्यो को समझने का भी अधिकारी बन सकता है, जो रहस्य हमारी समझ मे नही आ रहे हैं। ससार को स्वप्न या मिथ्या समझने वाले व्यक्ति के लिए तत्त्व ज्ञान या विज्ञान का कोई अर्थ नही। मनुष्य सृष्टि के आरम्भ से ही वैज्ञानिक और तत्त्वदर्शी था। पिछली तीन शतियो मे उसने अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की विलक्षण अभिवृद्धि की। यदि ससार को स्वप्न, मिथ्या, अस्तित्वरहित या अध्यास मानता रहता, तो उसे उस यथार्थता से लाभ न हो पाता जो कुछ तथ्यो पर निर्भर है–(१) ससार सप्रयोजन और सत्य है, (२) मनुष्य और उसका पचकोशमय शरीर भी सप्रयोजन और

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुव जन्म मृतस्य च"—गीता का यह वाक्य एक लघु-सत्य है, इससे भी अधिक व्यापक सत्य यह है—बद्धस्य हि ध्रुवा मुक्ति ध्रुव बन्ध हि मुक्तस्य। अर्थात् जहा यह एक यथार्थता है, और वैदिक आस्थाओ की विशेषता, कि जो पैदा हुआ है वह मरेगा, और जो मरेगा, वह फिर पैदा होगा, उससे भी बढकर यह निष्कर्ष है, कि "जो आज बद्ध अवस्था मे है, वह कभी न कभी मुक्त अवश्य होगा, और जो मुक्त अवस्था मे है, वह कभी न कभी आगे चलकर फिर बद्ध अवस्था मे आवेगा।" जीवन की यथार्थ प्रयोजनता इसी सत्य मे चरितार्थ होती है।

सत्ता मे यथार्थ एव विस्तार, ज्ञान, आनन्द और कर्म मे अनन्त—ऐसी सत्ता का नाम ब्रह्म, ईश्वर, प्रजापति, प्रभु, इन्द्र आदि हैं। सत्ता में यथार्थ, विस्तार मे अपरिमित किन्तु ज्ञान, आनन्द, और कर्म मे स्वय शून्य—ऐसे तत्त्व का नाम प्रकृति और सत्ता मे यथार्थ और विस्तार, ज्ञान, आनन्द और कर्म मे अल्प या अणु ऐसे तत्त्व का नाम जीव, पुरुष या आत्मन् है—ब्रह्म मे अनन्त विस्तार, अनन्त ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त आनन्द होने के कारण इसे परम पुरुष, परमेश्वर, परमात्मन् भी कहते हैं। तीनों स्वभाव मे ऐसे हैं—सदा से ऐसे ही और सदा ऐसे ही रहेगे। ब्रह्म ने अल्पज्ञान वाले जीव की सृष्टि नही की है। जैसे ब्रह्म स्वभाव से सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है और प्रकृति स्वभाव से अज्ञ है। वैदिक दर्शन का यह आधारभूत सिद्धान्त है, और यही परमज्ञान है। इन तीनो मे से किसी एक सत्ता के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार न करना हेत्वाभास मात्र है।

नास्तिकता का वाद उतना ही पुराना है जितना आस्तिकता का, किन्तु ससार के महान् प्रश्नो की जितनी सुगम और सरल व्याख्या आस्तिकवाद (और त्रिसत्तावाद) से हो सकती है, उतनी अन्य किसी वाद से नहीं। विज्ञान के क्षेत्र मे एक यह सर्वमान्य नियम रहा है कि यदि किसी घटना की व्याख्या एक से भिन्न अनेक प्रकारो या पद्धतियो से हो सकना सभवनीय हो, तो उन सब मे से उस व्याख्या को स्वीकार किया जाय जो सरलतम और सुगमतम है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने सृष्टि रचना के क्रम को समझने के लिए कई आस्थायें प्रकट कीं, साख्य के आचार्य ने भी अनेक प्रतिपत्तियो की सभावना पर विचार किया, किन्तु प्रकृति और पुरुष की सत्ताओ को स्वीकार किये बिना कोई सरल मार्ग प्रतीत नही हुआ। ससार के अस्तित्व, उसके विकास और ह्रास (उसके भू और भुव) और उसके प्रयोजन की व्याख्या करनी हो, तो न तो विशुद्ध अद्वैतवाद मे काम चलेगा, और न विशुद्ध शून्यवाद से। न तो शून्य से और न एकत्व मे बहुत्व की व्याख्या हो सकती है। शून्यत्व और एकत्व कल्पनामात्र की सत्ता है—काल्पनिक इतिहास भी प्रारम्भ मे शून्य या अथवा प्रारम्भ मे विशुद्ध एक था—यह इतिहास की ही तो बात है, जिसका पता लगाना

हमारे और आपके लिए प्रश्नचिह्न ही बना रहेगा। अन्त मे, आगे किसी दूर भविष्य मे फिर सब एक ही रह जाएगा, अथवा सब शून्य मे विलीन हो जायेगा यह भी भविष्य के इतिहास की दुरुह कल्पना है। ससार के वर्तमान मे **बहुत्व** ही यथार्थ है। इस बहुत्व को हम अस्वीकार नही कर सकते। व्याख्या का विषय भी यही बहुत्व है। इसी बहुत्व की उत्पत्ति की हमे व्याख्या करनी है। **एकोऽहं बहुस्याम** (अल्प या अल्पतम से बहुत्व की सृष्टि हो जाना) यही तो मीमासा का विषय है। कितनी ही कल्पना आप क्यो न करें—बहुत्व की उत्पत्ति न तो **शून्य** से हो सकती है, और न एक से, और बहुत्व की सृष्टि की **प्रयोजनता** तो शून्यवाद या अद्वैतवाद के आधार पर अभिव्यक्त की ही नही जा सकती। इस दिशा मे साख्य का "**संहत परार्थत्वात्**" सूत्र ही हमारे मार्ग का निदेशन कर सकता है। आज का वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करता है कि समस्त सृष्टि किसी महान् अतिव्यापक सूत्र मे ग्रथित है—और यह चराचर सृष्टि **निष्प्रयोजन** नही है। यह सृष्टि न माया है, न धूल है, न अपनी सत्ता मात्र के लिए है, और हम आस्तिक तो यह भी मानते हैं, कि सृष्टि के निमित्त कारण (परम निर्माता) ने यह सृष्टि अपने आमोद-प्रमोद के लिए भी नही बनायी—इसकी रचना मे **आत्मतुष्टि** उसका ध्येय नही था।

विज्ञानवाद, शून्यवाद और अद्वैतवाद इस सृष्टि की व्याख्या करने मे असमर्थ रहे हैं। शून्यवाद और विज्ञानवाद को ही उपनिषदो की काव्यमय सूक्तियो से अलकृत करके शकरस्वामी ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया अन्यथा उनका अद्वैतवाद बौद्धो के शून्यवाद और विज्ञानवाद से बहुत भिन्न नही है। विज्ञानवाद और शून्यवाद नास्तिको के दर्शन हैं और अद्वैतवाद भी तो नास्तिकतावाद का ही एक मोहक रूप है। यदि आइन्स्टाइन के सापेक्षता-वाद को पुराने आचार्यों ने सुलझे ढंग से समझा होता, तो न तो शून्यवाद की आवश्यकता रहती और न अद्वैतवाद की। सापेक्षतावाद ससार को मिथ्या नही मानता, सापेक्षता से उत्पन्न घटनाओ की नियन्त्रित रूप से यह व्याख्या करता है। सापेक्षता एक प्रकार का **समवाय** सबध है, जो उतना ही महत्व का है जितना कि निमित्त कारणत्व और उपादान कारणत्व। **समवाय** यथार्थता है, इसके सचेष्ट होने के भी **नियम** हैं। इसकी अनिर्वचनीयता भी वैज्ञानिक अनि-र्वचनीयता है जिसे गणित के सूत्रो मे व्यक्त करने का प्रयास किया जा सकता है, और प्रयास करना भी चाहिए। गणित के ये सूत्र यथार्थता की दिशा मे हमे प्रेरित करते हैं। वैज्ञानिक दर्शन इस प्रकार यथार्थता का दर्शन है।

वैदिक दर्शन समझने के लिए श्रुति को और सृष्टि को दोनो को समझना परमावश्यक है, इसीलिए वैदिक अध्ययन के निमित्त वेदाग और उपवेदो का ज्ञान आवश्यक हुआ। सीमित क्षेत्र मे इसी तत्त्वज्ञान के अनुशीलन के निमित्त ऋषियो ने उपनिषदो की रचना की। चारो सहिताओ का तत्त्वज्ञान एक ही है,

रस्पर विरोधी नहीं, यह बात इस सकेतमात्र से स्पष्ट हो जाती है, कि हमारी समस्त उपनिषदें वेद की किसी न किसी शाखा से सबध रखती हैं–ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद से, मुण्डक और प्रश्न अथर्ववेद से, ईश और बृहदारण्यक यजुर्वेद से, केन और छान्दोग्य सामवेद से। शकर, रामानुज, वेदव्यास आदि आचार्य सब इस बात मे एकमत हैं–कि सभी उपनिषदें एक ही तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करती है और एक सी ही प्रामाणिक है। समन्वय बुद्धि से उपनिषदो को पढा जाय तो वेदो मे भी समन्वय बुद्धि उत्पन्न होगी। वेदो मे समन्वय बुद्धि उत्पन्न हो जाए तो उपागो (षड्दर्शनो) मे समन्वय बुद्धि उत्पन्न हो जायगी–न्याय-वैशेषिक, साख्य–योग और दोनो (अर्थात् उत्तर और पूर्व) मीमांसायें, सभी दर्शन एक ही तत्त्वज्ञान के प्रतिपादक हैं। न्याय-वैशेषिक हीन श्रेणी का तत्त्वज्ञान है और उत्तर मीमासा (वेदांत दर्शन) उच्चतम तत्त्वज्ञान है, यह आस्था समन्वयात्मक भावना के सर्वथा विपरीत है। साख्य को नास्तिक मानना, योग के ईश्वर को पुरुषविशेष की संज्ञा देकर तिरस्कृत करना, न्याय के तर्क शास्त्र को तत्त्वज्ञान के लिए भ्रमात्मक या अविश्वसनीय मानना, वैदिक दर्शन की यथार्थता के विरुद्ध है।

षड्दर्शन समन्वय पर भी इधर कतिपय आचार्यो ने काम किया है। श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित का प्रस्तुत ग्रन्थ **अनादि तत्त्व दर्शन** इस दिशा मे बड़ा ही सुन्दर प्रयास है। कतिपय स्थलो पर श्री दीक्षित जी ने षड्दर्शनो मे से सूत्र लेकर उन्हे नये ढग से सजाया है। शृखला न टूटे, तर्क स्पष्ट भासित हो, इस दृष्टि से योग्य लेखक ने अपने रचित नये सूत्र दिये हैं–इन सूत्रो से ग्रथ का गौरव बढ़ा है। कुछ ऐसे विषयो को भी विस्तार से इस ग्रन्थ मे समाविष्ट किया गया है, जो साधारणतया दर्शन शास्त्र की कोटि मे नही आते (जैसे प्रतीकोपासना, अवतारवाद आदि), किन्तु आजकल के युग में इन पर विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है, क्योकि जनता पर इन अन्धविश्वासो का कुत्सित प्रभाव उत्तरोत्तर बढता जा रहा है।

दीक्षित जी ने समस्त सूत्रो पर स्वय भाष्य भी किया है। भाष्य में दिए गए प्रमाणो और युक्तियो से ग्रन्थ की श्रेष्ठता बढ गयी है। भारतीय दर्शन में रुचि रखने वाले सभी विद्वानो के लिए यह ग्रन्थ लाभकर होगा, इस विश्वास के साथ मैं योग्य लेखक को उनकी इस कृति पर बधाई दूगा। पाठको से मेरा आग्रह है, कि उनकी अपनी दार्शनिक आस्थायें चाहे कुछ भी हो, वे इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढें। उन्हें यह ग्रन्थ रुचिकर लगेगा और इसमे उन्हें ग्राह्य सामग्री उपलब्ध होगी। दार्शनिक उत्कण्ठा को हल्की सी नयी दिशा भी मिल गयी, तो लेखक का परिश्रम सफल हो जायगा।

बम्बई
२० जुलाई १९७९

सत्यप्रकाश सरस्वती

प्रकाशकीय

'अनादि तत्त्व दर्शन' ग्रन्थ के लिखे जाने पर इसके प्रकाशन की समस्या सामने आई। ग्रन्थ के लेखक प० लक्ष्मीदत्त दीक्षित ने अपना सकल्प प्रकट किया कि वे इसका प्रकाशन 'विरजानन्द वैदिक सस्थान' द्वारा कराना चाहते हैं। यह सम्पत्ति सस्थान की होगी, इसके मुद्रण, विक्रय आदि का सब प्रबन्ध वही करेगा।

सस्थान के प्रधान सचालक श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती का गत वर्ष देहावसान हो जाने से सस्थान की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नही रही है। उनकी उपस्थिति मे किसी भी उपयुक्त साहित्य के प्रकाशन के लिये कोई बाधा न रहती। दीक्षित जी के सकल्प को जानकर मैंने उनसे यह निवेदन किया।

इसकी यथार्थता को समझते हुए दीक्षित जी ने कहा—इसका आनुमानिक व्यय मालूम होना चाहिये, उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया जायगा। अपने अनुभव के अनुसार प्रकाशन सामग्री के बाज़ार भाव को देखते हुए, व्यय होने वाली आनुमानिक राशि का निर्देश कर दिया। साथ ही यह भी निवेदन किया कि बाज़ार मे आये दिन भाव ऊपर को ही चढते जा रहे है, इसका भी ध्यान रखियेगा। पुस्तक के प्रकाशित होने तक पाच चार महीने या और अधिक समय लग जाना साधारण बात है।

कुछ समय बाद दीक्षित जी ने शुभ समाचार दिया कि आर्य समाज पानीपत ने इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ पाच हज़ार रुपये देना स्वीकार कर लिया है। प्रारम्भ मे प्राप्त इस धन राशि के पूर्ण सन्तोषजनक होने के कारण तत्काल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रेस को दे दी गई, तथा कागज़ उपयुक्त परिमाण मे इकट्ठा खरीद कर प्रेस मे पहुचा दिया गया।

कालान्तर मे निम्न निर्दिष्ट धन राशि भी पुस्तक प्रकाशन के लिए प्राप्त हो गई—

५०१) रुपये आर्य समाज मॉडल टाऊन, दिल्ली
२५१) रुपये आर्य समाज, नया बास, दिल्ली
२५१) रुपये आर्य समाज, देहरादून

जिन सस्थाओ ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे अपना स्नेहपूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, सस्थान उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हुआ सादर आभार स्वीकार करता है।

प्रेस के कर्मचारी तथा सचालक श्री महेन्द्रसिंह धन्यवाद व वधाई के पात्र हैं, उन्होंने पुस्तक छापने मे सफाई व शुद्धता का पर्याप्त ध्यान रक्खा है। परन्तु पुस्तक छापने मे विलम्व वहुत अधिक कर दिया है। श्री महेन्द्रसिंह से निवेदन है, वह कार्य को अपेक्षित समय मे सम्पन्न कर देने की प्रवृत्ति को अधिक वल दें, इससे प्रेस के प्रति प्रकाशको का आकर्षण प्रगति पकड़ सकता है।

कार्य सम्पन्नता मे प्रभु की अपार कृपा के साथ—

विनीत
उदयवीर शास्त्री
कृते
विरजानन्द वैदिक सस्थान
गाज़ियावाद उ. प्र. (भारत)
२०१००१

ओ३म्

अनादि तत्त्व दर्शन

प्रथम अध्याय

सत्यासत्य-निर्णय

तत्त्वज्ञानादभ्युदयनिश्रेयससिद्धि ॥१॥

अभ्युदय—लौकिक सुख यथा निःश्रेयस् अर्थात् शाश्वत सुख—मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के लिये आवश्यक है।

'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन मे भौतिक साधनो के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। विद्वानो ने इस पद का अर्थ 'तत्त्वज्ञान' भी किया है। तत्त्वज्ञान और सुख मे नित्य सम्बन्ध होने से दोनो अर्थों का सामञ्जस्य हो जाता है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओ को जुटाना अपेक्षित है। मोक्ष प्राप्ति मे साधन-रूप शरीर तथा 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' की उपेक्षा नही की जा सकती। तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणो की उपलब्धि एव उनका समुचित उपयोग सभव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से 'अभ्युदय' की सिद्धि का यही अर्थ है।

अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान नि.श्रेयस की सिद्धि मे भी उपयोगी है। यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओ के जनक हैं। परन्तु अपने स्वरूप मे वे 'श्वोभावा'—क्षणभगुर अर्थात् नश्वर हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुप आत्मवित् हो जाता है अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड पदार्थ परिणामी एव नश्वर हैं, एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओ मे सदा के लिये लिप्त न होकर जन्म जमान्तर के रूप मे आवर्त्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को नि श्रेयस के मार्ग में प्रवृत्त करता है। अभ्युदय और 'नि श्रेयस मे टकराव होने पर 'परोक्षप्रिया हि देवा प्रत्यक्षद्विष' के अनुसार यह नि श्रेयस को चुन लेता है। इसी रूप मे तत्त्वज्ञान नि.श्रेयस की सिद्धि मे साधक है ॥१॥

यथार्थदर्शनं हि ज्ञानम् ॥२॥

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानने का नाम 'ज्ञान' है।

इन्द्रिया वाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले अधिकरण हैं। किन्तु उनकी सीमा गुणो तक है। द्रव्यो की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अशत सफल होती हैं। किन्तु सधी हुई योगवुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने मे समर्थ हो जाती है। साधारण वुद्धि के सामने आने वाला ज्ञान वाहरी आवरण मात्र होता है जिसे भेद कर योगवुद्धि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर पाती है। साधारण वुद्धि के लिये स्वर्ण पीले रग की एक वहुमूल्य धातुमात्र है। सामान्य वैज्ञानिक के लिये वह परमाणुओ का सघात है। किन्तु महान वैज्ञानिक के लिये वही स्वर्ण के परमाणु इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन तथा न्यूट्रॉन की निश्चित सख्या वाले हैं, जिनमे परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओ को किसी अन्य तत्त्व के परमाणुओ मे वदला जा सकता है। जीव की अल्पज्ञता यथार्थ ज्ञान की उपलव्धि मे वाधक है। स्वरूप मे अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा सव कुछ तो नही जान सकता, परन्तु वहुत कुछ जान लेता है। इसलिये परमाणु से परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थो के यथार्थज्ञान साधन मे प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है। गीता मे 'तत्त्व-ज्ञानार्थदर्शन ज्ञानम्' (१३-११) अर्थात् तत्त्वज्ञान के विपयो (प्रकृति, पुरुष व जीवात्मा) के साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा है ॥२॥

तदेव सत्यम् ॥३॥

उसी अर्थात् 'यथार्थदर्शन' का ही दूसरा नाम 'सत्य' है।

जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। 'अस् भुवि' इस धातु से 'सत्' शव्द निष्पन्न होता है। जो पदार्थ है वह 'सत्' कहाता है। 'सते हितम्' अथवा 'सत्-यत्'—इस व्युत्पत्ति से 'सत्य' का अर्थ 'यथार्थ' उसके अपने स्वरूप में निहित है। 'न हि सत्यात्परो धर्म' तथा 'नहि सत्यात्पर ज्ञानम्' उपनिषदो के इन वचनो के अनुसार सत्य-धर्म और ज्ञान एक ही अर्थ के वाचक हैं। वृहदारण्यकोपनिपद् मे 'जिस एक के जान लेने पर सव जान लिया जाता है, वह व्रह्म कहा है?' के उत्तर मे कहा—'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्' (५-१४-४) अर्थात् वह सत्य मे प्रतिष्ठित है। 'सत्यम्' शव्द तीन अक्षरो—स+ति+यम् से वना है (वृहद्-५-५-१)। ये तीनो अक्षर क्रमश जीव, प्रकृति और ईश्वर के वाचक हैं। इसप्रकार 'सत्यम्' व्रह्म का नाम है। इसीलिये व्रह्म को जान लेना तत्त्वज्ञान के तीनो विपयो को जान लेना है। 'यत् त्रिपु कालेषु न वाध्यते तत्सत्यम्' स्वामी दयानन्द द्वारा कीगई 'सत्य' की यह परिभाषा स्वामी शकराचार्य के इस कथन—कि 'जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा वाधित न हो वह ज्ञान सत्य है' के अनुकूल है—क्योकि पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव मे उसके अपने स्वभाव का ज्ञान है। वस्तुतः 'सत्य' 'तथ्य' का पर्यायवाची है। यथार्थ अथवा सत्य की

परख कैसे कीजाय, यह प्रश्न है जिसका समाधान अगले सूत्रो मे किया गया है ।।३।।

सत्याऽसत्यनिर्णये परीक्षा पञ्चविधा ।।४।।

सत्यासत्य की परीक्षा पाच प्रकार से कीजाती है । आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है अर्थात् आत्मा मे सत्य और असत्य का विवेक करने की शक्ति है । किन्तु स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषो के कारण सत्य को छोड असत्य की ओर झुक जाता है । यदि हम सत्य को जानना चाहते है और हमारे मस्तिष्क के द्वार खुले है तो हम असगत और तर्कहीन विचारो को छोड कर सत्य की ओर बढते जायेंगे । तर्क,तर्क के लिए नहीं वरन् सत्य को जानने के लिए है । वह स्वय साध्य न होकर साधनमात्र है । 'तत्त्वज्ञानर्थमूहस्तर्क' न्यायदर्शन (१-१-४०) के इस सूत्राश के अनुसार तर्क स्वय तत्त्वज्ञान न होकर तत्त्वज्ञान मे सहयोगी है । जब कोई व्यक्ति किसी विषय को तात्त्विक रूप से जानना चाहता है तो उसके पक्ष-विपक्ष मे प्रमाण व हेतु जुटा, गम्भीरता से मनन व चिन्तन करके किसी निर्णय पर पहुचता है। सत्य के अन्वेषक का इस विषय मे मार्ग दर्शन करने के लिए सत्यासत्य की परख के निमित्त पाच कसौटिया निश्चित कीगई है ।।४।। पहली कसौटी है—

श्रुतिसम्मतं सत्यम् ।।५।।

जो ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुकूल है वह सत्य है । किसी भी मनुष्य के लिए पूर्णज्ञानी होना सम्भव नही । मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है । ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण, नित्य तथा निर्भ्रान्त है । मानव के लिये जितना अपेक्षित है वह वेद के रूप मे उसे प्राप्त है । उसका निरपेक्ष प्रामाण्य होने से वहा जो विहित है वह अनुष्ठेय तथा जो निषिद्ध है वह त्याज्य है । यथार्थ धर्म का स्वरूप वही से जाना जाता है । इसीलिये ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त आर्यों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ मे मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वेदो का प्रकाश किया, जिससे वे परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अभ्युदय तथा नि श्रेयस की सिद्धि कर सकें ।

बाल की खाल उतारने वाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो मे प्रमुख महर्षि कणाद ने 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै द ६-१-१) की घोषणा करने से पहले वेद का पूरी तरह अनुशीलन करने और बुद्धि की कसौटी पर परखने के बाद यह निश्चय किया, कि वेद मे जो भी वाक्यरचना है, पद व पदसमूहो की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है, नित्य-ज्ञानमूलक है और उसमे भ्रम, प्रमाद और विप्र-लिप्सा आदि दोषो की सम्भावना नही है । इसीलिये उन्होंने ईश्वरीय ज्ञान होने

मे वेद का स्वत प्रामाण्य (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्-१-१-३) स्वीकार किया। नास्तिक कहे जाने वाले कपिल ने भी साख्यदर्शन मे 'निजशक्त्यभिव्यक्ते स्वत प्रामाण्यम्' (५-५१) इत्यादि सूत्रो के द्वारा वेद के ईश्वरीय शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण उसका स्वत प्रामाण्य माना है। न्यायदर्शन ने 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्य-वच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' (२-१-६७) इत्यादि सूत्रो मे परम आप्त ईश्वर का वचन होने और असत्य, परस्पर विरोध तथा पुनरुक्ति आदि दोषो से मुक्त होने के कारण वेद को परम प्रमाण सिद्ध किया। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने 'स एप पूर्वेपामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्' (समाधिपाद-२६) कह कर परमेश्वर को नित्य वेदज्ञान देने के कारण सबका आदिगुरु माना। जैमिनि ने तो मीमासा शास्त्र मे धर्म का लक्षण ही यह किया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' अर्थात् जिसके लिए वेद की आज्ञा हो वह धर्म और इसके विपरीत अधर्म है। वेदान्त सूत्रो के रचयिता वेदव्यास जी ने 'शास्त्रयोनित्वात्' (१-१-३) तथा 'अतएव च नित्यत्वम्' (१-३-२९) इत्यादि सूत्रो के द्वारा ईश्वर को ऋग्वेदादि का कर्त्ता मानते हुए वेद की नित्यता का प्रतिपादन किया है। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए जगद्गुरु आदि शकराचार्य ने लिखा है—

ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्
सर्वार्थावद्योतिन सर्वज्ञकल्पस्य योनि कारण ब्रह्म। न,
हीदृशस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सभवोऽस्ति॥

अर्थात् ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं वे अनेक विद्याओ से युक्त है, सूर्य के समान सव सत्य अर्थों के प्रकाशक हैं—उनका वनाने वाला सर्वज्ञत्वादि गुणो से युक्त परब्रह्म है, क्योकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त वेदो को वना सके—ऐसा सभव नही।

उपनिषदो मे जो कुछ कहा गया है वह वैदिक मान्यताओ की प्रयोगात्मक एव दार्शनिक अभिव्यक्ति है। ईशोपनिषद् तो सीधे यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। शेष सभी उपनिषदो का मुख्य आधार यही उपनिषद् है। बृहदारण्यकोप-निपद् शतपथब्राह्मण का एक भाग है जो स्वय यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। छान्दोग्योपनिपद् सामवेदीय उपनिषद् है। तैत्तिरीय उपनिषद् 'भू भुव स्व' को क्रमश. ऋग्, यजु और मामवेदस्थानीय मानता है। मुण्डकोपनिषद् मे 'वाग् विवृताश्च वेदा' (२-१-४) तथा 'तस्माद्च सामयजूपि दीक्षा' (४-१-६) का उल्लेख कर वेदो को सर्वभूतान्तरात्मा परमेश्वर की वाणी और स्पष्टत उसीसे उनकी उत्पत्ति होना मानागया है। कठोपनिषद् मे 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (२-१५) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् मे 'तमेत वेदानुवचन न ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (४-४-२२) इत्यादि वचनो से स्पष्ट वताया गया है कि सारे वेद सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करते तथा ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी पर-मात्मा को जानने की इच्छा करते हैं। सभी उपनिपदो मे स्थान-स्थान पर प्रमाण

रूप मे वेद मन्त्रो का उल्लेख मिलता है। कही-कही "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्माह यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकारण निरुक्त छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्डक १-१-४) अथवा "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः" (मुण्ड १-२-७) आदि के भाव को न समझ कर उपनिषदो को वेदो के विरुद्ध क्रान्ति समझ बैठना भूल है। वस्तुत किसी ग्रन्थ के किसी विषय मे वास्तविक अभिप्राय का उसके एकाध वाक्य को पूर्वापर प्रसग से अलग करके देखने से पता नही चल सकता। इसके लिए हमे उस ग्रन्थ की मूल भावना को अपने विचार का केन्द्र बनाकर उसीके परिप्रेक्ष्य मे उसके सब वचनो को समझने का यत्न करना चाहिये। उपक्रम और उपसहार को देखकर अर्थ का निश्चय कियाजाता है। ऋग्वेद के 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (१-१६४-३९) इस मन्त्राश को लेकर क्या कोई यह कल्पना कर सकता है कि इस कथन के द्वारा स्वय वेद ने अपनी निन्दा की है ? यहा वेदो के पाठ मात्र को पर्याप्त न मानकर वेदप्रतिपाद्य परमात्मा को जानने पर बल दिया गया है, यही इसका अभिप्राय है। ऐसा ही अन्यत्र भी—जहा अन्यथा जान पडे—समझना चाहिये।

निरुक्त के मत मे 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (१-१-२) पुरुष की विद्या का उसका ज्ञान अनित्य होने से वेदमन्त्रो द्वारा कर्त्तव्य कर्मो का नित्य पूर्ण रूप मे प्रतिपादन कियागया है। स्मृति ग्रन्थ तो वेद के प्रामाण्य की भावना से ओतप्रोत हैं। मनुजी ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२-६) कह कर वेद को धर्म का मूल मानते हुए घोषणा की—'धर्मजिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुति' (२-१३) अर्थात् जो धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते है उनके लिए परम प्रमाण वेद है। वेदो का महत्त्व बताते हुए उन्होने यहां तक कह दिया कि—

> पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षु सनातनम्।
> अशक्य चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥
> चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक्।
> भूत भव्य भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥९७॥
> विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्र सनातनम्।
> तस्मादेतत्पर मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

—मनु. १२

साराश यह कि वेद पितर, देव और मनुष्य सभी के लिए सनातन मार्गदर्शक नेत्र के समान है। उसकी महिमा का पूर्णतया प्रतिपादन करना अथवा उसे पूर्णतया समझना बडा कठिन है। चारो वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान विषयक ज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है। सनातन वेदशास्त्र सब प्राणियो को धारण करता है। यही मनुष्यमात्र के लिए भवसागर से पार होने का साधन है।

मनुस्मृति के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है कि—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ॥'

वेदशास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं। अन्य सब शास्त्र सनातन वा नित्य वेद से ही निकले हैं।

अत्रिस्मृति के अनुसार 'नास्ति वेदात्परं शास्त्रम्' अर्थात् वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं है।

महाभारत मे महर्षि वेदव्यास ने अनेक स्थानों पर वेद को नित्य और ईश्वर-कृत बताते हुए लिखा है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥'

—म. भा. शान्तिपर्व २३२-२४

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ मे स्वयम्भू भगवान् ने वेदरूप नित्यवाणी का प्रकाश किया जिससे मनुष्यो की सब प्रवृत्तियां होती हैं। यह ऋग्वेद के मन्त्र 'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्'। (८-७-५-६) का मानो अनुवाद है। इसी अध्याय मे आगे कहा है—

"नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ॥"

—म. भा. शा पर्व २३२-२५

ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्मों का निर्माण वेद के शब्दों से किया।

भगवद्गीता के अनुसार भी धर्म-कर्म की उत्पत्ति वेद से मानी गई है। अध्याय ३ के श्लोक १५ मे आये 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है—'ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' अर्थात् कर्म की उत्पत्ति वेद से है। पुनः इसी श्लोकान्तर्गत 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा—'ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवं) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः' अर्थात् वेद की उत्पत्ति साक्षात् ब्रह्म से है। मध्वाचार्य ने भी इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वेद की अन्तःसाक्षि 'वाचा विरूपनित्यया' महाभारत का वचन 'अनादिनिधना नित्या' तथा वेदान्तसूत्र 'अतएव च नित्यत्वम्' को उद्धृत करके श्रुतिस्मृतिभगवद्वचनेभ्य' वेद की ईश्वरीयता तथा नित्यता को स्वीकार किया है। रामानुज भाष्य की 'अमृततरङ्गिणी' टीका मे भी 'वेदात् कर्मोत्पत्तिः स च ब्रह्मनिःश्वसितः' कह कर शंकराचार्य तथा मध्वाचार्य के विचारों की पुष्टि की गई है। 'नीलकंठी' टीका मे तो यहां तक कह दिया गया कि 'कर्म वेदोद्भवं वेद एव धर्मे प्रमाणं न तु पाखंडादिप्रणीतागमः।'

गीता मे 'वेदवादरता' जैसे वचनो मे कहीं-कहीं वेदो की निन्दा की गई

जान पडती है। वास्तव मे वहा वेदो की निन्दा न होकर 'वेद-वेद' चिल्लाने वाले किन्तु वेदानुकूल आचरण न करने वाले लोगो की भर्त्सना है। महात्मा बुद्ध वेदो के नाम से कल्पित वचनो की निन्दा करते थे, किन्तु शास्त्रार्थ के लिए योग्यता और रुचि न होने के कारण कभी-कभी उनके मुख से ऐसे शब्द निकल जाते होंगे कि 'यदि वस्तुत. वेदो मे हिंसा का विधान है, तो मैं न ऐसे वेदो को मानता हू और न उनके रचयिता ईश्वर को।' सम्भवत' ऐसी ही वातो के कारण महात्मा बुद्ध को नास्तिक (नास्तिको वेदनिन्दक) के रुप मे ले लिया गया। अन्यथा बौद्धो के धार्मिक ग्रथो मे वेदो के प्रशसात्मक वचन भरे पडे हैं। उदाहरणार्थ—

"सम समादाम वतानि जन्तु उच्चावच गच्छति सज्जसत्तो।
विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्म न उच्चावच गच्छति भूरिपञ्ञो॥"

—सुत्तनिपात २९२

इन्द्रियो के अधीन होकर अपनी इच्छा से कुछ काम तथा तप करते हुए लोग ऊची नीची अवस्था को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो विद्वान् वेदो द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं उनकी ऐसी अवस्था नही होती। सुत्तनिपात के ही श्लोक १०६० मे महात्मा बुद्ध ने कहा है—

"विद्वा च सो वेदगू नरो दूध भवाभवे सग इम विसज्जा।
सो वाततण्हो अनिघो निरासो अतारि सो जारि जरांति ब्रूमिति॥"

वेद को जानने वाला विद्वान् इस ससार मे जन्म-मृत्यु मे आसक्ति का परित्याग करके और तृष्णा तथा पाप से रहित होकर जन्म-मरण और वृद्धावस्था से रहित हो जाता है—ऐसा मैं कहता हू।

सिखो के धर्मग्रन्थ गुरु-ग्रथ साहव मे भी वेदो के ईश्वरीय ज्ञान होने तथा धर्माधर्म मे प्रमाण माने जाने का अनेक स्थानो पर उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

"ओकार वेद निरमाये" अर्थात् ईश्वर ने वेद बनाये।

"चार दीवे चहु हथ दीए एका एको वारी" अर्थात् चार दीपक (चार वेद) चहु हथ (चार ऋषियो के द्वारा) एक ही वार (सृष्टि के आरम्भ मे) दिये।

"सामवेद ऋग् जजुर अथर्वण ब्रह्म मुख। ताकी कीमत कीत कह न सकै" अर्थात् सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद ब्रह्मा के मुख से निकले। उनकी कीमत (महत्त्व) कोई नही बता सकता।

"हरि आज्ञा होए वेद पाप पुन्न विचारिआ" अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से वेद हुए जिससे मनुष्य पाप-पुण्य का विचार कर सके।

समस्त प्राचीन एव मध्यकालीन साहित्य मे वेद के प्रति आस्था और विश्वास का यही स्वर यत्र तत्र सर्वत्र देखने मे आता है॥५॥

वेद और स्मृत्यादि ग्रन्थो के वचन एक दूसरे से विपरीत हो, तो क्या होना

चाहिए ? इस विषय मे सभी आचार्यों ने एक मत से जो सिद्धान्त निर्धारित किया है वह अगले सूत्र मे बताया गया है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुते प्रामाण्यम् ॥६॥

यदि श्रुति और स्मृति मे परस्पर विरोध प्रतीत हो, तो श्रुति को प्रामाणिक माना जायेगा स्मृति को नही। जावाल ऋषि का कथन है कि 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।' जैमिनि ने मीमासाशास्त्र मे कहा है—'विरोधे त्वनपेक्ष स्यादसति ह्यनुमानम्' (१-३-३) अर्थात् श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यम् अप्रमाणम् अनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानम्। इसी प्रकार भविष्य पुराण के मत मे भी 'श्रुत्या सह विरोधे तु वाध्यते विषयं विना।' मनुस्मृति की अपनी टीका मे 'धर्मजिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुति' की व्याख्या करते हुए कुल्लूकभट्ट ने विस्तार से इस विषय मे चर्चा की है ॥६॥

सत्याऽसत्य की पहचान के लिए दूसरी कसौटी अगले सूत्र मे बताई है—

सृष्टिक्रमाविरुद्धम् ॥७॥

जो वात सृष्टि क्रम के अनुकूल अथवा अविरुद्ध है वह सत्य है। सृष्टि की रचना और उसका सचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमो के अधीन है। ये सभी नियम त्रिकालावाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के विना कार्य, विना फल भोगे कर्म का क्षय, अग्न्यादि द्रव्यो द्वारा अपने स्वाभाविक गुणो का परित्याग, वन्ध्या के अथवा माता-पिता के सयोग के विना सन्तानोत्पत्ति, जड से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता अथवा ईश्वर का जीवो की भांति जन्ममरण के वधन में पडना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य हैं।

जेम्स हेस्टिग्ज ने अपनी पुस्तक 'Dictionary of Religion and Ethics' मे स्वामी दयानन्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"Dayanand tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि वेद और सृष्टि दोनो एक ही सत्ता के कार्य हैं, तो दोनो का एक दूसरे के अनुकूल होना स्वाभाविक एव अनिवार्य है। ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमे लगे नकशे का वनाने वाला एक ही व्यक्ति हो, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पुस्तक में तो दिल्ली का यमुना के किनारे स्थित होना लिखे और नकशे में उसकी स्थिति गगा के किनारे दिखाये। ससार मे कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नही घट सकती, भले ही मनुष्य अल्पज्ञ होने से उसकी व्याख्या न कर सके। जिन वातो को हम समझ नही पाते उन्हे हम जादू या

चमत्कार का नाम दे देते हैं। अनेक मिथ्या विश्वासो के मूल मे उनका सृष्टिक्रम के विरुद्ध होना पाया जायेगा ॥७॥

आप्ताचारोपदेशानुकूलम् ॥८॥

जो आप्त पुरुषो के उपदेश और आचरण के अनुकूल है वह सत्य है। सत्याऽसत्य का निर्णय करने मे सहायक यह तीसरी कसौटी है। आप्त शब्द 'आप्लृव्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान का नाम 'आप्ति' है। किसी कार्य मे सर्वात्मना समर्पित व्यक्ति को ही इसकी प्राप्ति होती है। अपने सीमित क्षेत्र मे अपने विषय की पूरी जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति उस विषय मे साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' कहलाता है। जो वस्तु जैसी हो उसको निश्चयपूर्वक उसी रूप मे जानना 'साक्षात्कार' कहाता है। ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर जब कोई व्यक्ति उस विषय की जानकारी अन्य लोगो को देने लगता है तब वह उपदेष्टा है। उस रूप मे उसके लिए छलादिदोषरहित, धर्मात्मा, यथार्थवक्ता एव सदाचारी होना आवश्यक है। उसकी कथनी और करनी एक जैसी होनी चाहिये। ऐसे आप्त अर्थात् सत्यज्ञानी, सत्यमानी, सत्यवादी तथा सत्यकारी, परोपकारी और पक्षपातरहित विद्वान् जिस बात को मानें, सबको मन्तव्य होने से वह सत्य तथा इसके विपरीत असत्य है। मनुस्मृति मे 'विद्वद्भि सेवित सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभि' कह कर इसीकी पुष्टि कीगई है ॥८॥

इसी विषय मे चौथी कसौटी अगले सूत्र मे बताईगई है।

स्वस्यात्मन प्रियम् ॥९॥

जो अपने आत्मा के अनुकूल है वही सत्य है।

जो अपने आत्मा को प्रिय लगे वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियो को किसी काम मे प्रवृत्त करता है तो जीव के इच्छा, ज्ञान आदि उसी मे केन्द्रित हो जाते हैं। उसी क्षण आत्मा मे बुरे काम करने मे भय, शका और लज्जा तथा अच्छे कामो के करने मे निर्भयता, नि शकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नही, परमात्मा की ओर से होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उसके भीतर अन्तरात्मा की यह पुकार उतनी ही मुखर होती है। इसी भाव को कालिदास ने "सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय" (शकु०) अर्थात् 'सन्देह की स्थिति मे मनुष्य को अपने आत्मा की प्रवृत्ति को प्रमाण मानना चाहिये' कह कर व्यक्त किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी धर्म का सार बताते हुए कहा—'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण किसी के प्रति कभी न करे ॥९॥

सत्य का निर्धारण करने के लिये पाचवी कसौटी है—

प्रत्यक्षाद्यष्टप्रमाणैः सिद्धम् ॥१०॥

प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणो से जो सिद्ध हो वह सत्य तथा इसके विपरीत असत्य है। 'प्रमाण' यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' (मा) धातु से करण अर्थ मे 'ल्युट्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् ज्ञान का जो करण-साधन है वह प्रमाण कहाता है। इस प्रकार जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ निश्चित रूप से जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं ॥१०॥

इन आठ प्रमाणो का नामोल्लेख अगले सूत्र मे किया है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावभेदादष्टधा प्रमाणम् ॥११॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सभव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं।

किसी विषय को जानने के लिये आठो प्रमाणो की सम्मिलित रूप मे अपेक्षा नही होती। कही एक प्रमेय (ज्ञान के विषय) मे अनेक प्रमाणो की प्रवृत्ति होती है और किसी विषय मे एक ही प्रमाण का प्रवृत्त होना सभव होता है ॥११॥

दर्शनञ्चाप्यष्टविधम् ॥१२॥

(उपरोक्त साधन भेद से) दर्शन (ज्ञान) भी आठ प्रकार का होता है:

सर्वप्रथम कथित प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हैं—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥१३॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान जो व्यपदेश्य न हो, व्यभिचारी न हो और निश्चयात्मक हो 'प्रत्यक्ष' कहाता है।

बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न आत्मा का होता है, न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है और मन आन्तर साधन है। चक्षु आदि इन्द्रियां बाह्य साधन हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सबध बाह्य इन्द्रियो का होता है। आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रियो को उस अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब बाह्य विषय का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रिय से, बाह्य इद्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का आत्मा से है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के परस्पर सबध मे आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है। आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसन और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध के साथ सन्निकर्ष या सम्बन्ध छह प्रकार का होता है—

१. **सयोग सन्निकर्ष**—दो द्रव्यो का परस्पर सबध सयोग होता है। चक्षु इन्द्रिय द्रव्य है और घट भी द्रव्य है इस प्रकार चक्षु का घट से सबध 'सयोग सन्निकर्ष' है। यह सन्निकर्ष होने पर घट का प्रत्यक्ष दर्शन या ज्ञान हो जाता है। द्रव्य के प्रत्यक्ष मे यह सन्निकर्ष अपेक्षित है।

२. **सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष**—घट, पट आदि के प्रत्यक्ष के साथ उनमे रहने वाले श्वेत-पीतादि रूप तथा लम्बाई चौडाई आदि आकार एव सख्या आदि का भी प्रत्यक्ष होता है। रूपादि द्रव्य न होने से चक्षु इन्द्रिय का सयोग सवन्ध सभव नही। इन्द्रियो के साक्ष सयुक्त द्रव्यो मे रूपादि गुण समवाय सम्वन्ध से रहते हैं: अत रूपादि के प्रत्यक्ष मे सयुक्तसमवाय 'सन्निकर्ष' माना जाता है। गुण-गुणी और क्रिया-क्रियावान् का समवाय सम्वन्ध होता है। इसलिये यदि घट पट मे कोई क्रिया हो रही हो तो उसका भी प्रत्यक्ष सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से होगा। द्रव्यगत जाति के प्रत्यक्ष मे भी सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष अपेक्षित है।

३. **संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष**—इद्रिय से सयुक्त घट पट आदि द्रव्य मे समवेत रूप आदि गुणो मे समवाय सम्वन्ध से रहने वाले रूपत्व आदि सामान्य अथवा जाति का प्रत्यक्ष होता है। रूपत्व जाति है, जाति और व्यक्ति का समवाय सम्वन्ध होता है। अत रूपत्व आदि का प्रत्यक्ष कराने वाले सम्वन्ध का नाम 'सयुक्त-समवेतसमवाय सन्निकर्ष है। गुणसमवेत तथा कर्म समवेत जाति के प्रत्यक्ष मे यही सन्निकर्ष अपेक्षित है।

४. **समवाय सन्निकर्ष**—शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है। कर्ण-शष्कुली से परिच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है। गुण-गुणी का समवाय सम्वन्ध होने से शब्द के प्रत्यक्ष मे 'समवाय सन्निकर्ष' हेतु है।

५ **समवेत समवाय सन्निकर्ष**—शब्द मे शब्दत्व समवाय से रहता है। अत शब्दगत जाति का प्रत्यक्ष 'समवेत समवाय सन्निकर्ष' से होता है।

६ **विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष**—'इस स्थान मे घट नही है—यह प्रत्यक्ष है। इसका अर्थ हैं—घटाभाव वाला स्थान। घटाभाव विशेषण है और स्थान विशेष्य। अत इस अभाव का प्रत्यक्ष 'विशेषण—विशेष्यभाव सन्निकर्ष' से होता है। अभाव के प्रत्यक्ष मे यही सन्निकर्ष अपेक्षित है।

किन्तु केवल विषय और इन्द्रिय का सम्वन्ध होने से विषय का ज्ञान नही होता। ज्ञान की प्रक्रिया मे एक और आतर साधन 'मन' है जिसके विना कोई कार्य होना सम्भव नही। सुषुप्ति मे मनका इन्द्रियो से सम्वन्ध टूट जाता है। उस समय इद्रियो और उनके अर्थो के होते हुए भी वाह्य वस्तुओ का ज्ञान नही होता। जागृतावस्था मे भी एक साथ सव इद्रियो का अपने-अपने विषयो

से सन्निकर्ष होते हुए भी एक समय मे सब विपयो का ज्ञान नही होता। जिस इंद्रिय के साथ मन का सयोग होता है उसी इद्रिय के विषय का वोघ होता है। किंतु मन स्वय जड है। इसलिये उसे ज्ञान नही हो सकता। चक्षु आदि वाह्य इन्द्रियो की भाति आन्तर इन्द्रिय मन भी ज्ञान प्राप्ति मे साधन माना है। ज्ञान आत्मा को होता है। वही मन को और मन के द्वारा इद्रियो को अपने अपने काम मे लगा कर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है कि विषयो के साथ इन्द्रियो का, इन्द्रियो के साथ मन का और मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष हो।

आत्मा से सयुक्त मन के द्वारा प्राप्त इन्द्रियार्थसन्निकर्पजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान निर्दोष हो--इसके लिए आवश्यक है कि वह—

१. अव्यपदेश्य हो। शव्द द्वारा किसी अर्थ का वोघ कराना 'व्यपदेश' कहाता है। जिस अर्थ का वोघ कराना अभीष्ट है वह 'व्यपदेश्य' कहायेगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली पहचान यह है, कि वह अव्यपदेश्य हो अर्थात् शव्द द्वारा उसका वोघ न कराया जासके। प्रमाता को होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान शव्द निर-पेक्ष अर्थात् अव्यपदेश्य होता है। जो व्यपदेश्य है, वह प्रत्यक्ष न होकर शव्दज्ञान है जो शव्द प्रमाण का विषय है, सज्ञा-सज्ञी के सम्वन्ध से उत्पन्न ज्ञान व्यपदेश्य होगा। 'जल' नामक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, ज-ल इन दो अक्षरो वाली सज्ञा का नहीं। यदि दो व्यक्तियो को किसी पदार्थ का उपभोग कराया जाये तो रस की अनुभूति दोनो को एक जैसी होगी–भले ही उनमे से एक उस पदार्थ के वाचक शव्द को जानने वाला हो और दूसरा उससे सर्वथा अनभिज्ञ। अनु-भूति में समानता होते हुए भी दोनो की अभिव्यक्ति भिन्न होगी। अनुभूति ही प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होगी, अभिव्यक्ति नही। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान मे शव्द की अपेक्षा नही होती। वस्तुत अनु-भूत्यात्मक अर्थज्ञान का वाचक कोई ऐसा शव्द ही नही हो सकता जिससे उसका तद्रूप वोघ कराया जासके।

२ अव्यभिचारी हो–अन्य पदार्थ मे अन्य पदार्थ का ज्ञान होजाना–जैसे झुटपुटे मे टेढी मेढी रस्सी को देखकर साप समझ लेना या ग्रीष्म ऋतु मे दूर तक फैले रेत को जल समझ लेना–व्यभिचारी ज्ञान कहाता है जो पर्याप्त प्रकाश होने अथवा निकट जाकर देखने पर नष्ट हो जाता है। जहा जिसका अभाव है वहा उसका दीखना व्यभिचारी ज्ञान है। इन्द्रियार्थसन्निकर्पोत्पन्न होने पर भी वह प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। रस्सी को रस्सी और रेत को रेत जानना ही अव्यभिचारी ज्ञान कहायेगा। वही प्रत्यक्ष माना जायेगा।

३. व्यवसायात्मक हो–'व्यवसाय' पद का अर्थ है–क्रिया का पूर्ण रूप से सम्पन्न होना। ज्ञान के क्षेत्र मे इसका अर्थ है–निश्चय पर पहुच जाना अथवा सदे-हरहित होजाना। इस प्रकार 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ हुआ निश्चयात्मक।

जब तक कोई-'यह मनुष्य है या ठूठ, यह देवदत्त है या यज्ञदत्त ? अथवा यह बालू है या जल' की द्विविधा मे ग्रस्त है तब तक उसका ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष की कोटि मे नही आयेगा। सशय रहित होकर निश्चयात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक होने पर ही वह प्रत्यक्ष माना जायेगा ।।१३।।

न्यायदर्शन के प्रमेयो तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्यो मे प्रमुख प्रमेय अथवा द्रव्य 'आत्मा' का प्रत्यक्ष चक्षु आदि इन्द्रियो से न हो सकने के कारण प्रत्यक्ष का यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। इसका समाधान अगले सूत्र मे किया गया है—

आन्तरेन्द्रियेण आत्मप्रत्यक्षम् ।।१४।।

आन्तर इन्द्रिय अर्थात् मन से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण मे चक्षु, श्रोत्र आदि का उल्लेख न करके इन्द्रिय मात्र के सन्निकर्ष की बात कही गई है। जैसे चक्षु आदि पाच बाह्य इद्रिया है वैसे ही एक आतर इन्द्रिय मन है। साख्यदर्शन (२-१७,१६) मे स्पष्ट तौर पर मन का ग्यारहवी 'आन्तर इन्द्रिय' के रूप मे उल्लेख किया गया है। किन्तु जहा पाचो बाह्य इन्द्रिया भौतिक हैं वहा मन अभौतिक है। इसके अतिरिक्त जहा बाह्य इन्द्रिया अपने अपने नियत विषय की ग्राहक हैं वहा मन रूप-रस आदि सभी विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ है। बाह्य इन्द्रियो के साथ मन का यह भेद होने के कारण प्राय इन्द्रिय वर्ग मे मन को नही गिना जाता। किन्तु है यह आन्तर इन्द्रिय ही और जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियो से बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही आन्तर इन्द्रिय—मन से आत्मा आदि प्रमेय या द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है ।।१४।।

गुणानां प्रत्यक्षम् ।।१५।।

इन्द्रियो और मन से गुणो का प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रियो द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न गुणो की अनुभूतिया उत्पन्न होती है। जल से प्रत्यक्ष मे जल के स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओ से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतिया प्राप्त होती हैं। अलग अलग ये अनुभूतिया केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि की सूचना मात्र हैं। मन मे इन सब सूचनाओ के एकत्र होजाने पर उनके सयोग-वियोग से बुद्धि उन अनुभूतियो को समवेतरूप देकर उन्हे किसी नाम से अभिहित कर देती हैं। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे स्पष्ट है, कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणो का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणो के साथ गुणी का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। 'आशुगतित्वान्मनस '—मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है

कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। रूप वाले महत्परिमाणयुक्त द्रव्यो का चक्षु इन्द्रिय से सीधा प्रत्यक्ष होता है ॥१५॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ॥१६॥

प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला–पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से–तीन प्रकार का अनुमान प्रमाण है।

'अनुमान' शब्द का अर्थ है–'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' अर्थात् जिसका कोई एक देश अथवा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल मे प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी का एकदेश (अवयव) के प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान होने को 'अनुमान' कहते हैं। आग और धुए को एक साथ देखने अथवा लिंगी और लिंग के सबध का प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर मे एक का प्रत्यक्ष हो जाने पर दूसरे को अनुमान से जान लिया जाता है।

अनुमान के प्रयोग मे निम्न प्रकार पाच अवयवो का उपयोग किया जाता है—

१. प्रतिज्ञा–वहा आग है।

२. हेतु–क्योकि वहा धुआ दिखाई दे रहा है।

३ दृष्टान्त–जैसे रसोई घर मे।

४ उपनय–वैसा ही यहा है अर्थात् धुआ दिखाई दे रहा है।

५ निगमन–धुआ होने से वहा आग अवश्य है।

इस प्रकार वर्तमान मे धुए का प्रत्यक्ष होने और लिंग-लिंगी सम्बन्ध की स्मृति होने से अप्रत्यक्ष अर्थ अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान हो जाता है। अनुमान तीन प्रकार का माना गया है–पूर्ववत्, शेषवत्, समान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्–कार्योन्मुख कारण को देख कर जब कार्य का अनुमान होता है तब पूर्ववत् अनुमान होता है–जैसे बादलो को देख कर वर्षा होने का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है–इसीलिये इसे पूर्ववत् कहा गया है। यहाँ बादल कारण (पहले) और वर्षा कार्य है।

शेषवत्–जहा कार्य को देख कर कारण का अनुमान होता है–जैसे नदी में बाढ को देख कर ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देख कर उसके रचयिता ईश्वर का और सुख-दुःख को देख कर पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान–वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। धुए को देख कर अग्नि का अनुमान भी शेषवत् का उदाहरण है। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध करता है।

३ सामान्यतोदृष्ट—विभिन्न प्रदेश मे एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहा अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है वहा 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यात्रा के विना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही पहुच सकता। इसलिए गतवर्ष वाराणसी मे देखे गये देवदत्त को आज दिल्ली मे देखकर हमे उसकी यात्रा (हमारे लिए अदृष्ट) का अनुमान हो जाता है। यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है। इसी प्रकार सूर्य को प्रात काल पूर्व मे और सायकाल पश्चिम मे देखकर उसकी गति (लोक व्यवहार की भाषा के आधार पर) का अनुमान होता है। यहा कार्यकारण सम्वन्ध न होकर साधर्म्य के आधार पर अदृष्ट अर्थ का बोध होता है। गन्ध आदि गुणो के पृथिवी आदि अपने द्रव्यो मे समवेत रहने की भाति इच्छा, द्वेष, सुख दु खादि गुण भी किसी द्रव्य के आश्रित रहने चाहियें (क्योकि प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होता है)। इनका जो आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है। इस प्रकार गन्ध आदि की समानता के आधार पर इच्छा आदि गुणो से—उनके आश्रय के रूप मे—आत्मा का अस्तित्व सामान्मतोदृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है ॥।१६॥

अव उपमान का लक्षण करते हैं—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥१७॥

प्रसिद्ध (प्रत्यक्ष) साधर्म्य-सादृश्य से साध्य का साधन 'उपमान' कहाता है।

'उपमीयते येन तदुपमानम्' अर्थात् जिसके समान किसी का कथन किया जाये वह उपमान होता है और जिसके विपय मे कथन किया जाये वह उपमेय। दो पदार्थो मे सादृश्य होने पर उपमान से काम लिया जाता हैं। निम्नाकित सवाद से उपमान का स्वरूप और उसकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है—

स्वामी सेवक से—जाओ विष्णुमित्र को बुला लाओ।

सेवक—वहा तो वहुत से लोग हैं और मैं विष्णुमित्र को पहचानता नही।

स्वामी देवदत्त को तो तुम अच्छी तरह जानते हो। बस बिल्कुल वैसा ही विष्णुमित्र है।

सेवक गया और एक पुरुप को देवदत्त जैसा जानकर वुला लाया। वही विष्णुमित्र निकला। नीलगाय का गाय से सादृश्य वता दिये जाने पर इन चार अवयवो के प्रयोग से नीलगाय की पहचान होती है—

(१) गवय नीलगाय का गाय से सादृश्य का ज्ञान।
(२) जगल मे नीलगाय का प्रत्यक्ष।
(३) पूर्वश्रुत गाय और नीलगाय की समानता की स्मृति।
(४) पशु विशेष मे गाय का सादृश्य देखकर उसके नीलगाय होने का निश्चय।

उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्य हैं जिसे प्रसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष

साधर्म्य की संज्ञा दी गई है-ऐसा साधर्म्य जो उपमेय को देखते ही उसका निश्चय करा देता है ॥१७॥

अगले सूत्र मे क्रमागत शब्द प्रमाण का लक्षण बताया गया है—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥१८॥

आप्त पुरुष का कथन शब्द प्रमाण कहाता है।

किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहते हैं। पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों मे से किसी का यथार्थ ज्ञान प्राप्त-'ऋष्यार्यम्लेच्छाना समान लक्षणम्'-पुरुष आप्त जनो की कोटि मे आता है। वह जैसा अपने आत्मा मे जानता है और जिससे वह स्वय सुख पा चुका है उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित हो सब मनुष्यो के कल्याणार्थ उपदेश करता है। ऐसे पुरुष का वचन ही शब्द प्रमाण माना जाता है। जगत् मे अनेक प्रकार के व्यवहार शब्द प्रमाण के आधार पर चलते हैं। यदि हम अपने पूर्वजो के कथन पर विश्वास न करते और हर पीढी सब कुछ नये सिरे से करते तो मनुष्य जाति जहा की तहा रहती। आज भी हम अपने अपने सीमित क्षेत्र मे विशेष ज्ञान रखने वाले अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा लोगो की सहायता से अपना काम चलाते हैं। किंतु पूर्ण आप्त केवल परमेश्वर है। इससे उसका उपदेश स्वत प्रमाण है तथा पूर्ण, नित्य एव निर्भ्रान्त है ॥१८॥

शब्द-प्रमाण के भी भेद हैं—यह अगले सूत्र मे निर्दिष्ट है—

स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात् ॥१९॥

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से शब्द दो प्रकार का है।

शब्द-प्रमाण से जाने गये जिस अर्थ को इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके वह दृष्टार्थ है। किसी ने कहा कि मेरे घर मे आम का पेड लगा है। वहा जाकर देखा तो आम का पेड खडा पाया। वक्ता का ऐसा कथन दृष्टार्थ शब्द-प्रमाण का उदाहरण है, क्योकि उसके कथन की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गई। शब्द-प्रमाण से जाने गये जिस अर्थ मे और कोई प्रमाण प्रवृत्त न हो सके वह 'अदृष्टार्थ' शब्द प्रमाण कहाता है। जैसे वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध विधि-वाक्य है—'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकाम' अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा वाला यज्ञ करे। इस वाक्य से बोधित अर्थ को इन्द्रियो द्वारा नही जाना जा सकता। यह वैदिक वाक्य अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य के आधार पर किये शब्द-प्रमाण के विभाग मे लौकिक वाक्य 'दृष्टार्थ' तथा वैदिक वाक्य 'अदृष्टार्थ' समझने चाहियें। दोनो को ही प्रमाण मानना चाहिये ॥१९॥

इससे आगे 'ऐतिह्य' प्रमाण का निर्देश किया गया है—

अनिर्दिष्टप्रवक्तृतं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम् ॥२०॥

जिन बातो को परम्परा से कहते सुनते चले आते है या यत्र तत्र ग्रन्थो मे जिनका उल्लेख मिलता है ऐसे प्रवादो अथवा कथानको की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है। ऐतिह्य मे प्रथम प्रवक्ता का निर्देश नही रहता। इसी लिए यह शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नही आता ॥२०॥

अब 'अर्थापत्ति' प्रमाण का कथन करते हैं—

अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः ॥२१॥

किसी के एक बात कहने से जब दूसरी बात स्वत सिद्ध हो जाये, तो वह 'अर्थापत्ति' कहाती है। जैसे—किसी के यह कहने पर कि 'बादल न होने पर वर्षा नही होती' यह अपने आप सिद्ध हो गया कि 'बादल होने पर ही वर्षा होती है।' इसी प्रकार यह कहने पर कि 'सत्यवादी का विश्वास किया जाता है' अथवा 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है कि 'झूठे का विश्वास नही किया जाता' अथवा 'कारण के बिना कार्य नही होता।' इस प्रकार का ज्ञान 'अर्थापत्ति' प्रमाण से प्राप्त होता है ॥२१॥

अगले सूत्र मे 'सम्भव' प्रमाण का लक्षण किया गया है—

सृष्टिक्रमानुकूलत्वात् सम्भव ॥२२॥

जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही 'सम्भव' है। माता पिता के बिना सन्तानोत्पत्ति, मृतको का जी उठना, वन्ध्या के पुत्र का विवाह होना, चन्द्रमा के टुकडे होना आदि सब बातें असम्भव हैं ॥२२॥

आठ प्रमाणो के अन्तर्गत अब अन्तिम प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

विरोधिज्ञानहेतुरभाव ॥२३॥

विरोधी अर्थ का ज्ञान कराने वाला 'अभाव' कहाता है।

पुरोवात के कारण बादलो के भारी होने पर भी वर्षा का अभाव उसके विरोधी प्रतिबन्धक 'विधारक-वात' का ज्ञान करा देता है। जहा जो पदार्थ न हो वहाँ उसका 'अभाव' है। किसी ने किसी से कहा कि 'तू हाथी ले आ'। उसने वहा हाथी का अभाव देखा और जहा हाथी था वहा से लाकर खडा कर दिया। इस प्रकार 'अभाव' अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणो मे गिना जाता है ॥२३॥

द्वितीय अध्याय

ईश्वर

नेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥१॥

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नही होता ।

भौतिकवादियो का कहना है कि इन्द्रियातीत होने के कारण मानसिक प्रत्यक्ष के अभाव मे ईश्वर की सिद्धि नही होती, जव ईश्वर का प्रत्यक्ष नही तो उसकी सिद्धि मे अनुमान प्रमाण भी सार्थक न होगा, क्योकि 'प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानम्' अर्थात् अनुमान उसी का होता है जिसका पहले कभी प्रत्यक्ष हो चुका हो । जिसका न कभी प्रत्यक्ष हुआ और न अनुमान उसकी सिद्धि मे शब्द प्रमाण से भी काम न चलेगा क्योकि ईश्वरोक्त होने से ही वेद का प्रामाण्य है । जव स्वय ईश्वर ही असिद्ध होगया तो उसके वाक्य वेद का प्रामाण्य कैसे होगा ? ईश्वर के विना वेद और वेद के विना ईश्वर की सिद्धि न होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥१॥

अगले सूत्र में इसका समाधान किया गया है—

ईश्वरस्य प्रत्यक्षत्वम् ॥२॥

ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है ।

शुद्धान्त करण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमेश्वर को प्रत्यक्ष देखता है । यहा शका होती है कि जव परमेश्वर 'न चक्षुषा गृह्यते' (मुण्डक ३-१-८) इत्यादि उपनिषद् वचनो के अनुसार इन्द्रियो का विषय ही नही तो उसका प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ॥२॥

इसका उत्तर अगले सूत्र मे दिया गया है—

रचनादेः प्रत्यक्षतया, गन्धादिगुणानां ज्ञानेन गुणवत्या पृथिव्या प्रत्यक्षमिव ॥३॥

जिस प्रकार घ्राण आदि के द्वारा गन्धादि गुणो का ज्ञान होने से गुणी पृथिवी का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सृष्टि में रचना विशेष आदि गुणो के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

इन्द्रियो और मन से गुणो का प्रत्यक्ष होता है । फिर गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणो के माध्यम से गुणी का प्रत्यक्ष हो जाता है । इस प्रकार परमात्मा के लिङ्गो को देखकर लिङ्गी परमात्मा का ज्ञान हो जाता है । जव जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने मे तत्पर होता है तो उसे दोनो—जीवात्मा व परमात्मा-प्रत्यक्ष होते हैं ॥३॥

पापाचरणे च भयादेः ॥४॥

पापाचरणेच्छा काल मे भयादि होने से भी ।

जब बुरा काम करने मे भय, शका और लज्जा तथा इसके विपरीत अच्छा काम करने मे अभय, नि शकता और आनन्दोत्साह के भाव उत्पन्न होते हैं तो ये परमात्मा की ओर से होते हैं । इसमे भी परमात्मा का साधारण प्रत्यक्ष होता है ॥४॥

जब परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमान आदि से उसकी सिद्धि होने मे क्या सन्देह है । अगले सूत्रो से भी परमेश्वर की सिद्धि की गई है—

उत्पत्त्यादे ॥५॥

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से।

यह ससार उत्पन्न होने वाला है। प्रत्येक पदार्थ जो उत्पन्न होता है उसका उत्पादक अवश्य होता है । उत्पादक सदा चेतन तत्त्व हो सकता है । जैसे कुम्भकार के विना घटादि का निर्माण नही हो सकता अथवा आटा, घी, चीनी, आदि को एक साथ रख देने पर भी हलवाई के बिना हलवा नही बन सकता, वैसे ही उत्पन्न होने वाले विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना किसी चेतन सत्ता के विना नही हो सकती । अचेतन उपादान प्रकृति स्वय जगत् के रूप मे परिणत नही हो सकती। मानवी सृष्टि मे कर्त्ता निर्माण के वाद अपनी कृति के साथ नही रहता । किन्तु ईश्वरीय सृष्टि मे स्रष्टा परमेश्वर ब्रह्माण्ड मे ओत-प्रोत रहकर उसकी स्थिति और सचालन का अधिष्ठाता बना रहता है। उत्पन्न होने वाली वस्तु समय पाकर विगड जाती है । इसलिए सृष्टि की प्रलय करके उसे पुनः कारण रूप मे लेजाने वाला भी ईश्वर है । अत सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है ।

वेदादि शास्त्रो मे अनेक स्थलो पर सृष्टि को उत्पन्न करने वाले चेतनतत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन कियागया है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व ॥ ऋ १०-१९०-३

परमात्मा ने पूर्व सर्ग के समान ही सूर्य और चन्द्र लोक को बनाया । द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष एव अन्य सुखमय लोको का निर्माण भी उसी ने किया ।

'इय विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१०-१२९-६

यह विविध सृष्टि जहा से उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा धारण की जाती है और अन्त मे जव यह नही रहती, अर्थात् अपने कारण रूप मे लीन होजाती है इस सवका जो अध्यक्ष-नियन्ता सर्वव्यापक परमेश्वर है वही इसकी वास्तविकता को जानता है । इस ऋचा के अन्तर्गत 'यत आवभूव, यदि वा दधे, यदि वा

न' कह कर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनो अवस्थाओ का एक साथ उल्लेख कर दियागया है। सम्भवत वेद के इन पदो के अभिप्राय को ही महर्षि वेदव्यास ने 'जन्माद्यस्य यत' के रूप मे सूत्रबद्ध कर दिया है। 'स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्' (यजु १४-४) अर्थात् वह पृथिवी और द्युस्थानीय समस्त लोक-लोकान्तरो को धारण करता है तथा 'तस्मिन्निद सञ्च विचैति सर्वम्' (यजु-३२-८) अर्थात् यह जगत् उसी मे एकत्र होता और उसी मे बिखर जाता है—इत्यादि वाक्यो मे भी ब्रह्म के कर्त्ता, धर्ता एव हर्ता रूप का उल्लेख मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का निम्न सन्दर्भ भी इस विषय मे द्रष्टव्य है—

'यतो वा इमानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। तै ३-१

ये प्राणि-अप्राणिरूप भौतिक जगत् जिससे उत्पन्न होते है और उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और जिसके द्वारा अन्त मे लीन होते हैं उसको जानने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का प्रेरणा स्रोत यही है॥५॥

रचनावैचित्र्यात् ॥६॥

जगत् की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि इस रचना का कर्त्ता कोई पूर्ण पुरुष है जिसने रचना को ऐसा गूढ और विचित्र बनाया है कि उसे देखकर कोई भी उसकी सत्ता को स्वीकार किये बिना नही रह सकता। शरीर को ही देखें तो उसकी रचना अत्यन्त दुरुह जान पडती है—इतनी दुरुह कि आज का भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान एव जन्तु विज्ञान के इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नही किया जा सकता, रचना करने की तो बात ही क्या। शरीर मे रक्त आदि धातु, प्राण तथा ज्ञानवाहक नाडियो का जाल बिछा हुआ है। यह नाडी जाल इतना सूक्ष्म एव परस्पर गुथा हुआ है कि उसकी पूरी जानकारी मानव शक्ति से बाहर है। त्वग् इन्द्रिय का समस्त शरीर मे व्याप्त रहना तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे से छोटे अश पर सवेदनशीलता व उसकी संचार शक्ति का विद्यमान होना, न्यूनाधिक मासपेशियो का यथास्थान सघटन एव विभिन्न अगो मे छोटे बडे जोडो का सामजस्य, सिर, भुजाओ, उदर आदि की चमत्कारी रचना, विभिन्न प्रकोष्ठो मे वात, पित्त, कफ के प्रतिष्ठान व सचार आदि की व्यवस्था, मुख, कण्ठ आदि मे ध्वनि के उपयोगी अवयवो का सन्निवेश, आमाशय, पक्वाशय एव विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अध. स्रोतो का नितात व्यवस्थित प्रसार आदि के रूप मे शरीर की रचना इतनी सुविचारपूर्ण, नियमित एव दृढ है कि किसी चेतन सत्ता की योजना के बिना जडमय भूततत्त्वो द्वारा स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। शरीर की भांति ही एक-एक फूल पत्ती मे—यहा तक कि एक-एक परमाणु की सरचना मे हमे विचित्र रचना कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध लेखक फिलण्ट का कथन है कि "यदि यह माना जाये कि प्रकृति के परमाणुओं ने स्वयमेव मिलकर इस विचित्र एव दुरूह सृष्टि की रचना करली तो यह भी मानना होगा कि शेक्सपीयर के नाटको की रचना अंग्रेजी भाषा की वर्णमाला के अक्षरो ने उछल उछल कर स्वय कर डाली। इस नाम से प्रसिद्ध किसी नाटककार—चेतन प्राणी—का इसमे कोई हाथ नही।"

ऋग्वेद (१०-७२-२) के शब्दो मे यही मानना पडता है कि—

'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसत सदजायत।'

दिव्य लोक लोकान्तरो की रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म ने इन समस्त लोको का इसी प्रकार निर्माण किया जैसे कोई शिल्पी उपयुक्त साधनो से कार्य की रचना किया करता है। इस प्रकार यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त अवस्था मे आजाता है ॥६॥

प्रयोजनवत्त्वात् ॥७॥

सप्रयोजन होने से।

सृष्टि मे प्रत्येक वस्तु और घटना का कोई प्रयोजन होता है। सूर्य समुद्र से जल खीचता है, किन्तु उसके क्षारीय अश को वही छोड देता और केवल शुद्ध जल को ग्रहण करता है। आकाश से जल न बरसे तो धरती पर प्राणी न रह सकें। सूर्य के द्वारा जल खिचते खिचते समुद्र न सूख जाये और इधर धरती जल मे न डूब जाये, इसलिए ससार के काम आने के बाद वही जल नदी नालो के रूप में बह कर फिर समुद्र मे जा पडता है। प्राणी आक्सीजन से जीता है और वृक्ष कार्बन से। वृक्षो द्वारा प्रदत्त आक्सीजन से प्राणी जीते रहते हैं और प्राणियो द्वारा उत्पन्न कार्बन को वृक्षादि ग्रहण करते रहते है। इस प्रकार 'देहि मे ददामि ते' के अनुसार वृक्षादि तथा जीव दोनो का जीवन बना रहता है। पृथ्वी पर बडे परिमाण मे उगा घास पात एक ओर क्षाकाहारी प्राणियो का पेट भरता है तो दूसरी ओर रोगो को दूर करने के लिए ओषधरूप मे परिणत हो काम देता है। वर्षा से वनस्पति जगत् को जीवन मिलता है तो वृक्षादि वर्षा होने मे सहायक होते हैं। प्राणियो के शरीरागो की रचना भी सप्रयोजन है। जैसे मशीन मे हरेक पुर्जा नियत प्रयोजन के लिये यथास्थान लगा होता है वैसे ही प्राणियो के शरीर मे एक एक अग प्रयोजन विशेष के लिये यथास्थान लगा है। न हाथो की जगह पैर और पैरो की जगह हाथ लगाये जा सकते हैं और न पीठ पर आखो को फिट किया जा स[illegible] है। शरीर के एक एक अग की रचना ही नही उनका प्रयोजन [illegible]। एक हृदय को ही लें। यह

अकेला शरीर से अशुद्ध रक्त को लेता (ह), शुद्ध करने के लिए फेफड़ो को देता (द) और उनसे शुद्ध रक्त लेकर शरीर मे गति करने के लिये भेजता (य) है। इसी लिये निरुक्त मे यास्काचार्य ने कहा—'हृदय कस्मात्—हरति, ददाति, याति'।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी अर्थ—उपयोग के लिये बना है। मनुष्य के नेत्रो का अर्थ है—देखना। यदि बाहर पदार्थ न होते तो आखो का होना व्यर्थ था। इसी प्रकार यदि बाहर शब्द-स्पर्श-रस-गध न होते तो इनकी ग्राहक इन्द्रियां श्रोत्र, त्वचा, रसना और नासिका का होना व्यर्थ था। इन्द्रियो के अभाव मे इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था।

सूर्य हमसे करोड़ो मील दूर है, किन्तु इतनी दूर होने पर भी हमारे जीवन से जुडा है। इसीलिये उसे 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' चराचर जगत् का आत्मा कहा गया हैं। सूर्य मे होने वाले तनिक से परिवर्त्तन का प्राणी तथा वनस्पति जगत् पर गहरा प्रभाव पडता है। ऐसी ही स्थिति चन्द्रमा की है। चन्द्रमा का मन से, वायु का प्राण से और सूर्य का चक्षु से सीधा सम्बन्ध है!

इस समय पृथ्वी का जितना आकार है और सूर्य से जितनी दूरी है तथा अयन मे घूमने की जो उसकी गति है उसी के कारण पृथ्वी पर जीवधारियो का रहना सभव है। इसी स्थिति मे ये प्राणियो का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इनमें न्यूनाधिक्य करते ही सब अस्त व्यस्त हो जायेगा। इस व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि यह सृष्टि स्वत उद्भूत न होकर किसी चेतन सत्ता द्वारा रचित है ॥७॥

नियमोपपत्तेः ॥८॥

नियमो की सिद्धि से।

सृष्टि का सचालन किन्ही नियमो के आधार पर हो रहा है। नियमबद्धता ही प्रकृति मे परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियो और नियमबद्धता से अनुशासित विश्व ही परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है। विश्व के वृहद् आकार, ग्रहो नक्षत्रो की अगणित सख्या और उन सब पर शासन करने वाले नियमो के वैविध्य को देख कर बुद्धिपूर्वक नियोजन करने वाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पडता है। यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी सगति को प्रकट करने के लिये नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमो की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य की सारी बुद्धि इसी काम मे लगी है।

नियम क्या हैं?—ज्ञात तथ्यो का साधारणीकरण। जो नियम आज सत्य है वे कल भी सत्य रहेगे और परसो भी—जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो —इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा

करना व्यर्थ हो जाये और समस्त वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाये। किसी सर्वोच्च चेतना और मस्तिष्क के विना नियमो पर आधारित व्यवस्था नही बन सकती। विश्व के चमत्कारो ने निष्पक्ष ज्यतिर्विदो को किसी ऐसी अज्ञात, और कदाचित् अज्ञेय, शक्ति पर विश्वास करने को विवश करदिया है जो विश्व की विशालता और नियमवद्धता के लिये जिम्मेदार है।

तत्त्वो की नियतकालिक सूची भी अनुपम व्यवस्था के ढग से सब मूल तत्त्वो का सग्रह है जिसमे नियतकाल के पश्चात् सदृशगुण या विशेषतायें घटित होती रहती हैं। जैसे मकान की एक ईंट दूसरी से जुडी रहती है वैसे ही सूर्य चद्रमा से, चन्द्रमा पृथ्वी से, पृथ्वी वनस्पति से और वनस्पति जीवजन्तुओ से जुडी है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'—वडी से वडी वस्तु से लेकर छोटी से छोटी वस्तु तक मे एक ही से नियम काम कर रहे हैं। सूक्ष्मतम परमाणु भी सौरमण्डल का ही छोटा रुप है।

सृष्टि का सचालन कर रहे असख्य नियमो मे से ज्यो ही हमे किसी नियम का पता चलता है त्यो ही वह नियम चिल्ला कर कहता है—'मेरा निर्माता ईश्वर है। तुमने तो वस मुझे खोज निकाला है।' परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढाचे मे व्यवस्था की कल्पना करना ऐसा विरोवाभास है कि जिसका कोई अर्थ नही वनता। व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा वगीचे की शोभा और सौन्दर्य को सराहना, परन्तु माली के अस्तित्व को स्वीकार न करना ॥८॥

क्रमोपलब्धे ॥९॥

क्रम या सगति पाये जाने से।

किसी सेना मे सौ दो सौ की टुकडी भी ऐसी नही मिलेगी जो निदेशक के विना एक साथ पाव उठाती धरती हो या क्रमवद्ध अगसचालन करती हो। परतु सृष्टि मे असख्य ग्रह उपग्रह हैं जो अपनी अपनी धुरी और परिधि मे गति कर रहे हैं। परन्तु लाखो करोडो वर्ष वीत जाने पर भी एक दूसरे के मार्ग मे आकर नही टकराये। सब अपने अपने रास्ते चले जा रहे है। इसीलिये सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सदियो पहले की जा सकती है। ज्वार भाटे के निश्चित समय की पहले से ही जानकारी रहने के कारण यथासमय जहाज़ चलाये जाते हैं। चक्रवर्ती राजा के कार्यालय मे नियमपूर्वक जानेवाले कर्मचारी भी कभी कभी देर से पहुच पाते हैं। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम मे कभी एक पल भी इधर उधर नही हो पाता। दिन के वाद रात और रात के वाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओ का चक्र घूमता रहता है। पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है। ऐसा कभी नही हो सकता कि पहले फल आजाये और फिर फूल

खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। इस प्रकार की क्रमबद्धता और कार्यकारण शृंखला का बने रहना प्रभुसत्ता सपन्न विश्वात्मा के बिना सभव नही ॥९॥

स्वस्वामित्वभावात् ॥१०॥

स्व-स्वामी सम्बन्ध होने से।

जहां स्वत्व होता है वहा कोई न कोई उसका स्वामी अवश्य होता है। छोटे से छोटे पदार्थ से लेकर बड़े से बड़े पदार्थ मे यह नियम पाया जाता है। तब इस विराट् सृष्टि का स्वामी भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। प्रकृति जड होने से स्वामित्व की योग्यता नही रखती। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं परिच्छिन्न होने से कोटानुकोट भूमण्डलो का स्वामी होने मे असमर्थ है। परमात्मा के लिये 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग वेद, उपनिषद् आदि मे अनेकत्र पाये जाने से वही इसका एक मात्र स्वामी स्वतः सिद्ध है। उदाहरणार्थ–'यो विश्वस्यजगतः प्राणतस्पति' (ऋक्० १-१०१-५) अर्थात् जो समस्त चराचर का स्वामी है। 'य. प्राणतो निमिपतो महित्वैक इद्राजा जगतो वभूव' (यजु० २३-३) अर्थात् जो अपने महत्त्व के कारण चराचर जगत् का एकमात्र राजा है।

'भूतस्य जात. पतिरेक आसीत्' (यजु० १३-४) अर्थात् जो उत्पन्न जगत् का स्वामी है।

'स सर्वेपा भूतानामधिपति' (बृहद्० २-२-१५) अर्थात् वह सब भूतो का अधिपति है ॥१०॥

परिच्छेदगुणादिविपर्ययात् ॥११॥

परिच्छेद तथा गुणो आदि का विपर्यय होने से।

वस्तुकृत, कालकृत तथा देशकृत तीन परिच्छेद कहाते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के स्वरूप मे न होना 'वस्तुकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पहले थी, अब नही है अथवा आगे नहीं होगी–यह 'कालकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पूर्व मे है, पश्चिम में नही–यह 'देशकृत' परिच्छेद है। सत्त्व-रजस् और तमस् तीन गुण हैं। ये तीनो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रतिनिधि हैं। जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं सभी वस्तुकृत, कालकृत और देशकृत परिच्छेद वाले हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण सभी पदार्थों मे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का गुण पाया जाता है। ससार मे जो भी वस्तु है उसका उल्टा अर्थात् विपर्यय अवश्य होता है। अत यदि परिच्छेदो वाले पदार्थ हैं तो उन परिच्छेदो से रहित भी कोई पदार्थ होना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृति मे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है तो कोई सत्ता ऐसी भी होनी चाहिये जो त्रिगुणा-

तीत होने से इन अवस्थाओ से परे हो । वही ईश्वर है ॥११॥

आश्रयाऽश्रयिभावात् ॥१२॥

आश्रय-आश्रयी भाव से ।

छोटी वस्तु वडी वस्तु के सहारे रहती है । सहस्रो मनुष्य एक जलयान का आश्रय ले यात्रा करते हैं मनुष्य छोटे हैं, जलयान वडा । इसलिये वे जलयान का सहारा लेते हैं । इसी प्रकार जलयान अपने से वडे समुद्र के सहारे और समुद्र पृथ्वी के सहारे रहता है । आश्रय-आश्रयी भाव का यह क्रम जहा जाकर समाप्त होता है वह सवसे वडा 'ब्रह्म' है ॥१२॥

सापेक्षत्वात् ॥१३॥

सापेक्षता के कारण ।

ससार मे प्रत्येक पदार्थ किसी से छोटा और किसी से वडा होता है । अणु परिमाण से मध्यम परिमाण वड़ा है, और मध्यम परिमाण से महत् परिमाण वडा है । इस प्रकार पृथिव्यादि तत्त्वो के समुच्चय से वने ब्रह्माण्ड से और अल्पज्ञ एव परिच्छिन्न जीवात्मा से भी कोई वडा होना चाहिये । प्राकृतिक पदार्थ तो सभी सीमा वाले हैं। इसलिये वही शक्ति जो विद्युत् आदि के समान प्राकृतिक नही और निराकार होने से जिसकी कोई सीमा नही, सवसे महान् है—वही ब्रह्म है। अनन्त के विना सान्त की सिद्धि नही हो सकती ॥१३॥

आकर्षणहेतुत्वात् ॥१४॥

आकर्षण का हेतु होने से ।

प्रत्येक पदार्थ अपने से महान् सजातीय की ओर खिचा जा रहा है। जैसे—नदियाँ समुद्र की ओर खिची चली जाती हैं । फिर यह जीवात्मा किस की ओर खिच रहा है ? जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओ के आकर्षण के हेतु अन्यान्य प्राकृतिक वस्तुए हैं उसी प्रकार जीवात्मा के आकर्षण का केन्द्र भी अपने से वडा उसी का सजातीय होना चाहिए । सच्चित्स्वरूप जीवात्मा से वडी ऐसी शक्ति सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही है ॥१४॥

श्रुतियोनित्वात् ॥१५॥

ऋग्वेदादि के रूप मे ज्ञान का कारण—आदिमूल होने से भी ईश्वर सिद्ध होता है।

नैमित्तिक ज्ञान के विना मनुष्य का काम नही चल सकता—यह अनेकश सिद्ध हो चुका है । गुरु परम्परा को यदि हम पीछे की ओर लेजायें तो उसमे अनवस्था दोप आता है । इसका पर्यवसान सृष्टि के आदि मे पहुच कर ब्रह्म मे होता

है जिससे पहले और कोई न था । इसलिये 'पूर्वेपामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्' वही कालावच्छिन्न ब्रह्म मनुष्य के नैमित्तिक ज्ञान का कारण–आदि स्रोत है । उसी से सृष्टि के प्रारम्भ मे ऋग्वेदादि के रूप मे समस्त सत्य विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ । उन्ही से लौकिक अलौकिक ज्ञानो का उपबृंहण हुआ । सूर्य के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक वेदो का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव नहीं । किसी विशेषज्ञ आचार्य के द्वारा जब किसी विपय का प्रतिपादन किया जाता है तो रचना के यथासभव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता का ज्ञान उसकी अपेक्षा अधिक ही रहता है । तब यह ऋग्वेदादि शास्त्र- जिनका ऋपियो ने व्याख्यान रूप से अनेक शाखाओ मे विस्तार किया और आज भी कर रहे हैं, जिनमे जड जगत् तथा प्राणि जगत् एव मानव समाज के वर्णाश्रम धर्म आदि का विस्तार से वर्णन है, और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त तत्त्वज्ञान की खान हैं–पुरुष के श्वासोच्छ्वास के समान अनायास उस महान् सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ, यह नितान्त सत्य है ।

बृहदारण्यकोपनिपद् (२-४-१०) मे इस भाव को 'अस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेद' कह कर व्यक्त किया है । स्वय यजुर्वेद (३२-७) का मन्त्र इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है—

'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥'

विश्व के आधार यज्ञरूप ब्रह्म से ऋक्, साम, छन्द (अथर्व) और यजुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ । रूपात्मक जगत् के समान शब्दात्मक ऋग्वेदादि शास्त्र का भी कारण ब्रह्म होने से उसका अस्तित्व सिद्ध है ॥१५॥

समन्वयाच्च ॥१६॥

जगत् और वेद के समन्वय से भी ।

ऋग्वेदादि शास्त्र और जगत् के समन्वय–पारस्परिक सामंजस्य से भी यह बात प्रमाणित होती है कि दोनो का रचयिता एक है । जो ईश्वरीय ज्ञान शब्द अर्थात् सिद्धान्त रूप मे वेद हैं वह प्रयोगात्मक स्थिति मे जगत् है । वेदो मे सृष्टिविपयक जो सकेत मिलते हैं सृष्टिक्रम के साथ उनका सन्तुलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न शास्त्र मे कोई ऐसा वर्णन है जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो और न सृष्टि मे कोई ऐसी बात दीखती है जो शास्त्र के विपरीत हो । शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है । मनुस्मृति में लिखा है कि 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' अर्थात् वेदो के शब्दो के अनुसार ही पदार्थों का नामकरण किया गया । आगे चलकर महाभारतकार ने भी–'वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वर' अर्थात् ईश्वर ने वस्तुओ के नाम वेद के शब्दो से निर्माण किये—

कहकर इस मान्यता को पुष्ट किया। पद (नाम) वेदो मे है, पदार्थ (रूप) जगत् मे। इस प्रकार विश्व की उभयविध नामरूपात्मक रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है ॥१६॥

पुरुषकर्माफल्यदर्शनापत्तेः ॥१७॥

पुरुष के कर्मों की असफलता देखे जाने से।

कर्मफल अवश्यम्भावी है। किन्तु जड होने से कर्म स्वय फल नही दे सकते और तात्कालिक होने से वे कालान्तर मे फल उत्पन्न नही कर सकते। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् जान नही सकता और अल्पशक्ति होने से वह उन सब साधन व सामग्री को अपने सीमित सामर्थ्य से जुटा नही सकता जो फलभोग की व्यवस्था के लिये अपेक्षित है। कोई भी जीव अपने अशुभ कर्मों का फल भोगना नही चाहता। कोई भी मनुष्य अपराध करके स्वय वन्दीगृह मे नही जाता किन्तु राज्य व्यवस्था से पकडा जाकर ही यथोचित दड पाता है। यदि केवल कर्म ही शरीरधारण मे निमित्त हो तो कोई जीव निकृष्ट योनियो मे अथवा मनुष्य योनि मे भी किसी दरिद्र के घर मे कभी जन्म नही लेगा। अत कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नही हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जीवात्माओ के कर्मफलो की व्यवस्था करने मे समर्थ है। किस कर्म का फल कब, कहा, किस रीति पर, किन साधनो द्वारा, किन परिस्थितियो मे भोगा जा सकता है—इस स्थिति को ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नही जान सकता। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-११) मे उसे 'कर्माध्यक्ष' के नाम से पुकारा गया है। ईश्वर के अभाव मे यह सब सभव न होगा ॥१७॥

अब ईश्वर के स्वरूप का निरुपण करते हैं :

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर ॥१८॥

अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मफल तथा आशय (अनादि काल से सचित कर्मो का भण्डार)—इन सबके सम्बन्ध से सर्वथा अछूते चेतन आत्मतत्त्व विशेष का नाम ईश्वर है।

पुरुष पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनो के लिए किया जाता है। जैसा चेतन तत्त्व जीवात्मा है वैसा ही चेतन तत्त्व परमात्मा है। उनके चेतन स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न परिमाण है और अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग, द्वेष आदि से अभिभूत हो जाता है। इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परममहत्परिमाण, सत्यसकल्प आदि है तथा अधर्म आदि से कभी अभिभूत नही होता। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेश आदि जीवात्म-धर्मों से सर्वथा अलिप्त रहने के

कहा गया है—'ईश्वर सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—ईश्वर सब प्राणियों के हृदय मे वास करता है। इसी प्रकार उपनिषद् (श्वे ६-११) मे भी उसे 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' बताया गया है। हाडमास से बने पुतले का सर्वव्यापी होना असम्भव है और सर्वव्यापी न होने पर वह सर्वज्ञ तथा सर्वनियन्ता नहीं रह सकता ॥२१॥

किन्तु हम देहधारी मनुष्यो को शासन व्यवस्था करते देखते है—इस शंका का समाधान करने के लिये कहा है—

परिमिते वस्तुनि परिमिता एव गुणकर्मस्वभावा. ॥२२॥

परिमित वस्तु के गुण कर्म और स्वभाव भी सीमित होंगे।

देहधारी मनुष्यों का शासन क्षेत्र सीमित होता है। समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना मे तो वडे से वडा साम्राज्य भी एक अणु से अधिक नही निकलेगा। फिर देहधारी मनुष्य की शासन व्यवस्था न पूर्ण होती है और न निर्दोष। देहधारी कितना ही महान और शक्तिशाली क्यो न हो उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं न कहीं अवश्य होगी। यह निर्विवाद है कि शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने तथा उसकी व्यवस्था करने मे समर्थ हो सकता है। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी एकदेशी उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सके ॥२२॥

लोक मे कोई कर्त्ता अधिष्ठाता विना शरीर के नही होता। इस लिए ब्रह्म पुरुष के शरीरी होने की कल्पना की जा सकती है। इसका विवेचन अगले सूत्र मे किया गया है—

संयोगादुत्पद्यमानस्य संयोजयितान्य एव ॥२३॥

जो सयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला उससे भिन्न होना चाहिये।

यदि विना शरीर के कोई रचना नही कर सकता तो परमेश्वर के भी आख कान आदि अवयवों को वनाकर उसे साकार करने वाला उससे भिन्न कोई शरीरी पुरुष होना चाहिये। फिर उस पुरुष की रचना करने वाला उससे भिन्न कोई और पुरुष होना चाहिये। इस प्रकार करते रहकर अनवस्था दोप आ जायेगा। यह निश्चय है कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्वद्ध होता है उसका निर्माता वह पुरुष स्वयं नही हो सकता ॥२३॥

इस पर कोई कहता है कि—

स्वयमेव निर्मितमात्मन शरीरं सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥२४॥

सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर ने अपना शरीर आप ही आप वना लिया।

कोई पुरुष अपने शरीर का निर्माता स्वयं नही हो सकता—यह वात अस-

दादि के लिए तो ठीक है। किन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर यह सिद्धान्त लागू नही होता। वह जो चाहे कर सकता है ॥२४॥
पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत इस तर्क का उत्तर अगले सूत्र मे दिया है—

देहधारणात्प्राक् तस्याकायत्त्व सिद्धम् ॥२५॥

सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ नही कि परमात्मा जो चाहे कर सकता है। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लिया जाये कि परमेश्वर ने स्वय अपना शरीर वना लिया तो भी शरीर धारण करने से पूर्व उसका निराकार अर्थात् अकाय होना सिद्ध होगया। फिर यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वय शरीरी हुए विना कर सकता है तो विना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कर सकेगा। यदि समस्त विश्व की उसके शरीर के रूप मे कल्पना कीजाय, तो इसमे कोई आपत्ति नही ॥२५॥

परमेश्वर को शरीरी मानने पर और भी कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिनका विवेचन आगे के सूत्रो मे किया गया है—

अनित्यं ब्रह्म सावयवत्त्वात् ॥२६॥

सावयव होने पर ब्रह्म अनित्य हो जायेगा।

निरवयव नित्य शरीर की कल्पना व्यर्थ है, ब्रह्म का नित्य, निरवयव सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी स्वरूप तो शास्त्रानुसार स्वीकार किया हुआ है। सावयव मानने पर निश्चित रूप से वह एकदेशी और अनित्य हो जायेगा। सर्ग से पूर्व उसका अस्तित्व नही होगा और जव अशरीर ब्रह्म द्वारा जगत्सर्ग होगया तो वाद मे उसका शरीरी होना व्यर्थ है ॥२६॥

अगले सूत्र मे एतद्विषयक एक शका को प्रस्तुत किया गया है।

सावयवत्त्वं देहाङ्गवर्णनात् ॥२७॥

देहागो का शास्त्रो मे वर्णन पाये जाने से ईश्वर का सावयव शरीरी होना सिद्ध है।

वेदादि शास्त्रो मे अनेकशः ईश्वर के शरीरागो का वर्णन उपलब्ध है। 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्' (ऋ० १०-९०-१, यजु ३१-१) 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो वाहुरुत विश्वतस्पात्' (अथर्व १३-२-२६) 'सर्वतोमुख', (यजु० ३२-४) 'सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वे० ३-१६) आदि अनेक वाक्यो से ईश्वर का शरीरी होना सिद्ध होता है ॥२७॥

इसका समाधान अगले सूत्र मे किया है।

कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। कठोपनिषद् (५-११) मे इसी
को व्यक्त करते हुए कहा गया है–'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते च
पैर्वाह्यदोषैं। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्य' जैसे
सव लोक का चक्षु होकर चक्षु मे होने वाले वाह्य दोषो से प्रभावित–दूषित
होता वैसे एक परब्रह्म सव भूतो मे व्याप्त होता हुआ लोकदुःख मे दुःखी
होता।' स्पष्ट है, जीवात्मा भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्म क
और उनके फलो को भोगता हुआ ससार मे लिप्त रहता है जवकि परमात्मा
से अलिप्त रह कर सवकी व्यवस्था करता है ॥१८॥

ईश्वर की सर्वव्यापकता का निरूपण अगले सूत्र मे किया गया है—

ईशावास्यं जगत् ॥१९॥

समस्त ससार ईश्वर से व्याप्त (आच्छादित) है।

परब्रह्म परमात्मा विश्व के कण कण मे व्याप्त है। परमात्मा के लिए श
मे अनेक स्थानो पर 'सर्वव्यापी' और 'सर्वगत' आदि पदो का प्रयोग हुआ
श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-१६) मे कहा गया है कि 'सर्वव्यापिनमात्मान
सर्पिरिवार्पितम्' परमात्मा दूध मे घी की भाति अदृष्ट रूप मे सृष्टि मे समाया
यजुर्वेद (३२-८) मे वताया है—'स ओत प्रोतश्च विभूः प्रजासु' वह परम
सर्वव्यापक होता हुआ सव प्रजाओ मे ओतप्रोत हैं। ऋग्वेद (१०-९०-१) के
सार 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्' वह पृथिवी आदि लोकलोकान्तरो को
ओर से घेरे हुए है। 'वस्' धातु का 'वसने' तथा 'आच्छादने' दो अर्थो मे
होता है। इन दोनो अर्थो को व्यक्त करते हुए यजुर्वेद (४०-५) मे कहा
है–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः' वह परमात्मा सव पदा
अन्दर भी विद्यमान रहता है और वाहर भी। गीता मे भी उसे 'वहिर
भूतानाम्' वताया है। जव पानी केवल क्यारी के भीतर होता है तो वह
के आकार वाला दीखता है किन्तु जव अन्दर वाहर सर्वत्र आप्लावित रह
तो आकारहीन हो जाता है। इसी प्रकार यदि परमात्मा अन्तर्यामी रूप से
जीवात्मा के भीतर विद्यमान होता तो सम्भव है उसके आकार की कल्पन
जा सकती। किन्तु अन्दर वाहर सर्वत्र व्याप्त होने से वह आकारहीन हो
है। उसी परमेश्वर को मुण्डकोपनिषद् (१-१-६) में 'नित्य विभु सर्वगत
क्ष्मम्' अत्यन्त सूक्ष्म सर्वव्यापक विभु और नित्य कहा है ॥१९॥

परमात्मा के सर्वव्यापी होने का कारण है उसका निराकार होना, यह
अगले सूत्र में दर्शाई गई है—

वेदादि समस्त आर्य ग्रन्थो मे ईश्वर को निराकार माना गया है। यजुर्वेद (४०-८) मे उसे स्पष्ट रूप से 'अकाय' अथवा शरीर रहित कहा गया है। 'अकाय' कह देने के बाद 'अव्रणमस्नाविरम्' (व्रण तथा नसनाडियो से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी—इसका स्पष्टीकरण करते हुए उव्वट ने अपने वेदभाष्य मे लिखा है—'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्त इत्यदोष' अर्थात् बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गई पुनरुक्ति मे कोई दोष नही है। महीधर ने भी यास्काचार्य के 'अभ्यासे भूयासमर्थं मन्यन्ते' (निरुक्त १०-४२) को उद्धृत करके 'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय' अर्थातिशय को व्यक्त करने के उद्देश्य से की गई पुनरुक्ति को निर्दोष माना है। दोनो भाष्यकर्ताओ ने 'अकायत्वादेव शुद्धमनुपहत सत्त्वरजस्तमोभिरपापविद्ध क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्' अकाय होने के कारण ही परमेश्वर को शुद्ध अर्थात् सत्त्वरजस्तम के प्रभाव से असम्पृक्त तथा योगदर्शन (स पा.२४) के अनुसार अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है। महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए कहा है—'अकायोऽशरीर लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेध' अर्थात् 'अकाय' के साथ 'अव्रण' तथा 'अस्नाविर' इन दो विशेषण पदो के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है। केनोपनिषद् (१-२-२२) मे भी उसे 'अशरीर शरीरेषु' लोगो के शरीर मे रहते हुए भी शरीर रहित कहा है ॥२०॥

शरीरधारी हो जाने पर परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान् आदि कुछ भी न रहेगा क्योकि—

न ह्यप्राप्तदेशे कर्त्तु क्रिया ॥२१॥

जहा कर्त्ता नही होता वहा उसकी क्रिया नही होती।

यदि परमात्मा को शरीरी माना जाये तो वह एकदेशी हो जायेगा। एक देश मे अवस्थित हो जाने पर उसका समस्त ससार के साथ सम्बन्ध नही रह सकेगा जो विश्व के सचालन और नियन्त्रण के लिये आवश्यक है। शरीरी एकदेशी परमात्मा अनन्त विश्व का न सचालन कर सकेगा न अनन्त जीवात्माओ के कर्मफल आदि का नियन्त्रण। अथर्ववेद (४-१६-२) मे कहा है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलाय चरति य प्रतङ्कम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीय ॥

अर्थात् जो मनुष्य खडा है या चलता है, जो दूसरो को ठगता है, जो छिप कर कुछ करतूत करता है, जो किसी पर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर गुप्त मत्रणा करते हैं उसे भी तीसरा होकर वरुण भगवान् जानते हैं। शरीरी एकदेशी ईश्वर यह काम कैसे कर सकेगा ? गीता मे

तत्त्वौपचारिकम् ॥२८॥

यह तो केवल औपचारिक एवं आलंकारिक है।

वेदादि शास्त्रों मे जहा कहीं भी इस प्रकार का कथन है वह परमात्मा में काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है जिसका अभिप्राय आलंकारिक रूप से उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता एवं सर्वशक्तिमत्ता को प्रगट करना मात्र है। 'सहस्र' पद भी यहा अनेक अथवा अनन्त का द्योतक है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद (१०-७-३२, ३३, ३४) मे ब्रह्म के विराट रूप का वर्णन द्रष्टव्य है—

यस्य भूमि प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिव यश्चक्रे मूर्धान तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम॰ ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णव॰।
अग्नि यश्चक्र आस्य तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥
यस्य वात प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुन पुन नवीन होता चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान है और समस्त प्रकाश जिसके चक्षु हैं, दिशाओं को जिसने व्यवहार साधन बनाया उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् मे पाया जाता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायु प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्दसूर्य जिसके नेत्र है, दिशा श्रोत्र और वेदवाणी हैं, वायु प्राण एव विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर है—यही समस्त जगत् का अन्तरात्मा है।

इस समूचे वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने के बाद कौन कह सकता है कि यहा ब्रह्म के प्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आख आदि का उल्लेख है। उसके सहस्र सिर, पैर, आख आदि का कथन उसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृतिक जगत की उसके शरीर के रूप मे कल्पना करना सर्वथा औपचारिक अथवा आलकारिक है। इससे परमात्मा का शरीरी होना सिद्ध नही होता। शरीरी होने पर ब्रह्म विकारी हो जायेगा ॥२८॥

क्योंकि—

सकायत्वे शीतोष्णक्षुत्तृषारोगच्छेदनभेदनादिदोषाणामाविर्भाव ॥२९॥

साकार ईश्वर शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि विकारो से ग्रस्त होगा।

शरीरी होने पर ईश्वर इन्द्रियों से युक्त होगा। इन्द्रियो से युक्त शरीर कर्म व भोगादि के लिए होता है। पञ्चभूतो से निर्मित शरीर सब प्रकार के

द्वन्द्वो से प्रभावित हुए विना न रहेगा। जिस प्रकार शरीरधारी जीव आचरण करता है वैसे ही ईश्वर को भी करना होगा। इससे ब्रह्म विकारी होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को खो बैठेगा।

ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है। किन्तु जब वह स्वय अपने अस्तित्व-शरीर के लिए उस पर अवलम्बित और उसके विकारो से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा किस प्रकार कर सकेगा ॥२९॥

यदि ईश्वर निराकार है तो सृष्टि सम्वन्धी कार्य कैसे कर सकता है—इसका समाधान अगले सूत्र मे किया गया है—

इन्द्रियाभावे तत्कार्यानुष्ठानं सर्वान्तर्यामित्वात् ॥३०॥

इन्द्रियो के न होने पर भी वह इन्द्रियो और अन्त करण से होने वाले समस्त कार्य सर्वान्तर्यामी होने के कारण अपने सामर्थ्य से करता है।

चेतन ब्रह्म को अपने कार्य सम्पादन करने व वस्तु ज्ञान के लिए करण अपेक्षित नहीं होते। इन्द्रियो की साधन रूप मे आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए पडती है। दूसरे तक अपनी बात पहुचाने के लिए वाणी की आवश्यकता होती है किन्तु अपने से वात करने मे नही। बाहर पडी वस्तु को उठाने के लिए हाथ की आवश्यकता है किन्तु स्वय हाथ को उठाने के लिए नही। इसी प्रकार जहा कोई नही है वहा पहुचने के लिये उसे पैरो की आवश्यकता होती है। क्योकि परमेश्वर 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत' सवके अन्दर बाहर ओत-प्रोत है, इसलिये उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया करनी नही पडती। फिर उसे करणो (इन्द्रियो) की अपेक्षा क्यो हो ? यजुर्वेद (४०-४) में परमात्मा को 'अनेजत्' (न हिलने वाला) और 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' (स्थिर रहते हुए दौडने वालो से आगे निकल जाने वाला) इसीलिए कहा है कि सर्वव्यापक होने से वह 'पूर्वमर्षत्' जहा पहुचना है वहा वह पहले से ही हैं। वेद मे जो ब्रह्म को 'सहस्रशीर्ष' 'सहस्राक्ष' 'सहस्रपाद' आदि पदो से अलकृत किया गया है वह उसकी विविध शक्तियो का द्योतक है। अपने बाह्य अग व इन्द्रिया न रखते हुए भी सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह सब शक्तियो का स्रोत है ॥३१॥

अन्यत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—यह अगले सूत्र मे दर्शाया है।

उपनिषद्वचनाच्च ॥३१॥

उपनिषद् का वचन होने से भी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (३-१७)तथा गीता (१३-१४) मे कहा है—'सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' अर्थात् इन्द्रियो से रहित होने पर भी वह सव

विषयों को ग्रहण कर लेता है। अन्यत्र (३-१६) इसी का व्याख्यान करते हुए कहा गया है–'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स श्रृणोत्यकर्णः' अर्थात् उसके हाथ पैर नही हैं पर इसके बिना ही वह सर्वत्र प्राप्त है और सबको थाम रहा है। आखे नही हैं, पर सबको देखता है, कान नहीं हैं, पर सब कुछ सुनता है ॥३१॥

न हि तस्यावतार श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥३२॥

वेद विरुद्ध होने से ईश्वर का शरीरधारी के रूप मे अवतार नहीं माना जा सकता।

यजुर्वेद (३४-५३) मे ईश्वर को 'अज' (कभी जन्म न लेने वाला) कहा गया है। यजुर्वेद (४०-८) मे ही उसे 'अकायमव्रणमस्नाविरम्' वताते हुए 'स्वयम्भू' नाम से पुकारा गया है। शकर स्वामी सहित सभी प्राचीन आचार्यो ने 'अकायम्' का अर्थ 'लिगशरीरवर्जितम्' किया है। लिंग शरीर 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' (सा० ३-९) अठारह घटक (पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाँच कर्मेन्द्रिया, पाच तन्मात्र, मन, बुद्धि और अहकार) अवयवो वाला होता है। इस प्रकार 'अकाय' कह देने से ईश्वर के सूक्ष्म शरीर का निषेध हो जाता है। इन्ही आचार्यो के अनुसार 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कह देने से उसके स्थूल शरीर का निषेध हो जाता है। 'स्वयम्भू' का अर्थ भी महीधर ने 'स्वय जन्म लेने वाला' न करके 'स्वयम्भूः स नित्य· ईश्वर' 'नित्य' किया है। ऋग्वेद (४-१-११) मे ईश्वर को 'अपादशीर्षा' (सिर और पैर से रहित) और १-१५२-३ मे 'अपादेति पद्वतीनाम्' अर्थात् पैर वालो मे विना पैर वाला वताया गया है। इस प्रकार वेद मे ईश्वर के अवतार के लेने का स्पष्ट निषेध है। अन्य ग्रन्थो में भी प्रतिषेध पाया जाता है ॥३२॥

उपनिषत्स्वपि प्रतिषेधात् ॥३३॥

उपनिषदो मे भी प्रतिषेध होने से।

श्वेताश्वतर (२-१) उपनिषद् मे कहा है—

वेदाहमेतमजर पुराण सर्वात्मान सर्वगत विभुत्वात्।
जन्मनिरोध प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

वह परमात्मा अजर, अमर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, विभु और नित्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह जन्म नही लेता।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (२-१-२) मे ईश्वर के अजन्मा होने का वर्णन करते हुए कहा गया है—

दिव्योऽह्यमूर्तः पुरुष स वाह्यान्यन्तरो ह्यज.।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर ॥

वह परमेश्वर अमूर्त, अन्तर्बहिः व्यापक, अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध तथा अत्यन्त सूक्ष्म है ।३६॥

जन्म लेने पर ईश्वर आवागमन के चक्र मे फस जायेगा—इसका विवेचन अगले सूत्र मे है—

अनन्तत्वात्तस्य ॥३४॥

उसके अन्त वाला-नाशवान् न होने से ।

जो शरीर ग्रहण करता है वह कभी न कभी इसका परित्याग भी अवश्य करता है । 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुव जन्म मृतस्य च' (गीता) जो पैदा होगा वह मरेगा अवश्य और जो मरेगा वह जन्म भी अवश्य लेगा । यदि जीवात्माओ की तरह ईश्वर भी कभी शरीर ग्रहण करेगा और कभी परित्याग, तो वह भी जीवात्मा की भाति जन्म-मरण के चक्र मे फसकर मोक्ष का अभिलाषी होगा । इस प्रकार वह प्रकृति और जीवात्म पुरुपो का अधिष्ठाता परब्रह्म न रहकर अन्तवला-विनाशी (अदर्शन हि नाशः) हो जायेगा । किन्तु ईश्वर तो नित्य तथा निर्विकार है । इसलिए वह अवतार नही ले सकता ॥३४॥

शरीर धारण करने पर ब्रह्म द्रष्टा न रहकर भोक्ता वन जायेगा । किन्तु वह भोगो से अलिप्त है । इसलिये शरीरी नही हो सकता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वात् ॥३५॥

क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित होने से ।

'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—प्रभु ने सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के साधन रूप मे की है । 'अनेक जन्म ससिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता) । इसी के निमित्त जीवात्मा वार-बार देह धारण करता है क्योकि 'भोगायतन शरीरम्' कर्मफल भोगने के लिए ही शरीर होता है । वस्तुत 'कर्मैव देहारम्भकारणम्' देह का कारण ही कर्म है । किन्तु परमेश्वर तो क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित है । इसलिये उसके शरीर धारण करने की कल्पना नही की जा सकती । आशिक साधर्म्य मात्र से जीवात्मा के समान उसका शरीर धारण करना नही वन सकता । इसमे ईश्वर के वैधर्म्य गुण वाधक है ॥३५॥

मिथ्याज्ञानाभावाच्च ॥३६॥

मिथ्या ज्ञान के न होने से ।

गौतम मुनि अपने न्याय-दर्शन में अपवर्ग प्राप्ति के सन्दर्भ मे कहते हैं—"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" (१-१-२) अर्थात् मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म तथा

जन्म से दुःख होता है। यहा जन्म के मूल मे मिथ्या ज्ञान है। क्योकि परमात्मा मे मिथ्या ज्ञान का अभाव है इसलिये इसके जन्म लेने का प्रश्न ही नही उठता।

सर्वव्यापक होने से भी परमेश्वर का सृष्टि मे आना जाना नही बनता—यह तर्क उपस्थित करते हुए कहा है—

न तस्य प्रवेशनिर्गमौ अनन्तत्वात् विभुत्वाच्च ॥३७॥

अनन्त और सर्वव्यापक (विभु) होने से, भी उसका आना जाना नही है।

आना जाना वहां होता है जहा कोई न हो। जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं आता जाता नही वैसे ही अनन्त और सर्वव्यापक होने से परमात्मा का कही आना जाना सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए उसका किसी के गर्भ मे आना या उसमे वाहर निकलना असम्भव है क्योकि वह सदा से गर्भ के अन्दर भी विद्यमान है और वाहर भी। फिर 'भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर'—इतने विशाल आकार (काल्पनिक) वाला अनन्त ब्रह्म किसी नारी के गर्भ मे कैसे समा सकता है? जो परमेश्वर विना शरीर धारण किये अपने अनन्त सामर्थ्य से समस्त ब्रह्माड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सकता है उसका छोटे मोटे काम करने के लिये शरीर धारण करने का विचार भी हास्यास्पद लगता है ॥३७॥

आर्षवचनादपि ॥३८॥

ऋषियो के कथन से भी ईश्वरावतार का निषेध है।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियो ने भी एक स्वर से ईश्वर के शरीर धारण करने के विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। इस सन्दर्भ मे वेदान्त दर्शन के कुछ सूत्र द्रष्टव्य हैं—

'पत्युरसामजस्यात्'—शरीरधारी जगत् का स्वामी नही हो सकता।

'सम्वन्धानुपपत्तेश्च'—देहधारी परमात्मा एकदेशी होगा। एकदेशी होने से उस का सम्वन्ध सम्पूर्ण ससार से न रह सकेगा।

'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'—शरीरधारी परमात्मा को कोई अधिष्ठान-आश्रय भी चाहिये जो कि हो नहीं सकता। यदि उसका आश्रय पहले से है तो वह सर्वकर्त्ता नही रहता।

'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'—शरीरधारी हमारी तरह सुख-दुःख का भोक्ता होगा। सुख-दुःख कर्मों के फलस्वरूप होंगे। कर्म, जड़ होने से, स्वय फल नही देते। इसलिए ईश्वर को कर्मफल देने के लिए किसी अन्य ईश्वर की अपेक्षा होगी। इससे अनवस्था हो जायेगी।

'उत्पत्त्यसम्भवात्'—शरीरधारी परमात्मा परिमित साधन वाला होने से सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय न कर सकेगा।

इन युक्तियों और प्रमाणो से परमात्मा के निराकार और अकाय सिद्ध होने पर भी कहा जा सकता है कि सर्वशक्तिमान् होने से वह जो चाहे कर सकता है। अब इसका समाधान करते हैं।

अन्यानपेक्षयैवोत्पत्त्यादिकर्त्तेति सर्वशक्तिमच्छब्दार्थ ॥३९॥

'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है ईश्वर का किसी अन्य के साहाय्य विना सृष्ट्युत्पत्ति आदि का कर्त्ता होना।

ईश्वर के जो स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, सब जीवो के कर्मो की यथायोग्य व्यवस्था करना आदि—उनके करने मे उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नही। इन्हे वह अपने अनन्त सामर्थ्य से कर लेता है। यही 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है। अपने गुणकर्म-स्वभाव और सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नही कर सकता। अपने को मार कर किसी दूसरे को ईश्वर नही बना सकता। इसी प्रकार वह ऐसा पत्थर नही बना सकता जिसे वह स्वय न उठा सके। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति, द्रव्यो के स्वाभाविक गुणो को विपरीत करना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हे वह नही कर सकता। इसलिए अपने करने के कार्यों मे विना किसी की अपेक्षा के करने मे समर्थ होना ही सर्वशक्तिमान् शब्द का अभिप्राय है ॥३९॥

न तु स्वेच्छाचारित्वम् ॥४०॥

स्वेच्छाचारिता नही।

'सर्वशक्तिमान्' होने का अर्थ यह नही कि परमात्मा जो चाहे कर सकता है। ईश्वर से ऊपर कोई नही है। तथापि यह समझ लेना, कि वह जो करे सो न्याय, भूल होगी। वह वैधानिक सम्राट् है जिसे अपने पूर्व घोषित नियमो को तोडने का अधिकार नही है। ईश्वरीय नियम सत्य और पूर्ण है। उनके विपरीत वह आचरण नही कर सकता। जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार कार्यो में प्रवृत्त करके जीव के कर्मस्वातन्त्र्य को छीन लेना, कृतहानि या अकृताभ्यागम का विचार किये बिना कर्मफल देना जैसे मनमाने कार्य करने की उसे छूट नहीं है। वन्ध्या के औरस पुत्र का विवाह वह नही करा सकता। आदि सृष्टि के पश्चात् वह माता पिता के सयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति नही कर सकता ॥४०॥

स्वार्थ से प्रेरित होकर ईश्वर कुछ नही करता क्योंकि—

अकामो हि परमेश्वर ॥४१॥

ईश्वर मे कोई इच्छा नही है।

इच्छा सुख विशेष देने वाली अप्राप्त वस्तु की होती है। कोई पदार्थ ऐसा नही जो ईश्वर को अप्राप्त हो या उससे उत्तम हो। पूर्ण सुखयुक्त (आनन्द-

स्वरूप) होने से उसे किसी सुख की अभिलाषा भी नही है। इसलिये ईश्वर मे इच्छा का होना सम्भव नहीं है। अथर्ववेद (१०-८-४४) मे उसे 'अकाम. रसेन-तृप्त. न कुतश्चनोन' अर्थात् स्वार्थ कामना से रहित, आनन्द से तृप्त तथा हर प्रकार मे पूर्ण (कहीं से न्यून नहीं) कहा गया है ॥४१॥

क्या परमात्मा त्रिकालदर्शी है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

सर्वज्ञ एव त्रिकालज्ञो जीवात्मकर्मापेक्षया ॥४२॥

जीव के कर्मों की अपेक्षा से ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण ही त्रिकालज्ञ है।

जो होकर न रहे वह 'भूतकाल' और जो न होकर हो जाये वह 'भविष्यत् काल' कहाता है। परमेश्वर का ज्ञान सदा एक रस, अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत् जीवो के लिए है। सर्वज्ञता के कारण जीवो के कर्म की अपेक्षा से ईश्वर मे त्रिकालज्ञता कही जा सकती है, स्वत. नही। जीव कर्म करने मे स्वतत्र है। किन्तु जिन प्राक्तन सस्कारो के वशीभूत होकर जीव अनेक कर्म करता है उन्हे वह नही जानता, ईश्वर जानता है। इसलिये जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है—यह कहा जाता है ॥४२॥

न्यायकारी दयालुश्चापीश्वर. ॥४३॥

ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी ॥४३॥

किन्तु ये दोनो गुण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय नही होगा। कर्मो के अनुसार सुखदु ख देना 'न्याय' है और अपराधी को दण्ड दिये विना छोड देना 'दया' है। ये दोनो साथ साथ नही चल सकते। इस शका का निवारण अगले सूत्र द्वारा किया है।—

न मिथो विप्रतिषिद्धौ गुणाविमौ समानप्रयोजनत्वात् ॥४४॥

समान प्रयोजन होने से 'दया' और 'न्याय' परस्पर विरोधी गुण नही है।

'न्याय' और 'दया' मे नाममात्र का ही भेद है। जिसने जितना बुरा कर्म किया उसे उतना और वैसा ही दण्ड देना 'न्याय' है। दण्ड देने का प्रयोजन है मनुष्य को अपराध करने से रोक कर दु ख पाने से बचाना। 'दया' का प्रयोजन भी दु खो से छुडाना है। अपराधी को दण्ड न देने को यदि दया मान लिया जाये तो दया का नाश हो जाये। एक डाकू को न्यायपूर्वक दण्ड न देकर दया के नाम पर उसे छोड देने का अर्थ होगा उसे सहस्रो मनुष्यो को दु ख देने की छूट देना और स्वय भी दु ख पाने के लिए पापकर्म मे प्रवृत्त होने का अवसर देना। ऐसा करने मे दया कहा हुई? डाकू को कारागार मे रखकर पाप करने से बचाने और अन्य सहस्रो मनुष्यो की उसके अत्याचारो से रक्षा करने मे दया भी है और न्याय भी। जीवो के कल्याणार्थ ससार मे नाना प्रकार के पदार्थ

उत्पन्न कर देना उसकी दया है और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ससारस्थ प्राणियो मे सुख-दुख के तारतम्य की व्यवस्था करना उसका न्याय है। मन में सबको सुखी करने की इच्छा और क्रिया करना 'दया' और बाह्य चेष्टा अर्थात् यथा-वत् दण्ड देना 'न्याय' कहाता है। दोनो का लक्ष्य एक होने से दया और न्याय मे कोई विरोध नही है ॥४४॥

ईश्वर की सर्वज्ञता को परखने के लिये प्रश्न करते है—

अपि स्वीयमन्तमवैति सर्वज्ञेश्वर ? ॥४५॥

क्या सर्वज्ञ होने के कारण परमात्मा अपना अन्त जानता है ?

ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय मे यह वडा दुरूह प्रश्न है। यदि सर्वज्ञ है तो उसे अपने अन्त का भी ज्ञान होना चाहिये। यदि कहा जाये कि सर्वज्ञ सब कुछ जानने मे समर्थ है। इसलिये अपना अन्त भी अवश्य जानता है। इससे पर-मात्मा सान्त हो जायेगा। सान्त होने पर अनादि भी नही रहेगा। यदि कहा जाये कि अनन्त होने से अपना अन्त नही जानता तो उसकी सर्वज्ञता मे दोष आ जायेगा। इसका समाधान अगले सूत्र मे किया है।—

न अनन्तत्वात् ॥४६॥

अनन्त होने से नही जानता।

परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। 'यथार्थदर्शन ज्ञानमिति' जो पदार्थ जैसा है अर्थात् जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव है उसे वैसा ही जानना ज्ञान-विज्ञान कहाता है। परमेश्वर अनन्त है। इसलिये वह अपने को अनन्त ही जानता है। यही उसकी सर्वज्ञता है। अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानने से वह अज्ञानी हो जायेगा ॥४६॥

अव ईश्वर सगुण है या निर्गुण इसका विवेचन करते हैं—

सगुणोनिर्गुणश्चेश्वरः ॥४७॥

ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनो है।

सगुण का अर्थ प्राय साकार और निर्गुण का निराकार समझा जाता है। यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। निराकार तत्त्व भी सगुण हो सकता है—जैसे निराकार आकाश का गुण शब्द है। ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण ही मानते हैं और जब तक मायोपाधि से ब्रह्म ईश्वर नही वन जाता तव तक वे ब्रह्म मे किसी गुण का अध्यारोप नही करते हैं। इस भ्रान्ति का कारण 'सगुण' और 'निर्गुण' के अर्थ को ठीक प्रकार से न समझना है। ससार मे कोई भी पदार्थ ऐसा नही जिसमे केवल सगुणता या केवल निर्गुणता हो। अपने अपने स्वाभाविक गुणो से सहित और विरोधी गुणो से रहित होने से सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं।

इस प्रकार एक ही पदार्थ मे एक ही समय मे सगुणता और निर्गुणता दोनो रहती हैं—जैसे पृथिवी गन्धादि गुणो के कारण सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है। इसी प्रकार चेतन के गुणो से रहित होने से जड़ पदार्थ 'निर्गुण' और अपने गुणो से युक्त होने से 'सगुण' हैं तथा जड़ के गुणो से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण' और इच्छा ज्ञानादि अपने गुणो से युक्त होने से 'सगुण' है। ऐसे ही परमेश्वर भी—

गुणेभ्य पार्थक्यान्निर्गुण ॥४८॥

गुणो से रहित होने से निर्गुण है।

जगत् के जडत्व और जीव की अल्पज्ञता, राग-द्वेष आदि से रहित होने के कारण ईश्वर निर्गुण है। कठोपनिषद् (३-२५) मे उसके निर्गुण रूप का निरूपण करते हुए उसे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—शब्द, स्पर्श, रूपादि से रहित बताया है। यही ईश्वर का निर्गुण होना है ॥४८॥

और—

गुणैस्सह वर्त्तमानत्वात्सगुण ॥४९॥

गुणो से युक्त होने से वह सगुण है।

सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी होने और पवित्रता, दयालुता तथा अनन्तज्ञान-बलादि गुणो से युक्त होने से वह सगुण है ॥४९॥

सगुण का अर्थ साकार नही माना जा सकता क्योकि वेदादि शास्त्रो मे ईश्वर के साकार या मूर्त्त होने का सर्वत्र निषेध है—

दिव्योह्यमूर्त्त पुरुष ॥५०॥

दिव्यरूप (अलौकिक प्रकाशयुक्त) होते हुए भी परमात्मा आकार रहित है। प्रकाश की विद्यमानता मे अनेक दूषित व अदूषित पदार्थ पडे रहते हैं, उनके दोषो से प्रकाश दूषित नहीं होता क्योकि उसका स्वरूप उनसे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार 'ज्योतिषा ज्योति' परमेश्वर प्रकृति मे व्याप्त होते हुए भी उसका रूप धारण नही करता। प्राकृतिक पदार्थ जड होने से सदा एक रूप नही रहते। परिणामी होने से वह दिव्य नही हो सकते। ऐसी दिव्य सत्ता प्रकृति के तत्त्वो से निर्मित मूर्ति का रूप धारण नही कर सकती ॥५०॥

ब्रह्म के अमूर्त्त होने मे दूसरी युक्ति देते हैं—

न तस्य प्रतिमा-व्यापित्वात् ॥५१॥

सर्वव्यापकता के कारण उसकी मूर्ति नहीं हो सकती।

वेद के पुरुष सूक्त में परमात्मा के 'सहस्रशीर्षा' आदि विशेषण देकर उपलक्षण से सारे ब्रह्माण्ड को उसकी देह बताकर उसकी सर्वव्यापकता और विशालता

का चित्रण किया गया है । इतने महिमामय विराट् पुरुष की मूर्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? जिसके रूप की कल्पना नही की जा सकती उसे कागज या पत्थर मे कैसे उतारा जा सकता है । इसलिये जगत् मे व्याप्त उस निराकार परमेश्वर की 'प्रतिमा' परिमाण, उपमान वा मूर्ति नही हो सकती । यजुर्वेद (३२-३) का भाष्य करते हुए महीधर आदि ने भी स्पष्ट कह दिया है–'तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमान किंचिद्वस्तु नास्ति' । 'सर्वत पाणिपाद तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुख सर्वत श्रुतिमल्लोके'–जिसके हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, और कान सारे ब्रह्माण्ड मे फैले हो, प्रयत्न करके भी उसकी मूर्ति कौन बना सकता है ? कल्पना से बनाई गयी मूर्ति या तसवीर किसी पुरुष की तो बन सकती है किन्तु 'पुरुष विशेष' परमेश्वर की नही । जिसका मूर्त्तरूप किसी ने देखा नही उसका चित्र कोई कैसे बनायेगा ? 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि' (यजु ३१-३) का अभिधा से अर्थ करने पर ब्रह्म चार पैरो वाला-चौपाया बन जाता है । यह अर्थ किसी को मान्य नही होगा । यहा भी प्रकारान्तर से ईश्वर की व्यापकता एव विशालता का ही निर्देशन है । इस मन्त्र का महीधर का भाष्य द्रष्टव्य है–"अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांश । अस्य पुरुषस्यावशिष्ट त्रिपात्स्वरूप अमृत विनाशरहित तत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेष । यद्यपि 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' त्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टय निरूपयितुमशक्य तथापि जगदिद ब्रह्मरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यास ' अर्थात् ब्रह्म की इयत्ता सीमायें नही हैं । फिर भी ब्रह्म की तुलना मे जगत् की तुच्छता दिखाने के लिए ही इस रूपक का सहारा लिया गया है ॥५१॥

इन्द्रियो का विषय न होने से भी ईश्वर की मूर्ति का होना सम्भव नही—

न अदृश्यत्वादे ॥५२॥

अदृश्यत्व आदि के कारण भी नही ।

यदि ईश्वर की मूर्ति होती तो अन्य साकार पदार्थों की भाँति ईश्वर भी दिखाई-सुनाई पडता । किन्तु उसे तो अनेकत्र इन्द्रियातीत कहा गया है । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति' (केन १-३) न वहा आख पहुचती है, न वाणी । 'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूषि पश्यति' (केन १-४) जो आँख से दिखाई नही देता, जिससे आँख देखती है । 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति, येन श्रोत्रमिद श्रुतम्' -जो कान से नही सुना जाता, जिससे कान सुनते हैं–'तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते' उसी को तू ब्रह्म जान, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं । 'न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्' (कठ ६-९) इस ब्रह्म का कोई रूप नही है और न इसे कोई आखो से देख सकता है । 'यत्तदद्दश्य-मग्राह्यमगोत्रमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम्' (मु १-१-६) जो परमात्मा न देखा

जाता है, न पकडा जाता है, जिसका कोई गोत्र नही, जिसके न कोई नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ और न पैर। 'न चक्षुपा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै' (मु ३-१-८) —वह ब्रह्म न आख से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से और न अन्य इन्द्रियो से। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ ३-१५)—वह ब्रह्म न शब्द है, न स्पर्श, न रूप और इसी प्रकार 'अरस नित्यमगन्धवत्' वह न रस वाला है न गन्ध वाला —अर्थात् वह इन्द्रियो का विषय नही है। 'न तस्य लिङ्गम्' (श्वेत ६-९) उसका कोई चिन्ह या प्रतीक नही है। नैनद्दैवा आप्नुवन्' (यजु ४०-४) इन्द्रिया उस परमेश्वर को नही पा सकती। इसी प्रकार महाभारत मे भी कहा है—

> न ह्यय चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियै ·।
> मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते॥
> अशब्दस्पर्शरूपं तदरसागन्धमव्ययम् ।
> अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम्॥ (शान्तिपर्व २३९-१६-१७)

परमात्मा न आखो से देखने योग्य है, न शेप इन्द्रियो से। मन रूप प्रदीप से देखा जाता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय और निराकार रूप से शरीरो मे व्याप्त है। उस निरिन्द्रिय को देखो।

देवी भागवत (स्कन्ध ३, अ ७) मे लिखा है—

> निर्गुणस्य मुनेरूप न भवेद् दृष्टिगोचरम्।
> दृश्य च नश्वरं यस्मादरूप दृश्यते कथम्॥

निर्गुण का रूप दृष्टि गोचर नही होता क्योकि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे सम्भव है?

'न मासचक्षुपा द्रष्टु ब्रह्मभूत स शक्यते' (वि पु ६-६)—ब्रह्म को चर्म चक्षुओ से नही देखा जा सकता।

यजुर्वेद (३२-२) का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनो ने स्पष्ट घोपणा की—'न ह्यमौ प्रत्यक्षादीना विपय' अर्थात् ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नही है।

यदि परमेश्वर की मूर्ति वनाकर उसका दर्शन-पूजन सम्भव होता तो सभी शास्त्रो मे वार-वार उसे इन्द्रियातीत कहने की आवश्यकता न पडती॥५२॥

ईश्वर का मूर्त्तरूप सम्भव न होने से सर्वत्र मूर्तिपूजा का निपेध किया है—

वेदादिषु प्रतिषेधाच्च॥५३॥

वेदादि शास्त्रो मे मूर्तिपूजा का निषेध होने से भी।

श्रीमद्भगवद् गीता मे लिखा है—

> य· शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
> न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाण ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

अ १६-२३-२४

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रो की आज्ञा को छोडकर अपनी इच्छानुसार चलता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न उत्तम गति (मोक्ष) को। इसलिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा मानकर शास्त्र द्वारा अनुमोदित कर्म ही करने चाहियें।

मूर्तिपूजा के सन्दर्भ मे यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय का नौवा मन्त्र सर्वथा निर्णायक है—

अन्धन्तम प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो य उ सम्भूत्या ँरता ॥

जो 'असम्भूति' अर्थात् सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणो वाली अनुत्पन्न, अव्यक्त अनादि प्रकृति-कारण की उपासना करते है वे गहरे अन्धकार—अज्ञान और दु ख मे डूब जाते है और जो 'सम्भूति' अर्थात् कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव, और मनुष्यादि के शरीर की ब्रह्म के स्थान मे उपासना करते है वे उससे भी गहरे अन्धकार मे डूब जाते है।

फिर पूजा किसकी मूर्ति की करेंगे ? क्योकि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश' (यजु ३२-३) जिसका यश (सृष्टि के रचियता तथा सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थो का अधिकरण होने से) प्रसिद्ध है उसकी तो कोई प्रतिकृति अथवा मूर्ति हो नही सकती।

केनोपनिषद् (खण्ड १, मन्त्र ४-८) मे बडे विस्तार से समझाया गया है कि आखो आदि से दिखाई-सुनाई देने वाले और मन से मनन मे आने वाले जिस तथाकथित ईश्वर की लोग उपासना करते हैं उसे तुम ईश्वर न मानो।

महाभारत मे मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है—

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्त्तावीश्वरबुद्धय ।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढा परा शान्ति न यान्ति ते ॥

जो लोग मूर्खतावश मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ की बनी मूर्तियो को ईश्वर समझकर उनकी पूजा करते हैं उन्हे कभी शान्ति प्राप्त नही हो सकती।

आदि जगद्गुरू शकराचार्य ने मूर्तिपूजा की आलोचना करते हुए अपने ग्रन्थ 'परापूजा' मे लिखा—

सर्वाधारो निराधार सर्वव्यापक ईश्वर ।
प्राणादि प्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च ॥
पूर्णस्यावाहन कुत्र सर्वाधारस्य आसनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यञ्च शुद्धस्याचमन कुत ।

परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है। प्राणो का प्रेरक होने

से जीवन का हेतु है। ऐसे पूर्ण परमेश्वर का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ? नित्य पवित्र और स्वच्छ के लिए पाद्य और अर्घ्य कैसा ? और शुद्ध के लिये आचमन कैसा ?

गणेशपूजन की आलोचना करते हुए 'शङ्करदिग्विजय' मे लिखा है—

"कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपते जगत् कारण कल्पयितुमुचितम् किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति। तस्य ब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रादिकारणत्व सुतस्यानुचितमेव। अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यात्' (पृष्ठ ४८)।

सगुण (साकार) गणेश जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? वह शिव (रुद्र) का पुत्र प्रसिद्ध है। उसे ब्रह्म मान लेने पर पिता का कारण पुत्र को मानना पडेगा। इसलिये परब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है—'वही सृष्टि से पूर्व विद्यमान था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

गणेशपूजन मे प्राय. 'गणाना त्वा गणपति हवामहे' (यजु० २३-१९) आदि मन्त्र का विनियोग किया जाता है। किन्तु उव्वट और महीधर ने भी इस मत्र को गणेश (गजमुख) दैवत न मानकर अश्वदैवत माना है। पूर्वापर प्रसग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'परमात्मा' वा 'राष्ट्रपति' (गणराज्य का सर्वोच्च शासक गणपति) है। इसके आगे के कई मन्त्र 'राजप्रजे' दैवत हैं।

शकर स्वामी ने पुराणो के वचन उद्धृत करके भी मूर्ति पूजा पर कडा प्रहार किया है—

अधमा प्रतिमापूजा स्तोत्रजाप्य च मध्यमा।
उत्तमा निगमा पूजा सोऽहं पूजा महात्मन ॥१॥
तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपाषाणमृन्मये।
प्रतिमायां मनो येषा ते नरा मूढचेतस ॥२॥
पाषाणैरालये बद्ध्वा देव पाषाण एव च।
ब्रूहि पण्डित देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥३॥
स्वगृहे पायस त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मति।
शिलामृद्दारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥४॥
निर्मलस्य कुत स्नान वस्त्र विश्वोदरस्य च।
निरालम्बस्योपवीत रम्यस्याभरण कुत ॥५॥
निर्लेपस्य कुतो गन्ध पुष्प निर्वसनस्य च।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ॥६॥
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फल कुत.।
ताम्बूल च विभो कुत्र नित्यानदस्य दक्षिणा ॥७॥
स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधि।

प्रदक्षिणाऽह्यनन्तस्य अद्वितीयस्य का नति ।।८।।
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
इयमेव परापूजा शम्भो सत्यपरायण ।।९।।
देहो देवालय प्रोक्तो ब्रह्मदेवः सनातनः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्य सोऽह भावेन पूजयेत् ।।१०।।

प्रतिमा पूजन अधम है, स्तोत्रो का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओ की पूजा 'सोऽह' है ।।१।।

तीर्थ, पशुयज्ञ, लकडी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियो मे जिनके मन लगे हैं, वे मनुष्य मूढ अज्ञानी हैं ।।२।।

पत्थरो से एक स्थान मे बाधकर और देव को पाषाण बना कर, अरे पडित, कह तो सही, वह देवता कहा पर रहता है ।।३।।

अपने घर मे खीर छोड कर, अरे दुर्मति, भिक्षा मागता फिरता है ! पत्थर, लकड़ी और मिट्टी के चित्रो मे देवता बुद्धि रखता है ।।४।।

अरे निर्मल का स्थान कैसा ? विश्वोदर के लिए वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? रम्य के लिए आभूषण कैसे ? ।।५।।

निर्लेप के लिए गन्ध क्या, निर्वास के लिए पुष्प कैसे ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी और स्वप्रकाश के लिए दीपक कैसा ? ।।६।।

नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिए ताम्बूल कैसा ? नित्यानन्द के लिए दक्षिणा कैसी ? ।।७।।

प्रकाशस्वरूप को दीप क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा कैसी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ? ।।८।।

जो अन्दर वाहर परिपूर्ण है उसका विसर्जन कहा ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि— ।।९।।

इस शरीर को मन्दिर बनाओ, उसमे व्याप्त परमेश्वर को देवता समझो, अज्ञानरुप निर्माल्य को तजो और 'सोऽह' भाव से पूजा करो ।।१०।।

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०, अ० ८४, श्लोक १३) मे कितना स्पष्ट लिखा—

"यस्यात्मबुद्धि कुणपे त्रिधातुके स्वधी कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धि. सलिलेन कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखर ।।

वात-पित्त-कफ से वने दुर्गन्धयुक्त शरीर मे जो आत्मबुद्धि, स्त्री आदि मे स्वबुद्धि, पृथ्वी से बनी मूर्तियो मे पूज्यबुद्धि, व जलो मे तीर्थ बुद्धि रखता है वह गौओ का चारा ढोने वाला गधा है ।

निम्न वचन भागवत (१०-८४-११) और देवीभागवत (९-७-४२) मे एक जैसा पाया जाता है—

'नाम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया ।'

पानी के तीर्थ नही होते और मिट्टी-पत्थर के भगवान् नही होते । शिव-

पुराण मे भी एक स्थान पर (म०३९-२९) लिखा है—

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥

जल से पूर्ण तीर्थों और मिट्टी-पत्थर के देवताओ को योगिजन आत्मविश्वास के कारण नही मानते ।

महामति चाणक्य ने (चाणक्यनीति, ४-१९) व्यवस्था दी है—

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र सर्वदर्शिन ॥

द्विजो की देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियो के हृदय मे देवता है, अल्पबुद्धियो के लिये मूर्ति और समदर्शियो के लिए सर्वत्र देवता है ॥५३॥

किमी किसी की मान्यता है कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी । ऐसा होना सम्भव नहीं है क्योकि—

न युगपद् विरुद्धधर्मसमावेश शीतोष्णवत् ॥५४॥

एक ही वस्तु मे एक समय मे दो विरोधी गुण नही रह सकते, सरदी गरमी के समान ।

जैसे एक ही समय मे जलादि कोई पदार्थ ठण्डा और गरम नही हो सकता, वैसे ही परमात्मा साकार और निराकार दोनो नही हो सकता । वेदान्तदर्शन के सूत्र 'न स्थानतोऽपि परस्परोभयलिङ्ग सर्वत्र हि' (३-२-११) का भाष्य करते हुए शकर स्वामी लिखते हैं—

"न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते । न ह्येक वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीत चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।।"

स्वत ही परब्रह्म साकार और निराकार दोनो प्रकार का नही हो सकता । एक ही वस्तु रूपादि वाली तथा साथ ही रूपरहित नही हो सकती, क्योकि ये दोनो गुण परस्पर विरोधी हैं । सब जगह ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यो मे उसे शब्द, स्पर्श एव रूपरहित और अव्यय कहा है ॥५४॥

कहा जा सकता है कि शास्त्र मे दोनो प्रकार के सन्दर्भ मिलते हैं । अगले सूत्र मे इसका समाधान किया गया है—

प्रधानत्वादकाय ॥५५॥

मुख्यत निराकार रूप मे वर्णन किये जाने से वह रूपरहित है ।

जीवात्मा या परमात्मा का अपना कोई आकार नही है । पर जीवात्मा देह धारण करने से आकार वाला कहा जाता है । साधारणतया देह मे हाथ, पैर आख, नाक आदि अग होते हैं । परन्तु यह नितान्त अनिवार्य नही है । अनेक

कृमि कीट आदि शरीरी होते हुए भी अग नही रखते। फिर भी वे देही या आकार वाले कहाते हैं। परन्तु परमात्मा का ऐसा कोई रूप या आकार नही होता। वह निर्विवाद रूप से अशरीरी है। शास्त्र मे मुख्य रूप से उसका वर्णन 'अकाय' 'अशरीरी' और 'अमूर्त्त' के रूप मे ही किया गया है। जहा कही उसके देह या देहागो का उल्लेख मिलता है वह केवल औपचारिक एव आलकारिक है। वहा लक्ष्यार्थ अभिप्रेत है। अभिधा से उसे अन्यथा नही समझ लेना चाहिये ।।५५।।

इतने पर भी एक बात कही जा सकती है। यदि मूर्त्ति और मूर्त्तिपूजा का कही विधान ही न होता तो उसके इतने तीव्र खण्डन की आवश्यकता क्यो होती ? स्पष्ट है कि मूर्त्ति और मूर्त्तिपूजा के कारण ही वेदादि शास्त्रो मे उसका निषेध किया गया है क्योकि—

प्राप्तौ सत्यां निषेध ।।५६।।

प्राप्त पदार्थ का ही निषेध होता है।

जो है ही नही, उसका निषेध कैसा ? जो बैठा नही उसे उठने को कहने का प्रश्न ही नही उठता। इसी प्रकार यदि मूर्त्तिपूजा का कही विधान ही नही, तो उसका खण्डन कैसा ? ।।५६।।

इसका उत्तर अगले सूत्र मे दिया गया है।—

अप्राप्तस्यापि निषेध ।।५७।।

अप्राप्त का भी निषेध होता है।

निषेध प्राप्त और अप्राप्त दोनो का होता हैं। जैसे-कोई बैठा है तो उसे उठा देना 'प्राप्त' का निषेध है। वैसे ही किसी को यह कहना कि 'झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, दुष्टो का सग मत करो' आदि 'अप्राप्त' का निषेध है। इससे यह समझ लेना कि जिसे झूठ बोलने, चोरी करने या दुष्टो का सग करने से रोका जा रहा है वह पहले इन दोषो मे प्रवृत्त है, ठीक नही होगा। जो मनुष्यो के ज्ञान मे अप्राप्त है वह परमेश्वर के ज्ञान मे प्राप्त होने से उसका निषेध किया जा सकता है। अप्राप्त निषेध का तात्पर्य भी प्राप्त के नियम मे होता है। यथा—'न पृथिव्या-मग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० स० ५-२-७) यहा अन्तरिक्ष तथा द्यु मे अग्निचयन का निषेध है। इसका 'हिरण्य निधाय चेतव्यम्' हिरण्य रख कर ही अग्निचयन करना चाहिये, मे तात्पर्य है। इसी प्रकार वेदादि शास्त्रो मे जो अप्राप्त का निषेध है, उसका 'ईश्वर ही उपासनीय है' में तात्पर्य समझना चाहिये ।।५७।।

तब प्रश्न उपस्थित होता है—

पुण्यं नोचेत्पापमपि न स्यात् ॥५८॥

मूर्त्तिपूजा करने मे पुण्य नही तो पाप भी नही है ॥५८॥

इसका उत्तर आगे के सूत्रो मे दिया है—

विधिनिषेधात्मकानि द्विविधानि कर्माणि ॥५९॥

विधि-निषेध भेद से दो प्रकार के कर्म हैं ।

वेदादि शास्त्रो मे सत्यभाषणादि जिन कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वे 'विहित' कर्म हैं । इसके विपरीत मिथ्या भाषणदि जिन कर्मो का निषेध किया गया है, वे 'निषिद्ध' कर्म हैं ॥५९॥

तदनुसार—

विहितस्यानुष्ठानं धर्मस्तस्याननुष्ठानमधर्म. ॥६०॥

विहित कर्मों का अनुष्ठान करना 'धर्म' और न करना 'अधर्म' है ॥६०॥

निषिद्धस्यानुष्ठानमधर्मः ॥६१॥

निषिद्ध कर्म का करना 'अधर्म' है ॥६१॥

वेदविरुद्धत्वात् प्रतिमापूजनमधर्मः ॥६२॥

वेदविरुद्ध होने से मूर्त्तिपूजा करना पाप है ।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त का मत है कि वेद विरुद्ध कर्मो का सर्वथा परित्याग कर वेदानुकूल आचरण करना ही धर्म है । जैमिनि के मत मे 'विरोधे त्वनपेक्ष्य स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमासा १-३-३) वेद के विरुद्ध होने से प्रामाण्य नही होता, अविरोध होने पर प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है । इसलिये वेद विरुद्ध होने से मूर्त्तिपूजन अधर्म है । वेद ही सत्य अर्थ का प्रतिपादक है । यदि किन्ही ग्रथो मे मूर्त्तिपूजा का विधान मिलता है तो उसे प्रमाण नही माना जा सकता । क्योकि—

नास्तिको वेदनिन्दक ॥६३॥

वेदो की निन्दा करने वाला 'नास्तिक' कहाता है ।

मनु जी के अनुसार 'धर्मजिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुति' धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं । इसलिये—

ये वेदबाह्या. स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय ।
सर्वास्ता निष्फला. प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता ॥
उत्पद्यन्ते च्यवंते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

(मनु०१२-९५,९६)

जो ग्रन्थ वेद बाह्य कुत्सित पुरुषो के बनाये ससार को दु खसागर मे डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल, अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक मे दु खदायक हैं।

जो ग्रन्थ वेदो के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं वे आधुनिक होने से शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं। उनका मानना निष्फल और असत्याचरण है।

इस प्रकार मूर्त्तिपूजा मे प्रवृत्त होना वेदनिन्दा मे प्रवृत्त होना है।

किसी भी पदार्थ मे ईश्वर की भावना करके उसकी पूजा करने मे क्या दोष है–इसकी समीक्षा करते हुए कहा है—

यथार्थज्ञानाविरोधिनी भावना ॥६४॥

जो यथार्थज्ञान के अविरुद्ध हो वही 'भावना' कहाती है।

जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही मानना भावना है। रोटी को रोटी, अग्नि को अग्नि, जल को जल, वैसे ही पत्थर को पत्थर मानना यथार्थ ज्ञान (यथार्थदर्शन हि ज्ञानम्) है। इसी को भावना कहते हैं ॥६४॥

नोचेद् वैपरीत्यं प्रसज्येत ॥६५॥

इसके विपरीत 'अभावना' होगी।

अग्नि मे जल की, जल मे अग्नि की, रोटी मे पत्थर की और पत्थर मे रोटी की भावना करना मिथ्याज्ञान अर्थात् अन्य मे अन्यबुद्धि भ्रमरूप 'अभावना' कहाती है। इसी प्रकार सर्वव्यापक अनन्त ब्रह्म को किसी एक वस्तु मे सीमित कर उसी मे उसकी भावना करना ऐसा है जैसा किसी चक्रवर्त्ती राजा को सत्ताच्युत कर किसी झोपडी मे बन्द कर देना। सृष्टि के कण कण मे ईश्वर को व्याप्त जानना ही सच्ची भावना है। ऐसा न मानने से भावना, अभावना मे और अभावना, भावना मे बदल जायेगी ॥६५॥

लोक मे प्रचलित मान्यता है कि श्रद्धापूर्वक भावना करने से फल अवश्य मिलता है। इस भ्रम के निवारणार्थ अगला सूत्र कहा गया है—

नान्यथा भावनाऽनुरूपफलदा ॥६६॥

विपरीत भावना के अनुरूप फल नही मिलता।

यदि 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' सत्य हो, तो बालू मे शक्कर की भावना करके खाने से मुह मीठा हो जाये। इसी प्रकार चूने के पानी को मथकर मक्खन, धूल से आटा और मैदा, पत्थर से सोना चादी, समुद्र फेन से मोती, ककडो से बादाम आदि की प्राप्ति हो जाये। दरिद्र अपने चक्रवर्ती राजा होने, विद्यार्थी अध्यापक होने, संसद् सदस्य अपने मन्त्री होने और चोर अपने सिपाही होने की भावना करके घर बैठे सब कुछ पा जायें। परन्तु ऐसा होता नही। भावना मात्र से किसी की वास्तविकता नही बदली जा

सकती। जगद्गुरु शकराचार्य ने ठीक ही लिखा है—'नह्यु पाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृश स्वभाव सभवति' अर्थात् उपाधि के योग से भी अन्य प्रकार की वस्तु अन्य प्रकार के स्वभाव वाली नही हो सकती। यदि ऐसा होना सम्भव होता, तो भूल से विप को दवाई समझ कर पी जाने वाले रोगी की कभी मृत्यु न होती। मरुस्थल मे वालू को जल समझने वाला हिरन दौड़ दौड कर जान गवाने को विवश न होता। अन्य मे अन्य की भावना करके यदि सिद्धि हो सकती, तो हम अपने शरीर मे रेल की भावना करके वैठे विठाये जहां चाहते वहा पहुच जाते। अन्धा पुरुष देखने लग जाता। सव प्राणी सदा सुखी रहने और कभी न मरने की भावना करते हैं—इससे कोई कभी न दु खी होता और न मरता। परन्तु भावना मात्र से ऐसा 'न भूतो न भविष्यति' न कभी हुआ और न होगा। इसी प्रकार ईश्वर की भावना करने पर भी पत्थर, पत्थर ही रहेगा। न उसमें चेतनता आ सकती है, न उससे कभी हमारा हित हो सकता है ॥६६॥

मूर्त्ति मे प्राण प्रतिष्ठा अथवा आवाहन की समीक्षा अगले सूत्र मे की है—

न प्राणप्रतिष्ठात्वं तत्कर्मणां तत्रादर्शनात् ॥६७॥

प्राणसचार से होने वाली क्रियाओ के अभाव मे प्राणप्रतिष्ठा मिथ्या है।

जड पापाण से निर्मित मूर्त्ति मे भगवान् तव आते हैं जव भगवान् का आवाहन करके उसमे प्राणप्रतिष्ठा कर दी जाती है—यह कहना अपने को और सबको धोखा देना है। क्योकि प्राण आदि के कारण होने वाली कोई क्रिया मूर्त्ति मे दिखाई नही पड़ती—न वह सास लेती है, न वोलती है और न खाती पीती है। फिर सर्वव्यापक होने से परमेश्वर पहले ही मूर्त्ति मे विद्यमान है। तव उसका आवाहन और विसर्जन कैसा? और यदि मन्त्रवल से इच्छानुसार परमेश्वर का आवाहन कर मूर्त्ति मे प्रविष्ट किया जा सकता है और जव चाहे विसर्जन किया जा सकता है, तो अपने प्रिय जनो के मरने पर उनके शरीरो मे उनके जीवात्मा को वुला कर प्राणसचार और इसी प्रकार अपने शत्रुओ के शरीरो से जीवात्मा का विसर्जन क्यो नही किया जा सकता? ईश्वरीय नियमो का अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी मे नही है। जो पदार्थ जड़ वनाये गये हैं वह कभी चेतन नही हो सकते ॥६७॥

यह कहना भी कि जव परमात्मा सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति में भी है तो उसके माध्यम से भी उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, युक्तियुक्त नही है क्योंकि—

न प्रतिमायां ब्रह्मसान्निध्यं उपासकजीवस्य तत्राभावात् ॥६८॥

मूर्त्ति मे व्याप्त ब्रह्म से जीव का सान्निध्य सम्भव नहीं, स्वय उपासक जीव के वहा न होने से।

दो सत्ताओ मे मेल वही हो सकता है जहा दोनो विद्यमान हो। सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति मे परमेश्वर तो है किन्तु एक देशी होने से स्वय जीव वहा नही है। इसलिये मूर्त्ति मे ईश्वर से उसका मेल नही हो सकता। जीव को परमेश्वर का साक्षात्कार हृदय मे ही हो सकता है जहा जीवात्मा और परमात्मा दोनो का वास है ॥६८॥

नेशस्मरणं मानवकृतित्वात्तस्या ॥६९॥

मनुष्य द्वारा निर्मित होने से मूर्ति को देखकर ईश्वर का स्मरण नही हो सकता।

किसी चित्र अथवा मूर्ति को देखकर उसके रचयिता का ध्यान आता है, जिसने अपनी कृति के माध्यम से सृष्टि मे उपलब्ध किसी एक पदार्थ का सादृश्य उपस्थित किया है। यदि कलाकार द्वारा निर्मित एक मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण हो सकता है तो स्वय उसके बनाये ब्रह्माण्ड और रचना-कौशल को देखकर उसका स्मरण क्यो नही होना चाहिये ? क्या ऐसी अद्भुत रचना युक्त पृथिवी पहाड आदि परमेश्वर रचित महामूर्तिया कि जिन पहाड आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं परमेश्वर का स्मरण नही करा सकती ? यह कहना भी कि मूर्ति को देखने से उसमे व्याप्त परमेश्वर की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। व्याप्त को देख कर व्यापक का ज्ञान चर्मचक्षुओ से नही हो सकता। इसके लिए ज्ञानचक्षुओ की आवश्यकता है। यह तभी सभव है जब हमारी वृत्तिया अन्तर्मुखी हो। मूर्तिपूजा से हमारी समस्त वृत्तिया बहिर्मुख होती हैं। इसलिये उसके द्वारा ईश्वर का बोध कभी नही हो सकता ॥६९॥

साकार मे मन के स्थिर होने की मिथ्या धारणा का निराकरण करते हुए कहा है—

परमात्मन्येव मन स्थैर्यं अविषयत्वात्तस्य ॥७०॥

परमात्मा मे ही मन. स्थैर्य सम्भव है, उसके निर्विषय होने से।

ध्यान का लक्षण करते हुए साख्यदर्शन मे कहा है—'ध्यान निर्विषय मन।' जिसमे मन निर्विषय हो जाये उसी का नाम ध्यान है। जब तक मन शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध मे लीन है तब तक वह ध्यान की स्थिति मे नही आ सकता। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन' (गीता २-६०) प्रबल इन्द्रिया बलात् मन को अपने विषयो की ओर खीच ले जाती है। मूर्ति के सावयव होने से उसके सामने जाने पर मन उसी के एक-एक अवयव मे घूमता फिरेगा। नैवेद्य, पुष्प, धूप, वस्त्र आदि से युक्त होने से मूर्ति मे रस, गन्ध, रूप आदि विषय पूरे दलबल के साथ उपस्थित होंगे। ऐसी अवस्था मे वह मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है ? साकार पदार्थ मे मन स्थिर हो सकता

तो सबका मन स्थिर होता क्योकि समस्त ससार ही साकार है। वस्तुत ज्यो-ज्यो मनुष्य सासारिक पदार्थो मे लिप्त अथवा अनुरक्त होता है त्यो-त्यो उसके मन की चचलता वढ़ती जाती है। केवल निरवयव परमात्मा मे लगने पर ही मन स्थिर हो पाता है ॥७०॥

क्या मूर्तिपूजा से मनुष्य का विकास सम्भव है—इसका उत्तर देते हुए कहा है—

न जडपूजया ज्ञानवर्द्धनम् ॥७१॥

जड की पूजा से ज्ञान नही वढ़ता।

जड़ की पूजा (सगति, सान्निध्य) से मनुष्य का ज्ञान नही वढता। किन्तु जो होता है वह भी नष्ट हो जाता है। मूर्तिपूजा करते-करते कोई ज्ञानी नही हुआ। यही कारण है कि एक मूर्तिपूजक सदा मूर्तिपूजक ही वना रहता है जवकि अष्टाग योग के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥७१॥

यदि कोई ज्ञान वढाना चाहता है तो यह—

ज्ञानिनां सङ्गेनैव ॥७२॥

ज्ञानी पुरुषो की सगति से ही हो सकता है।

चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विद्वान् आप्त पुरुषो की पूजा (आदर-सत्कार व सत्सग) एव यमनियमादि के पालन से ही मनुष्य उन्नति की सीढिया चढकर ऊपर पहुच सकता है। इसीलिये वेद मे प्रार्थना की गई है—'देवाना सख्यमुपसेदिमा वयम्' (यजु २५-१५) हमे देवो (विद्वानो) की मैत्री और उपासना करनी चाहिये। सज्जन पुरुषो की सगति का महत्त्व निम्नाकित श्लोक मे द्रष्टव्य है—

> सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
> स सद्भिः सह कर्तव्य सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥

सज्जन पुरुषो का सग सर्व रोगो की सर्वोत्तम ओषधि है ॥७२॥

क्या परमेश्वर का वार-वार नाम लेने से कुछ लाभ होता है ?

न नामस्मरणमात्रमुपादेयम् ॥७३॥

नाम-स्मरण मात्र का कोई लाभ नहीं हैं।

जैसे मिसरी-मिसरी कहने मे मुँह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़ुवा नहीं होता। चाखने से ही मीठा या कड़ुवा होता है। ऐसे ही वाणी से नामस्मरण-मात्र से कुछ फल नही मिलता ॥७३॥

नामस्मरण की वेदोक्त रीति वताते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।७४।।

उसके अर्थ की भावना करना ही उसका जप है ।

ईश्वर के मुख्य नाम 'ओ३म्' का जप और उसके वाच्य ईश्वर के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही वास्तविक जप अथवा नामस्मरण है । जैसे 'न्यायकारी' ईश्वर का एक नाम है । पक्षपात रहित होकर परमात्मा सबका यथावत् पालन करता है । इसीलिये वह न्यायकारी कहाता है । इस भाव को ग्रहण कर सदा न्याययुक्त व्यवहार मे प्रवृत्त रहना–किसी के भी साथ कभी अन्याय न करना–ही ईश्वर को 'न्यायकारी' नाम से स्मरण करना है ।।७४।।

'पञ्चायतनपूजा' अथवा 'पञ्चदेवपूजा', जो प्राचीन परम्परा से चली आती है, उस का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

वेदोक्ता पञ्चायतनपूजा ।।७५।।

पचायतन पूजा वेदोक्त है ।

पाच मूर्तिमान् देवो की पूजा अर्थात् तन-मन-धन से इनका सेवा सत्कार करना वेदोक्त है । क्योकि इनके सग से मनुष्यो के देह की उत्पत्ति, उनका पालन, सत्य शिक्षा और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है । ये ही परमेश्वर को प्राप्त करने की सीढियाँ हैं । मातादि मूर्तिमानो की सेवा मे ही कल्याण है । साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक 'देवो को छोडकर, 'अदेव' पाषाणादि मे सिर मारना उचित नही है ।।७५।।

मातृपित्राचार्यातिथय भार्याया भर्त्ता भर्त्तुश्च भार्येति मूर्त्तिमन्तो देवा. ।।७६।।

माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिए पति और पुरुष के लिये पत्नी–ये पांच मूर्तिमान् देव हैं । इनकी पूजा ही सच्ची पचायतन और वेदानुकूल देवपूजा और मूर्तिपूजा है ।।७६।।

न तु शिवादिमूर्त्तयः ।।७७।।

किन्तु शिवादि की मूर्त्ति नही ।

शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य की मूर्तिया बनाकर धूप-नैवेद्य आदि से उनकी पूजा करना पचायतन पूजा नही है । इन्हे देव नही मानना चाहिये ।।७७।।

अब ईश्वर को अनेक नामो से पुकारे जाने की समीक्षा करते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ।।७८।।

ईश्वर का वाचक मुख्य नाम 'ओ३म्' है ।

प्रणव अर्थात् 'ओ३म्' जगन्नियन्ता, सर्वेश्वर और सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु का अपना नाम है। इसलिये 'ओ३म्' के साथ उसका नित्य सम्बन्ध है। यही उनका सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमे अ उ और म् तीन अक्षर मिल कर एक 'ओम्' समुदाय हुआ है। इस एक नाम मे परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं। जैसे-अकार मे विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजस् आदि, मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि।

यह भाव माण्डूक्योपनिषद् के निम्न सदर्भ का सार जान पडता है—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्र पादा मात्रा मात्राश्च पादा
अकार उकारो मकार इति ॥८॥
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति
ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥
स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति
ह वै समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥
सुषुप्तस्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति
ह वा इद सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

यह आत्मा अक्षर मे अधिष्ठित है, यह अक्षर ओङ्कार है और वह ओङ्कार मात्राओ मे अधिष्ठित है। पाद मात्रा और मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार व मकार हैं ॥८॥

ब्रह्म का पहला पाद जाग्रत् स्थानी 'वैश्वानर' है और ओङ्कार की पहली मात्रा 'अकार' है जो सबमे व्याप्त है और सबसे पहला है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह सब कामनाओ को प्राप्त करता है ॥९॥

ब्रह्म का दूसरा पाद स्वप्न स्थानी 'तैजस्' नाम वाला है। वही ओकार की दूसरी मात्रा 'उकार' है जो दोनो के मध्य मे है। जो उसे इस प्रकार जानता है उसका उत्कर्ष होता है। वह अपने कुल मे ज्ञान का विस्तार कर समान स्थिति को प्राप्त करता है। उसके कुल मे कोई अब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्म को न जानने वाला नही होता ॥१०॥

ब्रह्म का तीसरा पाद सुषुप्तस्थान वाला 'प्राज्ञ' है। वही ओकार की तीसरी मात्रा है जो कोई इसे मान और दोनो (पाद व मात्रा) के एकीभाव को लक्ष्य मे रखकर उपासना करता है वह सारे विश्व को माप लेता है—उसकी थाह पा लेता है और आत्ममय हो जाता है ॥११॥

यजुर्वेद के अध्याय २ मन्त्र १२ मे जीवात्मा को परमेश्वर की उपासना की प्रेरणा करते हुए कहा गया—'ओ३म् प्रतिष्ठ' अर्थात् ओ३म् मे स्थिति कर। अन्तिम समय मे भी प्रभु का स्मरण करने का उपदेश देते हुए कहा गया—'ओ३म् स्मर' (यजु ४०-१५) अर्थात् ओ३म् को स्मरण कर। पुन यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १७ मे कहा—'ओ३म् खब्रह्म' अर्थात् ओ३म् आकाशवत्

व्यापक होने से 'खम्' और सबसे बडा होने से 'ब्रह्म' है। इस सन्दर्भ मे ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तीसरे सूक्त के सातवें मन्त्र के अन्तर्गत 'ओमास' पद द्रष्टव्य है जो सन्धिच्छेद होने पर 'ओम्+आस' बन जाता है। इस प्रकार 'ओमास.' का अर्थ ब्रह्म के पास बैठने वाला अथवा ब्रह्मज्ञानी है।

मनुस्मृति मे 'अ उ म्' से मिल कर बने 'ओ३म्' का विश्लेषण करते हुए कहा गया—'अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापति। वेदत्रयान्निरदुहद् भुर्भुवः स्वरिनीति च ॥ (२-७६)

अर्थात् प्रजापति ने, जिस प्रकार दूध से मक्खन निकाला जाता है, अकार, उकार और मकार को ऋग्-यजु.-साम रूपी दूध से मक्खन के रूप मे निकाल लिया—साथ ही भू., भुव और स्व इन तीन महाव्याहृतियो को भी।

'ओ३म्' के महत्व के विषय मे ऐतरेय ब्राह्मण मे भी मनुस्मृति के उपर्युक्त कथन से मिलती-जुलती बात कही गई है—

तान् वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त, भूरित्येव ऋग्वेदादजायत्, भुवरितियजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदो३मिति। ऐत. ५-३२

वेदो को तपाया, उन तपाये गये वेदो से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भू, यजुर्वेद से भुव, सामवेद से स्व। फिर उन तीनो शुक्रो को तपाया गया, उन तपाये हुओ से तीन वर्ण उत्पन्न हुए—अकार, उकार और मकार। इन तीनो को इकट्ठा किया गया तव 'ओ३म्' बना। तात्पर्य यह कि ओ३म् ही वेदो का सार है। वही वेदो का मुख्य विषय है। इसीलिये माण्डूक्योपनिषद् १ मे कहा है—'ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' अर्थात् एक ओम् ही अविनाशी है, शेष सम्पूर्ण जगत् उसी का विस्तार है। वाचक (नाम) और वाच्य (नामी) मे अभेद होता है इसलिये ओम् के विस्तार होने का अर्थ है कि समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की रचना होने से उसके कतिपय गुणो का प्रदर्शन मात्र है।

स्वामी शकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषत्कारिका के नाम से विष्णुसहस्रनाम के भाष्य मे लिखा है—

प्रणव हीश्वर विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

मनुष्य ओम् को सबके हृदय मे रहने वाला ईश्वर ही जाने।
उस सर्वव्यापी का मनन करके बुद्धिमान् शोकादि मे नही पडता।

ओकार की महिमा का बखान करते हुए गोपथ ब्राह्मण मे कहा है—'यो ह वा एतदोङ्कार न वेद न वश स्यादिति। अथ य एव वेद ब्रह्मवश स्यादिति' (गोपथ प्र १ ब्रा २९) अर्थात् जो ओकार को नही जानता वह वेद के वश मे

नही होता और जो उसे जानता है वह ब्रह्म (ईश्वर व वेद दोनो) के वश मे होता अर्थात् दोनो को जानता है ।

छान्दोग्योपनिषद् मे आलकारिक रूप मे ओकार का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

'एषां भूतानां पृथिवी रस, पृथिव्या आपो रस, अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रस, पुरुषस्य वाग्रस, वाच ऋग्रस., ऋच. साम रसः, साम्न उद्गीथो रस' (१-१-२) 'य उद्गीथ स प्रणवो य प्रणवः स उद्गीथः' (१-५-१) 'ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (१-१-१)।

पाच भूतो का रस पृथिवी है, पृथिवी का जल रस, जल का रस ओषधि, ओषधियो का रस पुरुष, पुरूष का रस वाणी, वाणी का रस ऋचायें, ऋचाओ का रस साम और साम का रस उद्गीथ है । जो उद्गीथ (उच्च स्वर से गाने से) है वही प्रणव (ओ३म्) है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है । इसलिये ओम् नाम वाले अविनाशी उद्गीथ की ही उपासना करनी चाहिये ।

शिवि के पुत्र सत्यकाम ने जब महर्षि पिप्पलाद से पूछा—
'हे भगवन् ! जो व्यक्ति जीवन भर ओकार की उपासना करता है उसे किस लोक का अधिष्ठातृत्व पद प्राप्त होता है ?' महर्षि पिप्पलाद बोले—

स यद्येकमात्रमभिध्यायति स तेनैव सवेदितस्तूर्णमेव जगत् सम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥

य पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण पर पुरुषमभिध्यायति स तेजसि सूर्ये संपन्न । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै पाप्मना विनिर्मुक्त स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्पर पुरिशय पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्लोकौ भवत.—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्मासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञ. ॥
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्ष सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

(प्रश्नोपनिषद् पंचम प्रश्न ३-७)

जो प्रभु भक्त ओङ्कार की एक मात्रा 'अ' का अभिध्यान करता है अर्थात् ओंकार में थोडा सा भी चित्त लगाता है वह उतने से ही सचेत हो जाता है । उसका आत्मा जाग उठता है और वह ससार में बडी जल्दी समस्त सुख-सामग्री का सचय कर लेता है । ओंकार की एक मात्रा का ध्यान ऋग्वेद का ज्ञान है ।

ऋक् ज्ञान उसे मनुष्य लोक मे ले जाता है जहा वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है।

यदि भक्त ओंकार की दो मात्राओ 'अ' 'उ' का ध्यान करता है अर्थात् उसमे और अधिक चित्त लगाता है तो वह उससे मानसिक जगत् की सम्पूर्ण सुखशान्ति का सम्पादन कर लेता है। द्विमात्र का ध्यान मानो ऋक् के साथ-साथ यजुर्वेद का भी ध्यान है और अन्तरिक्ष लोक मे पहुच जाता है। वहा वह सोमलोक मे मन सम्बन्धी समस्त सुखदायिनी सामग्री से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करके फिर यहा लौट आता है।

और जो मनुष्य ओंकार की तीनो मात्राओ 'अ' 'उ' 'म्' से अर्थात् अनन्य-भाव से परम पुरूष ब्रह्म का ध्यान करता है उसमे तेज उत्पन्न हो जाता है, वह सूर्य के समान तेज का सम्पादन कर लेता है। जैसे साप केंचुली को छोड देता है वैसे ही वह पाप को छोड देता है। वह सामवेद से ब्रह्मलोक मे जा पहुचता है। तब वह जीव के शरीर से परे से परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सृष्टि मे व्याप्त परम पुरुष को देख लेता है। इस विषय मे ये दो श्लोक भी प्रमाण हैं—

ओंकार की तीनो मात्राओ से युक्त ज्ञानी मनुष्य जब अनन्य भाव से परमेश्वर के ध्यान मे अवस्थित होता है तो वाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाओ मे ठीक-ठीक प्रयोग से अपने मार्ग से विचलित नही होता और मृत्यु को जीत लेता है।

इसीलिये तैत्तिरीयोपनिषद् मे कहा है—'ओमिति ब्रह्म, ओमितीद सर्वम्' अर्थात् ओ३म ही ब्रह्म है, ओ३म ही सब कुछ है।

मुण्डकोपनिषद् मे आता है—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२-२-४

ओ३म् नाम के धनुष पर आत्मा रूपी वाण को चढाकर, आलस्य और प्रमाद को त्यागकर, तन्मय हो ब्रह्म को लक्ष्य कर बेधे। तब, जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है वैसे ही आत्मा ब्रह्ममय हो जायेगा।

कठोपनिषद् मे लिखा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
एतद्ध्येवाक्षर ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥२-१५, १६

सब वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते है, सब तप जिसको पुकारते है जिसको चाहते हुए लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद को मैं तुझे सक्षेप मे कहता हू—'वह ओ३म् है'।

ओ३म् ही अविनाशी ब्रह्म है, यही सबसे महान है। इस अक्षर को जान

लेने वाला जो कुछ चाहता है प्राप्त कर लेता है। इसी भाव को गीता मे इन शब्दो से दुहराया गया है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तते पद सग्रहेण प्रवक्ष्ये ।। ८-११

प्रत्येक कार्य का अनुष्ठान ओ३म् के उच्चारण से करने का आदेश देते हुए गीता (१७-२४) मे कहा गया है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ता. सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।

ब्रह्मवादियो की शास्त्रोक्त क्रियायें—यज्ञ, दान व तप ओ३म् शब्द के उच्चारणपूर्वक ही हुआ करती है।

इस श्लोक का भाष्य करते हुए रामानुजाचार्य ने लिखा—

'ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतप क्रिया विधानोक्ता आदौ 'ओ३म्' इति उदाहृत्य सतत सदा प्रवर्त्तन्ते ।'

'ओमभ्यादाने' (अष्टाध्यायी ८-२-२७) के नियम से यज्ञ मे मन्त्रो का उच्चारण करते समय मन्त्र के आरम्भ मे 'ओ३म्' जोड दिया जाता है। 'प्रणवष्टे' (८-२-८९) के नियम से मन्त्र के 'टि' की जगह 'ओम्' आदेश हो जाता है और 'अचोऽन्त्यादि टि' (१-१-६४) के नियम से अचो के मध्य मे अन्त का अच् है वह जिसके आदि मे हो उसकी 'टि' सज्ञा होती है। वेद की प्रतीक 'अपा रेतासि जिन्वति' का उच्चारण 'अपा रेतासि जिन्वतोम्' होगा।

यजुर्वेद (४०-१७) के 'ओ३म् स्मर' का अनुमोदन करते हुए भगवान् कृष्ण गीता (८-१३) मे कहते हैं—

ओमित्येकाक्षर ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
य प्रयाति त्यजन्देह स याति परमां गतिम् ।।

मरते समय परमात्मा का स्मरण करते हुए जो मनुष्य 'ओ३म्' का उच्चारण करता है वह परम गति मोक्ष को प्राप्त करता है। उपर्युक्त समस्त शास्त्रीय प्रमाणो से परमात्मा का निज तथा सर्वोत्तम नाम होने से ओ३म् के साथ उसका नित्य सम्बन्ध सिद्ध है ।।७८।।

नैमित्तिकान्यन्यानि ।।७९।।

अन्य नाम नैमित्तिक हैं।

ईश्वर के अनेक नाम हैं। किन्तु 'ओ३म्' के अतिरिक्त शेष सभी गौणिक-गुणनिमित्तक (जैसे जगत् मे व्याप्त होने से 'विष्णु') कार्मिक-कर्मनिमित्तक (जैसे दुष्टो को दण्ड देकर रुलाने से 'रुद्र') तथा स्वाभाविक-स्वभावनिमित्तक (जैसे सबको आनन्द देने वाला होने से 'चन्द्र') अर्थो के वाचक हैं। इसी प्रकार कल्याणकारी होने से 'शिव', सबसे बडा होने से 'ब्रह्मा', प्रकृत्यादि जड और

जीवो की गणना करने वालो का स्वामी होने से 'गणेश' जल और जीवो (नारा) मे निवास करने से 'नारायण', सर्वैश्वर्यरवान् होने से 'ईश्वर', ईश्वरो अर्थात् समर्थों मे सर्वाधिक समर्थ होने से 'परमेश्वर', सब जीवो का अन्तर्यामी आत्मा होने से 'परमात्मा' सबका आच्छादन (कुवि आच्छादने) करने से 'कुवेर', उत्पत्ति और प्रलय से वचा रहने से 'शेष' सुखकारी होने से 'शकर', अखिल ऐश्वर्ययुक्त होने से 'इन्द्र', देवो अर्थात् विद्वानो का भी विद्वान् और सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक होने से 'महादेव' कहाता है। जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनन्त हैं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त हैं। वेदादि शास्त्रो मे परमात्मा के असख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात है। उनमे से प्रत्येक गुण-कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है ॥७६॥

एकं सद् बहुधोक्तम् ॥८०॥

एक होते हुए भी उस सत्य रूप ब्रह्म को अनेकश पुकारा जाता है।

परमेश्वर अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है—अथर्ववेद (१३-४) में इसकी स्पष्ट घोपणा करते हुए कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठ. सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव (१६-२०)

अर्थात् न वह दूसरा है न तीसरा, न चौथा, न पाचवा, न छठा, न सातवा न आठवा, न नवा और न दसवा—वह तो एक ही है, सजातीयविजातीयस्व-गतभेदशून्य वह एक ही है।

इसी प्रकार ऋग्वेद मे भी उसके अद्वितीय होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते' (ऋक् ७-३२-३३) अर्थात् हे भगवन् ! तुझ जैसा न कोई दिव्य है और न कोई पार्थिव, न कोई हुआ है और न कभी होगा।

किन्तु एक होने पर भी प्रकरणान्तर्गत उसे भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा जाता है। इसमे ऋग्वेद (१-१६४-४६) की साक्षी है—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा वहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहु ॥

एक सत्यरूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामो से पुकारते हैं।

यजुर्वेद (३२-१) भी इसमे प्रमाण है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आप स प्रजापति ॥

वह पूर्ण पुरुष ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।

ऐतरेय ब्राह्मण (२-४१) के अनुसार भी 'चन्द्रमा वै ब्रह्म' ब्रह्म का नाम ही चन्द्रमा है।

मैत्रायण्युपनिषद् (६-८) मे कहा है—

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्र. प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भ सत्यं प्राणो हंस शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

यह परमात्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और इन्दु है।

'सूर्यशतनाम' मे भी 'इन्द्रो विवस्वान् दीप्ताशु. शुचि सौरि शनैश्चरः' कह कर इन्द्र, विवस्वान्, दीप्ताशु, शुचि, सौरि तथा शनैश्चर पदो से परमात्मा का उल्लेख किया है।

कठोपनिषद् (५-८) के अनुसार भी 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत कहाता है।

कैवल्य उपनिषद् (५-८) मे भी आया है—

स ब्रह्मा स विष्णु स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परम स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमा. ॥

वही ब्रह्मा है, वही विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, परम और स्वराट् है। वही इन्द्र, कालाग्नि और चन्द्रमा है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३-१२३-१३) ने भी अन्त मे कह डाला—

'सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः' अर्थात् ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

तृतीय अध्याय

जीवात्मा

पाञ्चभौतिको देहः ॥१॥

शरीर पाच भूतो से बना है।

स्थूल देह पाच भूतो से मिलकर बना है। भीतरी बाहरी मुख्य भाग पृथिवी तत्वो से बना है। समस्त रक्त तथा अन्य धातुओ एव अवयवो का सश्लेषण जलीय तत्वो से बना है। इसी प्रकार पाचन सस्थान तथा जीवनोपयोगी ऊष्मा अग्नितत्वो से, समस्त प्राण एव रक्त तथा अन्य धातुओ व मलो का देह मे सचरण वायुतत्वो से और बाहर भीतर समस्त अवकाश प्रदान आकाश तत्वो से बने हैं। इस प्रकार स्थूल देह पचभूतो का सघात है ॥१॥

किन्तु पचभूतो के सघात से चैतन्य की उत्पत्ति नही हो सकती—इसका कारण अगले सूत्र मे बताया है—

न सांहत्येऽपि भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२॥

प्रत्येक मे न देखे जाने से सघात मे भी भूतो का चेतन होना सभव नही।

भूतो का विश्लेपण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व मे चेतन की प्रतीति नही होती। भूतो का मूल उपादान तत्त्व सर्वथा जड है। जब उनमे प्रत्येक मे चैतन्य का अभाव है तो उनके सघात मे चैतन्य कहा से आ जायेगा? जो है ही नही वह व्यक्त कैसे होगा? तिल के एक दाने मे तेल है तो इन दानो के सघात से तेल की धार वह निकलेगी। वालू के एक कण मे भी तेल नही तो वालू के ढेर मे से भी उसकी एक बूद न टपकेगी। इससे स्पष्ट है कि चेतना इनसे सर्वथा भिन्न है ॥२॥

प्रतिपक्षी इसके विरुद्ध तर्क उपस्थित करता है—

भूतसंयोगेन चैतन्योत्पत्तिर्मदवत् ॥३॥

भूतो के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है, मद की तरह।

जिन अनेक द्रव्यो के मेल से मद की उत्पत्ति होती है उनमे से किसी मे भी पृथक् रूप मे मादकता की प्रतीति नही होती। फिर भी सबके मेल से तैयार घोल मे मादकता आ जाती है। वैसे ही जड मूल तत्त्वो के सयोग से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है ॥३॥

इस तर्क की समीक्षा अगले सूत्र मे की गई है—

प्रत्येकपरिदृष्टे. सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥४॥

सूक्ष्म रूप से देखने पर प्रत्येक द्रव्य मे मादकता की प्रतीति होने से ही उनके घोल मे मादकता आती है ।

वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि मद्य को तैयार करने मे प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक पदार्थ मे मादकता का अश है । इसी कारण उनके साहत्य मे मादकता उत्पन्न हो जाती है । यदि द्रव्यो मे मादकता नही है तो उनके सघात मे मादकता की जगह कुछ और उत्पन्न क्यो नही हो जाता ? अथवा मद्य वनाने मे द्रव्य विशेष का ही प्रयोग क्यो किया जाता है ? मादक घोल के प्रत्येक द्रव्य मे मादकता के अश की तरह जगत् के मूल तत्वो मे किसी भी रूप मे चेतना का अश नही पाया जाता । इसलिए इन तत्वो के सघात से भी चेतना नही आ सकती । इस विपय मे ज्ञातव्य है कि वस्तुत. मद्य मे मद उत्पन्न नही होता । मद तो मद्य के पीने से चेतन को होता है । मद मे कारण होने से ही मद्य को 'मद्य' कहते हैं । मद्य की व्युत्पत्ति है—'मदे साधु मद्यम्' (अष्टा ४।४-६८ तत्र साधु सूत्र) ॥४॥

इस पर प्रतिपक्षी आपत्ति प्रस्तुत करता है—

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात् ॥५॥

चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है, क्योकि मरे पीछे जीव प्रत्यक्ष नही होता ॥॥५॥

इसके निराकरण के लिए कहा—

पदार्थनामदर्शनं न त्वभावः ॥६॥

पदार्थ अदृष्ट होते हैं, उनका अभाव नही होता ।

किसी पदार्थ के न दीखने से उसे नष्ट हुआ नहीं मानना चाहिये । 'नष्ट' शब्द 'णश्-नश्' (णश् अदर्शने-धातुपाठ ४-८३) धातु से निष्पन्न हुआ है । अत इसका अर्थ 'अदर्शन' है । पाणिनि के अनुसार 'अदर्शन लोप' अदर्शन ही लोप कहाता है । सिद्धान्त भी यही है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत.' (गीता २-१६) अर्थात् असत् का भाव और सत् का अभाव नही हो सकता । इसलिए अदृश्य होने से जीव का अभाव नही माना जा सकता । यदि पाच-भौतिक देह को आत्मा मान लिया जाये तो मरण आदि अवस्थाओ का भी अभाव हो जाना चाहिए । देह मे चेतन का रहना या चेतन द्वारा शरीर को छोड़कर चले जाना ही मृत्यु है । यदि समस्त देह स्वत' चेतन है तो किसी के छोड़कर चले जाने का प्रश्न ही नही रहता । पर यह सव प्रत्यक्ष के विरुद्ध है । जहा तक आत्मा के प्रत्यक्ष न होने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष गुणो का होता है और गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से

गुणो के द्वारा ही गुणी का प्रत्यक्ष होता है। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही उसका प्रत्यक्ष है ॥६॥

जीवात्मा के गुणो द्वारा प्रत्यक्ष होने मे अन्य युक्ति देते हैं।

उत्क्रान्ते जीवात्मनि ज्ञानाद्यभावात् ॥७॥

जीवात्मा के निकल जाने पर ज्ञानादि का अभाव हो जाता है।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख, और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। इसलिये जव तक शरीर मे जीवात्मा रहता है तब तक ये सब प्रत्यक्ष रहते है। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यो के त्यो रहते हुए भी, इन सब का अभाव हो जाता है। इसी से जीवात्मा का प्रत्यक्ष है। यदि देह से भिन्न कुछ अन्य न हो तो देह के रहते ज्ञानादि का अभाव कभी न हो। अत जिसके सयोग से चेतनता और वियोग से जडता आती है वही जीवात्मा है ॥७॥

यह शरीर से भिन्न है—इसमे एक और हेतु देते हैं।

व्यवहारस्वातन्त्र्यात् ॥८॥

व्यवहार की स्वतन्त्रता के कारण।

वातावरण से प्राप्त होने वाले उत्तेजको के प्रत्युत्तर मे शरीर तुरन्त प्रतिक्रिया करता है। व्यवहारवाद के सिद्धात के अनुसार यह प्रतिक्रिया सदा एक सी होनी चाहिये और सभी प्राणियो मे एक समान होनी चाहिये। किन्तु व्यवहार मे इसे भिन्न रूप मे देखा जाता है। एक व्यक्ति एक गाल पर थप्पड खाकर दूसरा गाल मारने वाले के सामने कर देता है, दूसरा चुपचाप चला जाता है और तीसरा वदले मे एक की जगह दो मार देता है। एक आदमी सामने भेडिया देखकर भाग खडा होता है तो दूसरा लाठी लेकर लडने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक कष्ट मे जब एक मनुष्य भगवान् को कोसने लगता है, दूसरा उसे प्रभु की इच्छा मानकर प्रसन्नवदन कहता है–ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो। तात्पर्य यह, कि मनुष्य किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर मे किसी निश्चित प्रतिक्रिया से बधा नही है, वरन् अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति मे स्वतन्त्र है। यदि पाचभौतिक शरीर से भिन्न कोई चेतन सत्ता न हो, तो मानवीय क्रियायें यन्त्रवत् सदा सव मे एक जैसी हो। वस्तुत प्राणी की वौद्धिक प्रतिक्रियाये किसी ऐसे जड पदार्थ का गुण नही हो सकती, जो शरीर मे स्नायु मण्डल को वनाता है ॥८॥

इसलिये—

शरीरादिव्यतिरिक्त पुमान् वैशिष्ट्यात् ॥९॥

विशेपता के कारण जीवात्मा शरीरादि मे भिन्न है।

देहादि समस्त पदार्थ परिणामी, जड़ एवं नश्वर हैं परन्तु जीवात्मा नित्य, चेतन तथा अपरिणामी हैं। देहादि पदार्थ भोग्य अथवा भोग का साधन हैं। पर आत्मा स्वयं भोक्ता है। शरीर का परिणामी और आत्मा का अपरिणामी होना हम हर समय अनुभव करते हैं। शरीर के परमाणु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। बुढ़ापे अथवा मृत्यु तक पहुंचते-पहुंचते शरीर बिल्कुल बदल जाता है। फिर भी हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है जो कभी बालक था। हम समझते हैं कि इस नित्य बदलते शरीर में कुछ ऐसा है जो किंचित् नहीं बदलता। कभी-कभी हम यह भी अनुभव करते हैं कि इस शरीर में स्वेच्छा से नहीं आये, अपितु किसी ने हमें बलात् बन्दी बना दिया है। शरीर से अपने को भिन्न मानकर ही कभी-कभी हम इसमें से निकल भागना चाहते हैं। आत्म-हत्या के लिये उद्यत हो जाना इसी भावना का परिणाम है ॥९॥

आत्मा देहादि भवान से भिन्न है—इसे सिद्ध करने के लिए अगले सूत्रों में कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत किये गये हैं—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥१०॥

शरीर के जलाये जाने पर पाप के अभाव से।

शरीर-देह से भिन्न आत्मा न हो तो मृत देह को जलाने में भी पाप होना चाहिये। हम देखते हैं कि जिस प्रकार जीवित देह को जलाने वाले को अपराधी मानकर दण्ड दिया जाता है वैसे मृत देह को जलाने वाले को नहीं। क्योंकि यह माना जाता है कि मरने के बाद तो मिट्टी रह जाती है और तब उसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। इसलिये अब उसे जलाने में कोई दोष नहीं है। स्पष्ट है कि चेतन (जीवात्मा से संयुक्त) देह को जलाना पाप है, जड़ को जलाना निर्दोष है ॥१०॥

होता रहता है। प्रतिक्षण शरीर के कुछ अश नष्ट होते और कुछ नये उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक क्षण मे शरीर अन्य का अन्य होता जा रहा है। जो शरीर आज है वह कल नही रहेगा। इसलिये यदि देह को आत्मा माना जाये तो आज की देह के किये कर्म के फल को कल वाला शरीर भोगेगा। और कर्त्ता शरीर दण्ड पाने से छूट जायेगा। इस प्रकार देहादि सघात को आत्मा मानने पर देहादि प्राणी का प्रतिक्षण भेद होते रहने से कृतहानि और अकृता-भ्यागम दोष प्राप्त होगा ॥१२॥

षष्ठोव्यपदेशादपि ॥१३॥

पष्ठी विभक्ति के व्यवहार से भी।

सामान्य व्यवहार मे भी सब लोग 'मेरा हाथ' 'मेरी आख' इत्यादि शब्दो का प्रयोग करते है। इससे स्पष्ट है कि 'हाथ' और 'आख' का स्वामी इनसे भिन्न है। क्योकि षष्ठी विभक्ति का व्यवहार वस्तुओ मे भेद होने पर किया जाता है। यदि देह को आत्मा मान लिया जाये तो 'मैं हाथ' 'मैं आख' ऐसा प्रयोग होना चाहिए, न कि 'मेरा हाथ' 'मेरी आख'। इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का व्यवहार स्वस्वामिभाव का द्योतक है। आत्मा स्वामी और शरीर उसका स्वत्व है ॥१३॥

दर्शनस्पर्शाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥१४॥

चक्षु और त्वक् इन्द्रियो के द्वारा एक अर्थ के ग्रहण से।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण और प्रतिसन्धान कर सकती है, अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विपय का नही। किन्तु जिस वस्तु को हम आख से देखते हैं उसी को हाथ से छूकर कहते हैं कि जिसे आख से देखा था उसी को हाथ से छू रहे हैं या जिसे हाथ से छुआ था उसी को आख से देख रहे हैं। खाद्य पदार्थ को आखो से देखकर ही जिह्वा मे पानी भर आता है। यदि इन्द्रिया ही ज्ञाता होती तो ऐसा कभी न होता क्योकि और के देखे का और को स्मरण नही हो सकता। जो विभिन्न इन्द्रियो द्वारा गृहीत ज्ञानो का प्रतिसन्धान करता है वह इनसे भिन्न आत्म-तत्त्व है ॥१४॥

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥१५॥

वाईं आख से देखे पदार्थ का दाईं आख से प्रत्यभिज्ञान होने से।

पहले और पिछले दो ज्ञानो का जो एक विषय मे मिला हुआ ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जिस वस्तु को पहले वाईं आख से देखा हो उसे दाईं आख से देखकर यह कहना कि यह वही वस्तु है जिसे पहले वाईं आख से देखा था उस वस्तु का प्रत्यभिज्ञान है। यदि देह से भिन्न आत्मा को न माना जाये

तो प्रत्यभिज्ञान हो ही नही सकता क्योकि अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता ॥१५॥

संहतपरार्थत्वात् ॥१६॥

सघात के परार्थ होने से।

सहत अर्थात् सघात रूप मे विद्यमान समस्त अचेतन तत्त्व परार्थ देखा जाता है। उसकी समस्त प्रवृत्ति 'पर' के लिये है। समस्त त्रिगुणात्मक जगत् भोग्य है। उसकी उपयुक्तता व सफलता तभी है जब कोई उसका भोक्ता हो। अचेतन भोग्य जगत् का कोई चेतन भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य स्वय अपना भोक्ता नही हो सकता। इसलिये प्रकृति के भोक्ता के रूप मे जीवात्मा का अस्तित्व सिद्ध है॥१६॥

यह आत्मा, सिद्ध होते हुए भी, इन्द्रियो से दिखाई नही देता क्योकि वह इन्द्रियो का विषय नही है—

न ह्यात्मन· प्रत्यक्षमिन्द्रियैः ॥१७॥

इन्द्रियो से आत्मा का प्रत्यक्ष नही होता।

प्रत्यक्ष का करने वाला अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नही कर सकता। जैसे आख सबको देखती है किन्तु अपने को नही। द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है, दृश्य नहीं होता। हा, आत्मा और मन के सयोग विशेष से योगी को आत्मा मे अपने और पराये आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष है क्योकि इनमे वाह्येन्द्रियो का उपयोग नही होता ॥१७॥

अगले सूत्रो मे आत्मा के नित्यत्व का विवेचन किया गया है।

अनाद्यनन्तो जीवात्मा ॥१८॥

जीवात्मा अनादि और अनन्त है।

ब्रह्म की भाति जीव भी अनादि और अनुत्पन्न है। वह स्वरुप से नित्य है। न उसकी उत्पत्ति प्रकृति के तत्वो से हुई है जैसा कि प्रकृतिवादी कहते हैं और न ब्रह्म से जैसा कि नवीन वेदान्ती मानते हैं। जड पदार्थ से सभव नही क्योकि जड मे चेतना न होने से उससे चेतन जीव नही वन सकता। यदि कहे कि परमात्मा ने अपने मे से वना दिया तो परमात्मा स्वय विकारी हो जायेगा। जीव ईश्वर का न अश है, न छाया। अश होता है अवयवी का। किन्तु ईश्वर अखण्ड और विभु है। इसलिए जीव और ईश्वर मे अशाशी भाव नही घट सकता। छाया पडती है किसी पदार्थ की किसी दूरस्थ दूसरे पदार्थ मे। ईश्वर से दूरस्थ कोई पदार्थ नही जिसमे ईश्वर की छाया पड सके। इसलिए प्रतिविम्ववाद से भी जीव की उत्पत्ति सम्भव नही। कार्य-कारण सम्वन्ध से भी

जीव का उत्पन्न होना नही बनता। प्रथम तो 'कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट' के नियम के अनुसार ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य मानने से जीव के गुण-कर्म-स्वभाव ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश होने चाहियें। किन्तु ऐसा है नही। ईश्वर सच्चिदानन्द है जब कि जीव केवल सच्चित् है। इसी प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और निर्विकार है जबकि जीव अल्पशक्ति, अल्पज्ञ और विकारी है। दूसरे कारण, कार्य से पहले होता है। इसलिये ईश्वर और जीव दोनो का एक साथ होना नही बनता। इस प्रकार जीव को किसी भी रूप मे निर्मित अथवा उत्पन्न हुआ मानना तर्क विरुद्ध है। फिर, जो बना है वह कभी नष्ट भी अवश्य होगा ॥१८॥

परन्तु—

अनुच्छित्तिधर्मायमात्मा ॥१९॥

आत्मा तो अविनाशी है।

जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य होगा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'-जो उत्पन्न होगा वह मरेगा भी अवश्य। किन्तु जीवात्मा अमर है। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे (गीता)-शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नही। 'जीवापेत वाव किलेद म्रियते न जीवो म्रियते' (छान्दोग्य ६-११-३)—जीवात्मा से रहित यह शरीर मरता है, जीव नही। 'ज्ञाज्ञो द्वावजावीशानीशौ' (श्वेत १-९) जड (प्रकृति) और चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित—दोनो ही अजन्मा है। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित' (कठ १-२-१८) यह चेतन आत्मा न जन्मता है, न मरता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-८) मे कहा—'स वा अय पुरुषो जायमान शरीरमभिसम्पद्यमान स उत्क्रामन् म्रियमाण' अर्थात् जब वह जीवात्मा पुरुष शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहलाता है। इस प्रकार जीवात्मा मे जन्म मरण का व्यवहार देह के सयोग-वियोग के आधार पर होता है। शकराचार्य ने अपने शाकर भाष्य (२-३-१६) मे लिखा—

न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्त । शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गतेष्टानिष्टप्राप्ति परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम् ।

जीव की उत्पत्ति प्रलय नही होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाये तो दूसरे शरीर मे इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो? और शास्त्र मे जो विधिनिषेधात्मक उपदेश हैं वह भी व्यर्थ हो जायें। यदि कही जीव की उत्पत्ति या विनाश का उल्लेख पाया जाये तो वह शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिये।

देह को छोड कर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त कर लेता है।

पूर्व-पूर्व जन्म मे अनुष्ठित कर्मो के अनुसार विविध प्रकार के शरीरो को धारण करना जीवात्मा की अनादि और अनन्त जन्म-कर्म-फल परम्परा को सिद्ध करता है। जातमात्र वालक द्वारा हर्ष, भय शोक की अभिव्यक्ति और आहार की इच्छा तथा प्रयत्न को देख सहज ही उसके पूर्व जन्म के अभ्यास की प्रतीति होती है। यह जीवात्मा के अविनाशी होने और अविनाशी होने से उसके अनुत्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण है ॥१९॥

आत्मा के नित्यत्व मे एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नाभावो विद्यते सतः ॥२०॥

सत् (भाव) का अभाव नही होता।

जिस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सभव नही, उसी प्रकार भाव का विनाश अथवा अभाव भी सभव नही। यदि आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तो उसका अनादि और अनन्त होना स्वतः सिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। जिस तर्क से 'हम हैं' उसी तर्क से 'हम थे' और 'हम होंगे' भी ॥२०॥

अव जीवात्मा के परिमाण का विवेचन करते हैं—

परिच्छिन्नो जीवात्मा ॥२१॥

जीवात्मा परिच्छिन्न (अणु परिमाण) है।

अणु जीवात्मा शरीर मे रह कर मन आदि के द्वारा सारे शरीर का नियन्त्रण करता है। जैसे चन्दन का एक विन्दु एक अग मे लगा हुआ सारे शरीर को आल्हाद की अनुभूति देता है वैसे ही समस्त शरीर मे फैली हुई ज्ञानवहा नाडियो के द्वारा जीवात्मा एक देश मे रहता हुआ देह के प्रत्येक अग मे होने वाले बाह्य स्पर्श आदि का अनुभव करता है। लोक मे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि सहायको के द्वारा समस्त राष्ट्र की व्यवस्था करता है। वैसे ही हृदय मे स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। मुण्डकोपनिषद् (३-१-९) मे स्पष्ट रुप से आत्मा को अणु वताया है–'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य' यह अणु आत्मा शुद्धान्तकरण से जानने योग्य है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (५-९) मे आत्मा के माप का उल्लेख होने से भी उसके अणु होने की पुष्टि होती है। जीवात्मा को विभु मानने का तात्पर्य होगा कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत प्रोत है–एक ही आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सव शरीरो मे वर्तमान होगा और सव जीवो के सुख दु ख और समस्त क्रियाओ मे पूर्ण समानता होगी। उस अवस्था मे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, मरण, सयोग, वियोग कुछ भी न होगा। जीवात्मा के उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का भी सामजस्य न रहेगा। मुण्डकोपनिषद् (१-२-११) मे आता है–'सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति'

आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं । वृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-२) मे कहा–'तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य' अपने उस चेतन स्वरुप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागो से निकल जाता है । कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (१-२, ३-३) मे भी जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अव्यस' (१६-६८-१) शब्द का अर्थ किया है–अव्यस =अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मन अर्थात अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का। यह-उत्क्रान्ति एव आना जाना अणु परिमाण जीव मे ही सभव है । देह तथा देहावयवो से निकलना व उन्हे छोडना आत्मा के विभु होने पर असभव है । जब पक्षाघात (लकवा) हो जाता है तो तन्तु सम्बन्ध मे विकार आ जाने से प्रभावित क्षेत्र मे काटा चुभना अनुभव नही होता । यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नही होना चाहिए था । ये सब युक्तिया और प्रमाण आत्मा के अणु परिमाण को सिद्ध करती हैं । इस परिच्छिन्न जीव की शक्तियां ही शरीर मे प्राण, बिजली और नाडी आदि के साथ सयुक्त होकर कार्य करती हैं ॥२१॥

अगले सूत्र मे इस भ्रम का निवारण किया गया है कि जितना बडा शरीर होता है उतना ही बडा उसमे रहने वाला आत्मा—

न स्वदेहपरिमाणः ॥२२॥

देह के अनुरूप जीवन का परिमाण नही होता ।

जीव अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है जो परमाणु मे भी रह सकता है । छोटे-बडे शरीरो के अनुसार आत्मा को मध्यम परिमाण मानने पर उसमे सकोच-विकास के आवश्यक होने से वह अनित्य हो जायेगा । यदि जीव का परिमाण शरीर के बराबर हो तो मनुष्य शरीर मे ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे जैसे शरीर मे वृद्धि होगी वैसे वैसे जीवात्मा भी शरीर मे फैलता जायेगा—बच्चे का जीव छोटा और युवा का बडा होगा । कृशकाय व्यक्ति का छोटा और स्थूलकाय व्यक्ति का जीव बडा होगा । इससे जीव अवयवी हो जायेगा क्योकि निरवयव पदार्थ का शरीरो के अनुसार घटना बढना नही हो सकता । सावयव होने पर अवयवो के सयोग वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा । मैं छोटे कमरे मे भी रह रह सकता हू और बहुत बडे में भी । हा, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बडा और मेरा शरीर उस कमरे से छोटा हो । अणु परिमाण होने से जीव चीटी और हाथी दोनो के शरीर मे रह सकता है । ऐसा न मान कर जीव को शरीर- परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चीटी मे और चीटी का जीव हाथी मे कैसे समायेगा और कार्य करेगा ? ॥२२॥

अब जीव के परिमाण का उल्लेख करते हैं ।

वालाग्रादणीयाञ्जीवः ॥२३॥

जीवात्मा वाल से सूक्ष्म है।

प्रकारान्तर से जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद (१०-८-२५) मे कहा–'वालादेकमणीयस्कमुतैक नैव दृश्यते। तत परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया'। एक अर्थात् जीवात्मा वाल से भी सूक्ष्म है और एक प्रकृति है जो दीखती ही नही। इन दोनो मे व्याप्त जो देवता है वही मेरा प्रिय है। इस मन्त्र में वर्णित जीव के स्वरुप को श्वेताश्वतर उपनिषद् (५-६) मे स्पष्ट करते हुए कहा–'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीव॰ स विज्ञेय स चानन्त्याय कल्पते' अर्थात् वाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जायें तो उनमे से एक के वरावर जीव परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ होता है। उपनिषदो मे अनेकत्र (कठ ४-१२ व १३, ६-१७, श्वेत ५-८) जीवात्मा को अगूठे के वरावर (अगुष्ठमात्रः पुरूप॰) वताया है। अगुष्ठमात्र कहने का यह अभिप्राय नही कि वह अगूठे के वरावर परिमाण वाला है। शरीर मे जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अगूठे जैसी होने के कारण 'ताम्थ्योपाधि' से कह दिया है– जैसे 'मचस्थपुरुषा॰ क्रोशन्ति' के स्थान पर 'मचा क्रोशन्ति' कह दिया जाता है। तथापि किसी सभावित भ्रान्ति का पहले ही निवारण कर देने के उद्देश्य से 'अगुष्ठमात्र' के साथ ही 'आराग्रमात्र' (सुई की नोक के वरावर) कह दिया। वस्तुत ये वातें जीवात्मा के नियत माप का निर्देश नही करती। यह केवल उसके अत्यन्त सूक्ष्म अणु परिमाण का वोध कराने के लिए कही गई हैं ॥२३॥

अव शरीर मे जीव की स्थिति का निरूपण करते हैं—

हृदि ह्येष आत्मा ॥२४॥

आत्मा हृदय मे रहता है।

आत्मा के अणु परिमाण होने से यह स्वत सिद्ध है कि वह शरीर मे किसी नियत स्थान मे रहता है। वह स्थान कौन सा है? छान्दोग्य उपनिषद् (८-३-३) मे वताया–'स वा एप आत्मा हृदि, निश्चय से वह आत्मा हृदयदेश मे रहता है। इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-७) मे भी कहा है–'कतम आत्मेति योऽय विज्ञानमयः प्राणेपु हृद्यन्तज्योंति॰ पुरुप' आत्मा कौन है, जो यह ज्ञाता प्राणो (इन्द्रियों) के वीच घिरा हुआ हृदयदेश के अन्दर चेतन पुरूप है। आत्मा का हृदयदेश मे निवास निश्चित हो जाने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस हृदय मे आत्मा का वास है वह हृदय स्वय कहा है? क्या रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय ही आत्मा का निवास स्थान है? सुश्रुत (शरीर. ४-३४) में कहा गया है–

हृदय चेतनास्थानमुक्त सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥

हे सुश्रुत ! देहियो का चेतना स्थान हृदय कहा जाता है। वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है तो देही निद्रा अवस्था मे प्रवेश करता है। रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय तो जाग्रत और निद्रा दोनो अवस्थाओ मे अनवरत अपना काम करता रहता है। इसलिये उसके तमस् से अभिभूत होकर निद्रा का प्रयोजक बनने का प्रश्न ही नही है। निश्चय ही इस हृयय का स्थान मस्तिष्क मे है। मस्तिष्कगत हृदयदेश की वह क्रिया तमस् से अभिभूत होने पर शिथिल हो जाती है जो ज्ञानवहा नाडियो के द्वारा बाह्य इन्द्रियो का सम्पर्क मस्तिष्कगत उस प्रदेश के साथ जोडती है जहा मन आदि अन्त करणो के सहयोग से आत्मा बाह्य विषयो की अनुभूति रखता है। ज्ञानतन्तुओ का केन्द्र मस्तिष्क मे होने से वही आत्मा का आवास है। जहा से वह ज्ञानतन्तुओ के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है। आत्मा का निवास स्थान रक्त के आक्षेप और प्रक्षेप करने वाला हृदय नही किन्तु वह मस्तिष्कगत प्रदेश है— इसका सकेत अथर्ववेद के नीचे दिये मन्त्रो (१०-२-३१,३२,३३) मे मिलता है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय कोश स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदु ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सपरीवृताम् ।
पुर हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

निश्चय ही शरीर मे कोई ऐसा स्थान होना चाहिये जिससे इस वर्णन का सामजस्य हो सके। 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवाना पूरयोध्या' तो निःसन्देह यह पाचभौतिक देह है। इस देह मे उस स्थान को खोजना है जिसकी 'सज्ञा हिरण्यय कोश' है और जिसके विशेपण 'स्वर्ग' व 'ज्योतिषावृत' हैं तथा जिसके मध्यवर्ती 'त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित' स्थान मे आत्मा का निवासस्थान है। 'हिरण्यय' पद का अर्थ है हिरण्यय अर्थात् सुवर्ण की प्रचुरता से बना हुआ। मस्तिष्क मे एक अवयव है जो हलके पीले रग वाले पदार्थ से बना है। आधुनिक शरीरशास्त्र मे इसे 'आज्ञाकन्द' या 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। वह दो भागो मे विभक्त होता है। यह आज्ञाकन्द ही 'हिरण्यय कोश' है। इसकी आकृति मनुष्य के पैर के अगूठे के अग्रपर्व के समान होती है। इसमे रहने के कारण ही 'अगुष्ठमात्र पुरुष' कह कर आत्मा का वर्णन किया गया। आज्ञाकन्द के दोनो भागो के मध्य मे थोडा अवकाश रहता है जिसे 'ब्रह्मगुहा कहते हैं। यही आत्मा का निवास है। यह अवकाश त्रिकोण सा प्रतीत होता है और ऐसा लगता है जैसे कोई वस्तु तीन पायो पर टिकी हो। इस लिये इसे 'त्र्यरा-त्रिप्रतिष्ठित' कहा गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मे स्वर्ग ऊर्ध्वस्थानीय बताया गया है। शरीर के ऊर्ध्व भाग मे अवस्थित होने से ही हिरण्यय कोश को स्वर्ग कहा गया है। क्योकि

हिरण्यय कोश का निर्माण पीताभवर्ण पदार्थों से हुआ है इसलिये उसे ज्योतिपावृत कहना सर्वथा उचित है। कठोपनिषद् मे जीवात्मा को भी धूमरहित ज्योति के समान बताया है। 'आत्मन्वत् यक्ष' का अर्थ है–शरीर से युक्त आत्मा। इस प्रकार मस्तिष्क के अन्तर्गत पीताभवर्ण दो आज्ञाकन्दो के बीच स्निग्ध तरल से पूर्ण त्रिकोण परिखाकार स्थान है वही वह हृदय है जहाँ आत्मा का आवास है। योगी जन इसी को 'ब्रह्मगुहा' कहते हैं ॥२५॥

जहा एक वस्तु होती है वहा दूसरी नही रह सकती। इसलिये जीव को परिच्छिन्न मानने पर ईश्वर और जीव का सयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्यापक व्याप्य नही–इसकी समीक्षा अगले सूत्र द्वारा की गई है—

जीवापेक्षयेशस्य व्यापित्वात्तयोर्व्याप्यव्यापकसम्बन्धः ॥२५॥

जीव की अपेक्षा ईश्वर के व्यापक होने से दोनो मे व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध है।

एक ही देश मे दो पदार्थ नही रह सकते–यह नियम समान आकार वाले पदार्थों मे घटता है, असमान आकृति वालो मे नही। अग्नि लोहे से सूक्ष्म है। इसलिये अग्नि अथवा विद्युत् अपने से स्थूल लोहे मे रह सकती है। जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से जीव व्याप्य और परमेश्वर व्यापक है। इस प्रकार उनमे व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध होने मे कोई आपत्ति नही आती। वस्तुत ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सृष्टि के कण कण मे ओतप्रोत है ॥२५॥

यदि परमेश्वर सर्वव्यापक है तो सभी पदार्थों मे चेतनता होनी चाहिये–इस शका का निवारण करते हुए कहते हैं—

न तु व्याप्यव्यापकत्वादैकात्म्यम् ॥२६॥

किन्तु व्याप्य और व्यापक एक नही होते।

व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। इस भेद के कारण दोनो एक नहीं हो सकते। लोहे के गोले मे अग्नि होते हुए भी लोहा और अग्नि एक नही हैं। आकाश सवमें व्यापक है किन्तु उसके व्याप्य घटपटादि एकदेशी हैं। इसलिये जैसे आकाश अदृश्य–अस्पर्श्य है वैसे घटपटादि अदृश्य–अस्पर्श्य नही हैं। इसी प्रकार चेतन परमेश्वर के सवमें होने से सव चेतन नहीं हैं ॥२६॥

अव जीव के सामर्थ्य के विषय में कहते हैं।—

स्वरूपेणाल्पज्ञो ऽल्पशक्तिश्चात्मा ॥२७॥

जीवात्मा स्वरूप से अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है।

कोई अपने स्वरूप को नहीं छोड सकता। जीवात्मा चाहे जव तक और चाहे जितना अपना ज्ञान और सामर्थ्य वढाता जाये उसका ज्ञान परिमित

और सामर्थ्य सीमित ही रहेगा। अपने सीमित साधनो के वल पर वह चाहे कितना ही पुरूषार्थ करे, ईश्वर के समान सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नही वन सकता। योगाभ्यास के द्वारा जीव ब्रह्म को जान कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है–'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'। और ब्रह्म को जानने के वाद कुछ जानने को नही रह जाता। इतने पर भी जीव 'सर्ववित्' एव 'सर्वकर्त्ता' नही हो सकता। वडे से वडा योगी भी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को न वदल सका है, न भविष्य मे कभी वदल सकेगा। अल्पज्ञता अपने मे अज्ञान को रखती है और अज्ञान के कारण ही वह अपवित्रता मे पवित्रता, दुख मे सुख, अनित्य मे नित्य और अनात्मा मे आत्मा की भावना करके आवरण मे आता, शरीर के साथ प्रकट होने पर जन्म लेता, पापकर्मों के फल–भोगरुप वन्धन मे फसता, और उससे छूटने का प्रयत्न करता रहता है ॥२७॥

शरीर मे जीवात्मा के अस्तित्व की पहचान वताते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥२८॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान आत्मा के चिह्न (परिचायक) हैं।

किसी पदार्थ का रसना से रुचिकर आस्वादन कर कालान्तर मे उसे आख से देखते ही उसे लेने की इच्छा का होना जीवात्मा के अस्तित्व मे प्रमाण है। प्रत्येक इन्द्रिय नियत विषय है। इसलिये आख से देख कर रसना द्वारा गृहीत रसास्वाद का स्मरण होना किसी ऐसी तीसरी सत्ता के अस्तित्व का परिचायक है जो अकेली दोनो को ग्रहण करने मे समर्थ हो। वही इन्द्रियो से अतिरिक्त उनका स्वामी इन्द्र (आत्मा) है। दुख के कारणो को दूर कर सुख के साधनो को जुटाना प्रयत्न है। जड मे स्वय क्रिया का होना सभव नही। इसलिये प्रयत्न या क्रिया के लिए-आत्मा का होना सिद्ध है। दुख के कारण को देख कर उसके प्रति द्वेष भावना की अभिव्यक्ति भी आत्मतत्व को स्वीकार किये विना सभव नही। इसी प्रकार सुख (आनन्द) और दुख (अप्रसन्नता) की अनुभूति तथा ज्ञान (विवेक) शरीर मे आत्मा–देहादि से भिन्न चेतन तत्त्व की स्थिति के परिचायक चिह्न है।

वैशेषिक दर्शन (३-२-४) मे इन चिन्हो के अतिरिक्त प्राण (प्राणवायु को वाहर निकालना) अपान (प्राण को वाहर से भीतर लेना) निमेष (आँख मीचना) उन्मेप (आँख खोलना) मन (निश्चय, स्मरण और अहकार करना) इन्द्रिय (सव इन्द्रियो का कार्य करना) तथा आन्तर विकार (क्षुधा तृपादि) का भी उल्लेख किया गया है ॥२८॥

चेतन आत्मा के इन चिन्हो की अभिव्यक्ति देह के द्वारा ही होती है क्योकि—

देहाधिष्ठितस्यात्मनो लिङ्गानि सदसद्भावात् ॥२९॥

सदसद्भाव (होने, न होने) से ये चिन्ह शरीर से युक्त आत्मा के हैं।

जब तक आत्मा देह मे होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। जब आत्मा शरीर को छोड देता है तब ये गुण शरीर मे नही रहते। इनके न रहने पर प्राणी को मृत घोषित कर दिया जाता है। जिनके होने से जो हो और न होने से न हो वे गुण उसी के होते हैं। जैसे सूर्य और दीपादि के होने से प्रकाश होता और न होने से नही होता, वैसे ही जीवात्मा के शरीर मे रहने पर ही इच्छा, प्रयत्न, ज्ञानादि के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। किन्तु पार्थिव शरीर के न रहने पर भी ये गुण आत्मा मे रहते हैं। प्रकारान्तर मे इन्हे जीवात्मा के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है ॥२९॥

देहादि से भिन्न होते पर भी सर्वत्र देहो मे एक ही आत्मा है अथवा प्रत्येक देह मे भिन्न-भिन्न। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ कहा है—

जन्मादिव्यवस्थात. पुरुषबहुत्वम् ॥३०॥

जन्मादि की व्यवस्था से आत्मा का बहुत्व है।

प्रत्येक व्यक्ति मे जन्मादि की व्यवस्था अर्थात् भेद देखा जाता है। एक ही काल व देश मे कोई सुखी, कोई दु खी, कोई धनी, कोई निर्धन है। कोई मर रहा है, कोई पैदा हो रहा है। एक देह मे रहने वाले की स्थिति दूसरे देह मे रहने वाले के साथ नही मिलती। यदि सर्वत्र शरीरो मे एक ही आत्मा हो तो इस प्रकार का भेद नही हो सकता। उस अवस्था मे सबको एक साथ पैदा होना चाहिये और एक साथ मरना। सुख, दु ख की स्थिति भी एक जैसी होनी चाहिये। सबका एक साथ बन्ध-मोक्ष होना चाहिये, एक ही जैसा बौद्धिक स्तर होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि समस्त देहो मे एक आत्मा मानने पर समस्त विरोधी घटनाओ का अभाव हो जाना चाहिये। ऐसा सम्भव न होने से समस्त देहो मे एक आत्मा का भोक्ता द्रष्टा रूप मे माना जाना असगत है।

वेदो तथा उपनिषदो मे अनेकत्र उपलब्ध 'वय जीवा जीवपुत्रा' (ऋक् १०-३६-९) 'वयं जीवा प्रतिपश्येम' (ऋक् १०-३७-८) 'ये समाना समनसोजीवा' (यजु० १९-४६) 'नित्योनित्याना चेतनश्चेतनानामेको बहूना यो विदधाति कामान्' (कठ० २-२-१३) तथा 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा' (श्वेत. २-५) आदि वचनो से भी आत्माओ का नानात्व सिद्ध होता है। लोक मे भी मैं, हम, तू, तुम, वह आदि व्यवहार होने से प्रत्येक देह मे भिन्न आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है ॥३०॥

सर्वज्ञ एक आत्मा के होने पर भी प्रत्येक देह मे मन भिन्न होने से सुख-दु खादि का भेद पाया जाता है—इस भ्रम का निवारण करने के लिए कहा—

न अन्त करणभेदाद् वैविध्यम् ।।३१।।

अन्त करण भेद से विविधता नही ।

कहा जा सकता है कि आत्मा तो एक ही है किन्तु अन्त करण अनेक हैं । उन्ही के द्वारा देहादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है । उसी के आधार पर जन्म-मरण, सुख-दु खादि के भेद की व्याख्या की जा सकती है । जो अन्त -करण दु खी है वहाँ का आत्मा दु.ख को और जहाँ का अन्त करण सुखी है वहाँ का अन्त करण सुख को अनुभव करता है । यदि सुख-दु ख और ज्ञानादि का आश्रय अन्त करण होता तो यह हेतु ठीक हो सकता था । किन्तु जड होने से अन्त करण सुख-दुखादि का आश्रय न होकर केवल साधन है । सुख-दु ख की अनुभूति तो चेतन आत्मा को होती है । फिर, अनेक अन्त करणो से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा एक ही समय मे सुखी-दु.खी, बद्ध-मुक्त होगा । यह तर्क सगत नही । अन्त करणो मे एक ही आत्मा के प्रतिविम्बित होने की बात भी युक्तियुक्त नही । प्रतिबिम्ब एक पदार्थ का दूरस्थ दूसरे पदार्थ पर पडता है । अन्त करण मे आत्मा का प्रतिबिम्ब पडने के लिये अपेक्षित दूरी कहाँ है ? आत्मा तो अन्त करण के भीतर ही है । इसलिये समस्त देहो मे एक आत्मा का भोक्ता द्रष्टा रूप मे माना जाना सर्वथा असगत है ।।३१।।

जीव का नानात्व सिद्ध करने के अनन्तर जीव स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का विवेचन करते है—

कर्मानुष्ठाने जीवस्य स्वातन्त्र्यम् ।।३२।।

कर्म करने मे जीव स्वतन्त्र है।

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं । पाणिनि के अनुसार 'स्वतन्त्र कर्ता' (अष्टा १-४-५४)—कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम्' करने, न करने अथवा उल्टा करने मे स्वतन्त्र है । और स्वतन्त्र वह है जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्त करण उसके अधीन हैं । इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने मे जीव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है । अपने वस की बात हो तो परुषार्थ ठीक है । परन्तु जहाँ रत्तीभर भी सत्ता और इच्छा नही रह जाती वहाँ हल मे जुते बैलो की तरह दास्य भाव से चलते रहने के सिवा और क्या हो सकता है ? 'बुद्धि. कर्मानुसारिणी' का तात्पर्य है कि वर्तमान समय मे हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्मों (सचित कर्मों मे से जिनका भोग शुरू हो गया है) का ही परिणाम है । मनुष्य की इच्छा और बुद्धि जो आज हो रही है वह कल के कर्मो का फल है तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी वह परसो के कर्मों का फल था । इस कारण परम्परा का अन्त कही नही होगा और यह मानना पडेगा कि अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मनुष्य कुछ भी नही कर सकता । तब तो मनुष्य की दशा वही होगी जो नदी के प्रवाह मे वहती

हुई लकडी की होती है। प्रवाह उसे जिधर खींच ले जायगा उसे चुपचाप चले जाना होगा। इससे यही निष्पन्न होता है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने मे स्वतन्त्र नहीं है। फिर मनुष्य मे और मनुष्य द्वारा संचालित मशीन मे क्या अन्तर रहेगा? किन्तु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये वह ज्ञानपूर्वक इच्छानुसार कर्म करने मे स्वतन्त्र है। ऐसा न मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणो को खो बैठा। तब उसका अस्तित्व ही कहाँ रहा? अनादि-अनन्त जीव के विषय मे ऐसा सोचा भी नही जा सकता। मनुष्य के अन्त.करण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्म-स्वातंत्र्य सिद्ध होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मन मे यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होने वाले कार्यों की भलाई बुराई सोचकर उन्हें अपनी इच्छानुसार करूँ या न करूँ। यदि किसी कार्य को करने या न करने के लिए मनुष्य को स्वतन्त्रता नही है तो उसे यह कहना भी व्यर्थ है कि अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं। किन्तु ऐसा कहा जाता है—इसमे प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अर्थ वाला होने से कर्त्ता है।

वेदादि शास्त्रो मे विधि-निषेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य कर के कहे गये हैं। उनका अधिष्ठाता होने से वह कर्त्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५-७) मे बताया—'गुणान्वयो य. फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता' संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिये कर्मों का कर्त्ता है। प्रश्नोपनिषद् (४-९) मे तो बहुत स्पष्ट कह दिया गया—'एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष' यह जीवात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि है। आत्मा कर्त्ता न होता तो उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध असगत होता। वेदादि शास्त्रो के अनेक वचन इसके पोषक हैं—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् (यजु ४०–२), त्यक्तेन भुजीथा मा गृध. कस्य स्विद्धनम्' (यजु. ४०–१), ,अक्षैर्मादीव्य (ऋग् १०–३०–१३), 'पशून्पाहि' (यजु. १–१), सत्य वद धर्मं—चर' (तै १–११), 'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत् धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्' (मनु. ४–९२) इत्यादि सन्दर्भो मे अनेकत्र जीवात्मा के लिए 'कि कर्म किमकर्मेति' का विधान है। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने मे जीव स्वतन्त्र है ॥३३॥

पापपुण्ययोर्भोक्तृत्वात् ॥३४॥

पाप-पुण्य के फल का भोक्ता होने से।

कर्त्ता ही भोक्ता है—यह न्याय सगत है। यदि जीवात्मा मे स्वतन्त्र कर्तृत्व

नही होगा तो उसमे भोक्तृत्व भी नही होगा। कर्म-स्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वचित होकर यदि जीव परमात्मा की अधीनता मे रहकर सब काम उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार करने पर वाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा, जीव नही। किसी की हत्या हो जाने पर हत्या करने वाले मनुष्य को दण्ड मिलता है, हत्या मे साधन रूप शस्त्र को नही। शासन के आदेश से फाँसी देने वाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नही माना जाता। 'केनापि दैवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' के सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाये तो कभी किसी को दण्ड न मिले। यदि यह मान लिया जाये कि अपराध करने या न करने मे मनुष्य स्वतन्त्र नही है अपितु जैसा परमात्मा चाहता है वैसा उसे करना पडता है तो अपराधी न्यायालय मे जाकर रामचरितमानस से—

राम कीन्ह चाहहिं सो होई। करत अन्यथा अस नहिं कोई॥
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ॥
जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं॥

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें। किन्तु कोई भी इस तर्क को स्वीकार नही करेगा। 'कृत स्मर' (यजु ४०–१५), 'अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्' (महा०) इत्यादि वचन इस बात की पुष्टि करते है कि जीव अपने कृतकर्मों के लिए उत्तरदायी है। और उत्तरदायी वही होता है जो अधिकार सम्पन्न अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकुर्तुम् समर्थ होता है।

जीव के कर्म स्वातन्त्र्य की पुष्टि मे एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

असत्कर्मसम्भवात् ॥३५॥

असत् कर्मों के सम्भव होने से।

यदि जीव अपनी इच्छा से कर्म न करके जैसा परमात्मा कराये सदा वैसा ही किया करे तो ससार मे पाप किचित् न रहे। परमेश्वर स्वय 'शुद्धमपापविद्धम्' (यजु ४०–८) शुद्ध एव निष्पाप है। वह नही चाहेगा कि उसकी प्रजा मे कोई भी मनुष्य पाप करे। जीव स्वतन्त्र किन्तु अल्पज्ञ होने से ही पाप मे प्रवृत्त होता है। ईश्वर और जीव के यथार्थ स्वरूप को न समझ कर कह दिया जाता है कि या तो परमात्मा निष्पाप नही हैं, या सर्वशक्तिमान् नही। यदि वह दोनो होता तो सृष्टि मे कही पाप न होने देता। यदि ईश्वर ने जीव को वनाया होता तो ऐसा होना सम्भव था। वह जीव को अपने जैसा वनाता (जैसा वाइवल मे लिखा—God made man in his own image) जिससे वह कभी पाप करता ही नही। किन्तु जीव अनादि और अनुत्पन्न है। यदि ईश्वर ने वनाया होता तो ससार मे व्याप्त समस्त भ्रष्टाचार का उत्तरदायित्व ईश्वर पर आ पडता। परन्तु जीव स्वभाव से कर्म करने मे स्वतन्त्र है। इसलिए जीव जैसा चाहता है, करता है।

किन्तु शास्त्रो मे अनेकत्र ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि का सचालन ईश्वर के हाथो मे है। अत जो होता है उसी के आदेश से होता है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रेरयितैवेश्वर. ॥३६॥

ईश्वर प्रेरक मात्र है।

ऋग्वेद (१०-१२१-३) मे कहा है–'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद' ईश्वर समस्त प्राणियो पर शासन व नियन्त्रण करता है। 'सविता देव प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' (यजु० १-१) परमेश्वर हमे श्रेष्ठतम कर्मो मे प्रवृत्त करे। माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) मे लिखा–'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तर आत्मानमन्तरो यमयति' जो आत्मा से भिन्न, आत्मा मे रहता हुआ आत्मा का नियन्त्रण करता है। इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-६) मे कहा–'धर्मावह पापनुद भगेश ज्ञात्वात्मस्यममृत विश्वधाम' धर्म की ओर लाने वाले, पाप से हटाने वाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो। इस प्रकार के उद्धरणो से प्रतीत होता है कि समस्त प्राणियो का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवो की धर्म मे प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है। किन्तु जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य विषयक आधारभूत सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि मे इन उद्धरणो पर विचार करने पर पता लगेगा कि ये मात्र प्रेरणामूलक हैं। इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा के स्वतन्त्र्य मे कोई बाधा नही आती। प्रेरयिता से प्रेरणा पाकर भी कर्त्ता की स्वतन्त्रता मे व्याघात नही आता। प्रेरयिता स्वय कुछ नही करता। कर्म के व्यापार एव सम्पादन मे करने वाला स्वतन्त्र है। जीवात्मा ईश्वर के हाथो मे कठपुतली नही। फलत जीवात्मा की प्रवृत्तियो मे परमेश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी आत्मा का कर्त्तव्य निर्बाध बना रहता हैं।

परमेश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है। वह सर्वोपरि राजा है। किन्तु विधाता होने से विधान के अन्तर्गत ही प्रभुसत्तासम्पन्न है। वह सृष्टि का सचालन करता है किन्तु मनमाने ढग से न करके नियमो के अनुसार करता है। न स्वयं नियमो का उल्लघन करता और न किसी को करने देता है। इसीलिये गीता मे जो यह कहा गया है कि 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशे तिष्ठति' (१८-६१) इसका अभिप्राय इतना ही है कि ईश्वर के नियम रूप यन्त्र मे स्थित (यन्त्रारूढानि) जीव संसार मे विचरण करते हैं। इसी अध्याय के ६० वे श्लोक मे 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्' शब्दो को लेकर यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि इच्छा न होते हुए भी विवश होकर मनुष्य को कर्म विशेष में प्रवृत्त होना पडता है। ऐसा पूर्वापर प्रसग को न देख कर हुआ है। इसी श्लोक के पहले

पद मे 'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निवद्ध' की वात कही गई है। और इसी अध्याय के श्लोक ४३ मे क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वभावज कर्म 'युद्धे चाप्यपलायनम्' शस्त्र प्रहार समय मे युद्ध से न भागना वताया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढग से अर्जुन को पलायन न करके युद्ध मे प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ मे गीता (३-३६) का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है जिसके आधार पर जीव के कर्म करने मे स्वतन्त्र न होने की मान्यता की पुष्टि की जाती है—

केन प्रयुक्तोऽय पाप चरति पूरुष।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित ॥

अर्थात् इच्छा न होने पर भी वलात् धकेला हुआ पाप करता है। किन्तु यहा पर भी अर्जुन के इस प्रश्न—'केन प्रयुक्तः'—का उत्तर देते हुए 'ईश्वरेण प्रयुक्त' अथवा 'मया प्रयुक्तः' न कह कर रजोगुण से उत्पन्न काम, क्रोध, आदि दोषो को मनुष्य के पाप कर्म मे प्रवृत्त होने मे कारण वताया है। गीता की भावना उसी के 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३) शव्दो से स्पष्ट हो जाती है। श्री कृष्ण ने जो कहना था वह कह दिया और अन्त—'मे इस पर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर' कह कर ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने मे स्वतत्र होने के सिद्धान्त की पुष्टि कर दी ॥३६॥

अव ईश्वरीय प्रेरणा के स्वरूप का निश्चय करते हैं—

सदसद्विवेकार्थं वेदज्ञान सृष्ट्यादौ ॥३७॥

भले वुरे की पहचान के लिए सृष्टि के आदि में वेदो का आविर्भाव हुआ। अल्पज्ञ जीव केवल नैसर्गिक ज्ञान के सहारे ससार मे नही ठहर सकता। अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने मे वह स्वतः असमर्थ है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही अभीष्ट की सिद्धि सम्भव है। इसलिए मनुष्य के सर्वतोमुखी कल्याण—अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि मे सहायक होने के लिए परमेश्वर ने मानव सृष्टि के साथ ही वेद का ज्ञान दिया। व्यष्टि एव समष्टिगत जीवन मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का जितना व्यवहार है उसमे उसका मार्गदर्शन करने के लिए जितना भी ज्ञान आवश्यक है वह वेद मे उपलव्ध है। तदनुकूल आचरण करने वाले का मार्ग सर्वथा प्रशस्त हो जाता है। इसीलिये 'धर्म जिज्ञासमानाना प्रमाण परम श्रुतिः' कह कर मनु जी के धर्माधर्म का निश्चय करने के लिये वेद की शरण मे जाने का परामर्श दिया है ॥३७॥

जो लोग वेदादि नही पढते अथवा पढने मे असमर्थ हैं उनके लिये प्रेरणा का क्या स्रोत है—इसका निर्देश अगले सूत्रो मे किया गया है—

सत्कर्मण्यभयत्वनैःशङ्क्योत्साहाः ईश्वरप्रेरणयैव ॥३८॥

शुभ कर्मों के करने मे अभय, निःशङ्कता और उत्साह ईश्वरीय प्रेरणा से होते हैं।

दयालु परमेश्वर ने आत्मा को सन्मार्ग पर चलाने के लिए दुहरा प्रवन्ध किया हुआ है। प्रथम वेदोपदेश के द्वारा मार्ग दर्शन किया। यह व्यवस्था हरेक को हर समय सुलभ नही है। इसलिये विकल्प मे परमेश्वर ने ऐसा प्रवन्ध किया जो हर किसी को हर समय घर वैठे स्वत प्राप्त है। हृदय स्थित भगवान धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिये प्रेरणा किया करता है। जव आत्मा मन और मन इन्द्रियों को परोपकार आदि किसी अच्छे काम में लगाता है तो आत्मा मे निर्भयता, नि शकता और आनन्दोत्साह उठता हैं। यह जीवात्मा की अपनी ओर से नही वरन् ईश्वर की प्रेरणा से होता है। क्योंकि जैसा वृहदारण्यकोपनिषद् मे वताया है—'एष प्रजायतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म' (५-३-१) हृदयस्थित ब्रह्म ही प्रजापति है ॥३८॥

पापाचरणे च भयवितर्कलज्जास्तथैव ॥३९॥

पापाचरण मे प्रवृत्त होने मे भय, शका और लज्जा भी वैसे ही।

जिस प्रकार शुभ कर्म मे प्रवृत्त होने मे निर्भयता आदि की उद्भावना होती है उसी प्रकार जव जीवात्मा चोरी आदि वुरे काम को प्रारम्भ करने लगता है तो आत्मा के भीतर से भय, शका और लज्जा के भाव उठते हैं। यह भी ईश्वरीय प्रेरणा से ही होता है। विषय वासनाओ की तुमुल ध्वनि के कारण लोकव्यवहार में 'हृदय की पुकार' या 'आत्मा की आवाज़' कहाने वाली, हृदय मे आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम प्राय. नहीं सुनते। किन्तु इस आवाज़ की उपेक्षा हम भले ही कर दे, उसके फल से अपने आपको नही वचा सकते। क्योंकि—

फलोपभोगे पारतन्त्र्यम् ॥४०॥

कर्मफल भोगने मे जीव परतन्त्र है।

अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है किन्तु जव कर्म कर चुकता है तो ईश्वर की व्यवस्था मे पराधीन होकर फल भोगता है। कर्म चेतन नही हैं। इसलिये वह न चोर को पकड़ कर जेल भेज सकते और न डूवते को वचाने वाले को पुरस्कार के रूप मे थैली भेंट कर सकते हैं। कोई सराहनीय काम करने के वाद भले ही कोई शासनाधिकारी के पास चला जाये किन्तु पाप कर्म करने के वाद उसका फल-दु.ख पाने के लिए कोई थाने मे जाकर खडा नही होगा। वैसे भी आत्मा अल्पज्ञ है, अतः स्वय फल पाने का अधिकार मिल जाने पर भी उसका समुचित प्रयोग न कर सकेगा। वह नही जानता कि कर्मफल

कैसे दिया जा सकता है। न उसके पास कोई नापने-तोलने के साधन है जिनकी सहायता से वह पाप-पुण्य का ठीक-ठीक लेखा जोखा कर सके। विद्यार्थी को परीक्षा भवन मे अपनी इच्छा, ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार लिखने की तो छूट है किन्तु यदि इसके बाद मूल्याकन का अधिकार भी उसे दे दिया जाये तो वह न्याय नही कर सकेगा—अज्ञान और स्वार्थ के कारण। इसी प्रकार एक चोर अपने लिए कम से कम दण्ड की व्यवस्था करेगा। कभी-कभी तो उसके लिए यह निश्चय करना भी कठिन होगा कि जिस कर्म के फल की वह व्यवस्था करना चाहता है वह पुण्य है या पाप और यदि मिश्र है तो दोनो का क्या अनुपात है। डाका डालकर प्राप्त राशि से मन्दिर या धर्मशाला बनवाने वाला अपने प्रति न्याय कैसे कर सकेगा? इस प्रकार जैसे लोक मे राजकीय व्यवस्था से न्याय होता है वैसे ही सर्वज्ञ, दयालु, न्यायकारी तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अधीन ही पाप-पुण्य के फलोपभोग की समुचित व्यवस्था सम्भव है। जीव का इसमे कुछ भी हाथ नही हो सकता क्योकि—

ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः ॥४१॥

ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर फल की सिद्धि होती है।

पुरुष कर्मों की फल प्राप्ति का नियमन परमेश्वर के अधीन है। फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के बिना पुरुषकर्म विफल रहते है। जड पदार्थ नियम से स्वय सयुक्त नही हो सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसमे खटाई मिलाने वाला तीसरा होता है। इसी प्रकार जीवो को कर्मों के फल से सयुक्त करने वाले ईश्वर का होना आवश्यक है। अचेतन होने से कर्म तो फलकाल मे यह भी नही पहचान सकेंगे कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था मे जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से कर्मसकर हो जायेगा। अन्य के कर्म अन्य को भोगने पडेंगे। अनन्त जीवो के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना अल्पज्ञ एव अल्पशक्ति जीव के सामर्थ्य से बाहर है। इसलिये सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही कर्मफलो का सम्पादन करने मे समर्थ हैं। कर्म करने वाले जीव का इतना समर्थ्य भी नही कि वह स्वकृत कर्मों की सफलता के लिए आवश्यक साधन जुटा सके। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—फल भोगने के लिए मूलभूत साधन यह सृष्टि है जिसकी रचना जीव के नही, ईश्वर के अधीन है। यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीर धारण मे निमित्त हो तो जीव बुरा जन्म जहा बहुत दु ख हो कभी धारण न करे। यदि कर्म प्रति-बन्धक हो तो भी जैसे अपराधी स्वय बन्दीगह में नही जाता अपितु राजकीय न्यायव्यवस्था से बलात् धकेला जाता है, वैसे ही जीव को कर्मानुसार फल देने और शरीर धारण कराने के लिए ईश्वर ही समर्थ है। सब जीवो के पाप-पुण्य के फलो की यथावत् व्यवस्था करने से परमात्मा को 'अर्यमा' कहते हैं। इसी

प्रकार 'सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यम' सब प्राणियो के कर्मफल का नियमन करने के कारण उसकी 'यम' सज्ञा है। 'रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्र.'—अन्यायकारी मनुष्यो को दण्ड देकर रुलाने के कारण वह 'रुद्र' कहाता है। किस कर्म का का फल कब, किस रीति से, किन साधनो के द्वारा भोगा जा सकता है—इसकी व्यवस्था सर्वज्ञ सर्वान्तयामी परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नही कर सकता ॥४१॥

किन्तु फलप्राप्ति मे ईश्वर को कारण मानने से कर्मो का निषेध हो जायेगा इस शका का समाधान किया गया—

सा तु कर्मानुरूपा ॥४२॥

किन्तु वह (फलनिष्पत्ति) कर्मो के अनुसार होगी।

जैसे ईश्वर के विना कर्मों का फल नही मिल सकता वैसे ही ईश्वर भी कर्मो की उपेक्षा करके, केवल सामर्थ्य से, फल नही दे सकता। फलसिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा अनिवार्य है। न्यायकारी होने से ईश्वर विना कारण किसी को दु ख-सुख नही दे सकता। कर्माध्यक्ष परमेश्वर की व्यवस्था मे जीव के कर्म-कायिक, वाचिक तथा मानसिक—अदृष्ट किन्तु सार्वभौम न्याय की तराजू मे तुल-तुल कर फल देते हैं। परमात्मा सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है। इसलिये किसी को पाप किये विना दु ख नही दे सकता क्योकि पाप कर्मो का ही फल दु.ख है। इसी न्याय के अनुसार विना पुण्य किये कोई सुख भी नही पा सकता क्योकि पुण्य का फल ही सुख है। जीव को अपने पाप-पुण्य के अनुसार जन्म मिलता है। वह वायु, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर मे ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। पति-पत्नी का सयोग सर्वत्र गर्भाधान का हेतु नही होता। कारण सामग्री के होने पर कर्म हो जाना चाहिए। नियम से सन्तानोत्पत्ति रूप कार्य का पति-पत्नी सयोग होने पर भी—न होना, किसी कारण विशेष के अभाव का सकेत करता है। वह कारण आत्मा के स्वकृत पूर्व कर्म ही हैं। यदि कर्म-निरपेक्ष भूततत्त्व ही शरीर रचना मे निमित्त हो तो पति-पत्नी सयोग के अनन्तर नियमपूर्वक रचना और सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु सदा ऐसा नही होता। तब यही मानना पड़ता है कि जब माता-पिता के कर्म सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं तब सभोग होने पर गर्भाधान एव सन्तान प्रसव की सम्भावना रहती है। जब अनुकूल नही होते तो मात्र ईश्वर का आशीर्वाद (लोक व्यवहार के अनुसार) होने से भी सयोग निष्फल जाता है। इस प्रकार ईश्वर के होते हुए भी मनुष्य का समस्त जीवन उसके कर्मों पर आश्रित है। फलोत्पत्ति के लिए ईश्वर के विना कर्म और कर्म के विना ईश्वर व्यर्थ है। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं ॥४२॥

कर्मफल की प्राप्ति मे ईश्वर को निमित्त न मानने मे एक तर्क यह दिया

जाता है कि मद के समान कर्मफल स्वय प्राप्त हो जाता है, फल देने मे दूसरे की आवश्यकता नही । इसका उत्तर देते हैं—

न फलोपब्धिर्मदवत् ।।४३।।

मद की तरह कर्मफल प्राप्त नही होता ।

मद्य मे मद उत्पन्न नही होता क्योकि वह जड है । मद तो मद्य के पीने से चेतन को होता है । यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा मे मादक द्रव्य सेवन करने वालो को समान रूप से मद होता । परन्तु देखा जाता है कि मद्य पान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ दो रत्ती अफीम या एक तोला शराब का पता नही चलता वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है, यहाँ तक कि उसका जीवन भी सकट मे पड सकता है । यदि मद्यपान से मद के समान कर्मों के स्वय फल प्राप्त करने की बात को माना जाये तो इसका अर्थ होगा कि नित्य बहुत पाप-पुण्य करने वालो को कम और कभी-कभी थोडा-थोडा पाप-पुण्य करने वालो को बहुत अधिक फल मिलना चाहिए । परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से असगत है । अत ईश्वर के विना दिये कर्मफल की प्राप्ति नही हो सकती ।।४३।।

अब अन्य के किये कर्मो का फल अन्य भोग सकता है—इसका निषेध करते हैं—

कर्त्तैव भोक्ता आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ।।४४।।

एक आत्मा के गुणो के दूसरी आत्मा मे कारण न होने से कर्त्ता ही भोक्ता है ।

एक व्यक्ति के कर्म दूसरे व्यक्ति के सुख-दु ख का कारण नही बन सकते । यदि अपराधी छूट जाये और निरपराध को दण्ड मिल जाये तो सारी कर्म-परम्परा अस्तव्यस्त हो जाये । वस्तुतः एक व्यक्ति जो कर्म करता है उसका सस्कार दूसरे व्यक्ति के अन्त करण मे नही पड सकता । और जब सस्कार ही नही तो उसके फल को भोगने का प्रश्न ही नही उठता । इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने किये ही का फल भोगता है । यही ईश्वरीय विधान है । इसका व्यतिक्रम अराजकता को जन्म देगा जिसमे 'कृतहानि' (जिसने जितना किया है उसको उसका फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (जिसने नही किया उसे दूसरे के परिश्रम का फल मिल जाना) होगा । ईश्वर के शासन मे ऐसा अन्याय नही हो सकता । इस विषय मे वेद का स्पष्ट आदेश है—'स्वय यजस्व स्वय जुषस्व' (यजु २३-१५) हे मनुष्य, तू स्वय ही शुभ कर्म कर और स्वय ही उसका फल भोग । 'यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम् । तथा पूर्वकृत कर्म कर्त्तारमनुगच्छति'— जैसे बछडा हजारो गौओ के बीच अपनी माँ को ढूँढ लेता है वैसे ही किया हुआ कर्म अपने करने वाले को जा पकडता है । अथर्ववेद मे भी एक स्थान पर

कहा—'पक्व. पक्तार पुनराविशाति' पका हुआ (कृतकर्म) पकाने वाले (कर्ता) को ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को यह समझ कर सत्कर्म मे प्रवृत्त होना चाहिये कि इसका फल मुझे—और केवल मुझे—मिलना है। इसी कारण किसी मृत व्यक्ति के नाम पर उनकी सन्तान द्वारा किया गया श्राद्ध कर्म मृत व्यक्ति की तृप्ति या मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरो के किये पाप कर्मों की गठरी अपने सिर पर उठा कर नहीं ले जा सकता। अन्तत न्याय-व्यवस्था यही है कि एक आत्मा के शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरी आत्मा को न मिलना चाहिये, न मिल सकता है ॥४४॥

जब जीव भी ईश्वर की तरह अनादि, अनुत्पन्न और इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न आदि स्वाभाविक गुणो से युक्त है, कर्म करने मे स्वतन्त्र है और ईश्वर अपनी इच्छा से नही वरन् कर्मानुसार ही फल देने मे समर्थ है तो जीव ईश्वर के अधीन कैसे है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

महित्वैक इद्राजा जगत ॥४५॥

महिमा के कारण ईश्वर जगत् का एकमात्र राजा है।

जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न तथा राग-द्वेष से युक्त है। इसकी तुलना मे ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा निर्विकार है। ईश्वर सच्चिदानन्द है जब कि जीव केवल सच्चित् है। इस प्रकार अपनी महिमा-गुणोत्कर्ष के कारण परमेश्वर जीवो तथा जड पदार्थों का अधिपति है। जैसे राजा और प्रजा बहुत बातो मे समान होते हैं तो भी अपने सामर्थ्याधिक्य के कारण राजा प्रजा पर शासन करता है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता तथा समस्त जीवो की यथावत् रक्षा करता और उनके कर्मों का फल देता है ॥४५॥

अब कर्म कितने प्रकार के हैं—इस विषय का प्रतिपादन करते हैं—

संचितप्रारब्धक्रियमाणभेदात्त्रिविधं कर्म ॥४६॥

सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण भेद से तीन प्रकार के कर्म हैं।

कर्मों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। जैसे—कायिक, वाचिक, मानसिक, सात्विक, राजस, तामस; शुभ, अशुभ, मिति। किन्तु कर्म-विपाक के प्रकरण मे तीन प्रकार के कर्म माने जाते हैं। वे हैं—सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। किसी मनुष्य के द्वारा जो कर्म किये गये है—चाहे वे इस जन्म मे किये हो या पूर्वजन्म मे—वे सब 'सचित' अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहाते हैं। इन्ही को *अदृष्ट' और मीमासको की परिभाषा मे 'अपूर्व'* कहते हैं। इन नामो के पडने का कारण यह है कि जिस समय कर्म किया जाता है उसी समय के लिए वह दृश्य रहता है। उस समय के बीतने पर वह स्वरूपतः शेष नही रहता

केवल उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अथवा अपूर्व और विलक्षण सस्कार ही शेष रह जाते हैं। इन सब सचित कर्मों को एक दम नही भोगा जा सकता क्योकि इनके परिणामो मे कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनो प्रकार के फल देने वाले हो सकते हैं। इसलिये इन्हे एक के वाद एक भोगना पडता है। इस प्रकार सचित कर्मों के दो भेद हो जाते हैं। सचित मे से जिनका फल भोगना शुरू हो जाता है उन्हे 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं। व्यवहार मे 'सचित' के अर्थ मे ही प्राय 'प्रारब्ध' शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से समस्त भूतपूर्व कर्मों के जितने भाग के फलो का भोगना आरम्भ हो गया है, उतना ही प्रारब्ध है। जिन पाप-पुण्य कर्मों का फल वर्तमान जीवन मे नही भोगा जाना अथवा सचित मे से जिन कर्मों का फल भोगना अभी शुरू नही हुआ हैं अर्थात् सचित मे से प्रारब्ध को घटा कर जो कर्म शेष रह जाते हैं वे अनारब्ध' कर्म कहाते हैं। क्रियमाण कर्म वे है जो वर्त्तमान जीवन काल मे किये जाते हैं। उनमे से कुछ ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध कर्मों के भोगने मे सहयोगी हैं उनका फल प्रारब्ध कर्मों के साथ भोग लिया जाता है और कुछ ऐसे होते हैं जिनका फल उस जीवन काल मे नही भोगा जाता। वे सचित कर्मो की राशि मे जमा होजाते हैं। कृतकर्म का फलभोग अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से यदि 'क्रियमाण' को धातुसाधित वर्त्तमानवाचक न मान कर 'वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' (अ-३-३-१३१) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार भविष्यकाल वाचक समझें तो उसका अर्थ 'जो आगे शीघ्र ही भोगने हैं' किया जा सकता है। तव 'क्रियमाण' का ही अर्थ 'अनारब्ध' हो जायेगा। किन्तु व्यवहार मे उसका अर्थ प्रचलित कर्म ही किया जाता है। इसलिये 'क्रियमाण' शब्द के रुढार्थ को छोडना उचित नही होगा ।।४६।।

अव कर्मों के फलोपभोग की अनिवार्यता का विवेचन करते हैं—

भोगादेव क्षय प्रारब्धकर्मणाम् ।। ४७ ।।

फलोपभोग के विना कर्म का क्षय नही होता।

जब एक वार बाण छूट जाता है तव वह लौट कर नही आता। अपने लक्ष्य पर पहुच कर ही शान्त होता है। जब तक फल न मिले तब तक कर्म का क्षय नही होता। महाभारत मे आया है—।।४७।।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम् ।।

'शुभ या अशुभ कैसा ही हो, किये हुए कर्म का फल भोगना ही पडता है। करोडो कल्प बीत जाने पर भी विना भोगे उनका क्षय नही होगा।' कुछ ही भिन्न शब्दों मे यह बात देवी भागवत मे दुहराई गई है—

अवश्यमेव भोक्तव्य कालेनोपार्जित च यत् ।
शुभ वाप्यशुभ वापि दैवं कोऽतिक्रमेत्पुन ॥

कर्मफल को निश्चित कर देने का काम ईश्वर का है। और उसका यह निश्चय सर्वथा कर्मों के अनुसार होता है। यदि मनुष्यो ने भले बुरे का भेद होता है तो इसके लिए परमेश्वर वैषम्य (विषम बुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) के दोषो का पात्र नही होता। 'यद्धात्रा निजभालपट्टलिखित प्रोज्झितु क समर्थ'—ऐसे विवेकी, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायाधीश का निर्णय बदलने का सामर्थ्य किसमे हो सकता है? जल्दी मिले या देर से मिले, नियत फल मिले बिना नही रह सकता। जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का प्रलय होता है तब अभुक्त कर्म बीजरूप मे बने रहते हैं। जब फिर नये सिरे से सृष्टि रचना होती है तब उसी कर्मबीज (सस्कार) से फिर अकुर फूटने लगते हैं। महाभारत का कथन है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्या प्रपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमाना पुन पुन' ॥

अर्थात् 'पूर्व सृष्टि मे जिस-जिस प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे बार-बार यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं।' जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म मे किये पापो से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है? स्वार्थी लोगो ने कुछ इस प्रकार के वचन भी गढ कर प्रचारित कर रक्खे हैं—

दृष्ट्वा जन्मशतं पाप पीत्वा जन्मशतत्रयम् ।
स्नात्वा जन्म सहस्त्राणि गङ्गा हरति कलौ युगे ॥
गगा गगेति यो ब्रूयात् योजनाना शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोक स गच्छति ॥
अन्यक्षेत्रे कृत पाप काशीक्षेत्रे विनश्यति ।

किन्तु यह कल्पना अत्यन्त मिथ्या व निराधार तथा मूलत अवैदिक है। इसमे अणुमात्र भी सत्य नही है। शुद्ध मन तथा सकल्प से किये गये पश्चात्ताप तथा प्रार्थना भविष्य मे दुष्कर्म न करने मे सहायक हो सकते हैं। किन्तु इस कारण पूर्वकृत दुष्कर्मो के फलो से नही बचा जा सकता। हा, प्रायश्चित्त से, यदि दुष्कर्मकर्त्ता स्वय शारीरिक या मानसिक दण्ड कुछ अश मे भोग लेता है तो उतने अश मे फल भोगने से बच जाता है। इसी प्रकार यदि किसी अपराधी को अपने दुष्कर्म का दण्ड राजा से प्राप्त हो जावे तो परमात्मा पुन उसका दण्ड नही देगा। हा, यदि न्यायाधीश के सर्वज्ञ अथवा निष्पक्ष न होने से उसमें न्यूनाधिक्य हो गया होगा तो ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुसार इसमे सुधार हो जायेगा।

इस सन्दर्भ मे महाभारत युद्ध मे धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा एक बार असत्य

भाषण का प्रसग दष्टव्य है। यहा केवल उसका सकेत किया जाता है। जब यह निश्चय हो गया कि गुरू द्रोणाचार्य के हथियार डाले बिना युद्ध मे पाण्डवो की विजय नही हो सकती और अश्वत्थामा मे गुरू जी का मोह होने के कारण उसके मर जाने पर वह तत्काल हथियार डाल देंगे, किन्तु अश्वत्थामा को मारना भी आसान नही, तो श्री कृष्ण के परामर्श से यह योजना बनाई गई कि सदा सत्य बोलने वाले युधिष्ठिर मे यदि गुरु जी के सामने झूठमूठ अश्वत्थामा के मारे जाने की बात कहला दी जाये तो गुरु जी विश्वास कर लेंगे। युधिष्ठिर इसके लिए तैयार न था। किन्तु श्री कृष्ण के अत्यधिक आग्रह करने पर, जनहित मे, सत्यासत्य मिश्रित वचन 'अश्वत्थामा हत, नरो वा कुञ्जरो वा' कहने के लिए तैयार हो गया। इस एक ही बार के मिथ्या भाषण के फल स्वरूप युधिष्ठिर को नरक के रास्ते स्वर्ग मे जाना पडा। अशत औपचारिक रूप से वर्णित इस घटना क्रम से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जीवन भर सत्य बोलने वाले व्यक्ति के एक बार के असत्य भाषण को, और वह भी श्री कृष्ण जैसे नेता (कुछ लोगो की मान्यता के अनुसार स्वय साक्षात् भगवान्) के बार-बार आग्रह पर, क्षमा नही किया गया। फिर सामान्य जनो की तो बात ही क्या ?

यदि कोई क़ैदी जेल से भागकर अपनी सजा से बचना चाहे तो बच नही सकता। पकडे जाने पर शेष अवधि के लिए तो जेल मे उसे रहना ही होगा, जेल से भागने के अपराध मे उसे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। इसी प्रकार दु खो से तग आकर यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिल रहे दु:खो से तो छूट नही पायेगा, हाँ, आत्महत्या के अपराध के कारण उसे, बच जाने पर राजकीय व्यवस्था मे तथा मर जाने पर ईश्वरीय व्यवस्था मे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा।।४७।।

बिना भोगे कर्मों का क्षय होने के कारण होने वाली महती विनष्टि का उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

न्यायव्यवस्थाविनाशात्पापाचरणे निर्भयत्वोत्साहयो प्रवर्द्धनम् ।।४८।।

न्यायव्यवस्था के के भग होने पर दुष्कर्मो के करने मे निर्भयता और उत्साह मे वृद्धि होगी।

सामान्यत· मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने मे डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाये कि अपराध करने पर पकडे नही जायेंगे और पकडे भी गये तो बिना दण्ड पाये छूट जायेंगे तो अधिसख्य मनुष्य अपराधो के अभ्यस्त हो जायें। यदि 'गगा' शब्द का मात्र उच्चारण करने अथवा उसके जल मे स्नान करने, किसी पीर पैगम्बर पर ईमान लाने, तोबा करने, ब्राह्मणो को भोजन कराने अथवा दान दक्षिणा देने आदि से पापो से छुटकारा मिल सके तो जो अपराध नही करते वे भी इस विश्वास के कारण दिन रात पाप करने मे प्रवृत्त हो

जायें। यदि कही भी किया पाप कर्म काशी पहुचने पर नष्ट होता है तो लोग कही भी डाका डालकर या हत्या करके काशी का टिकट कटा कर निश्चिन्त हो जायें। ईसामसीह के अनुयायियो को तो पाप का डर नही, क्योकि वह बहुत पहले ही अपने भक्तो के पापो की गठरी सिर पर रखकर सूली पर चढ गये। विश्व मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी अवस्था मे विना भोगे कर्म के क्षय न होने के सिद्धान्त को निरपवाद रूप मे स्वीकार किया जाये।

परमात्मा अपने भक्तो के पाप क्षमा कर देता है—अगले सूत्र मे इसका निषेध किया—

न स्तुत्याद्यनुष्ठानेन क्षमासम्भव ॥४९॥

स्तुति आदि का अनुष्ठान करने से क्षमा नही मिल सकती।

कृतकर्म का फल भोगे विना छुटकारा नही मिल सकता—अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करने वाले अपने भक्तो के लिए शिथिल नही कर सकता। यदि पापो को क्षमा करने लगे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सव मनुष्य महापापी हो जायें। हाथ पैर जोडने से परमात्मा अपराधियो को छोड़ देता है—यह बात सुनते ही लोगो मे पाप करने में निर्भयता और उत्साह बढ जायेगा। जो नही करते वे भी करने लगेंगे। ऐसी अवस्था मे परमात्मा ससार मे होने वाले राजाओ के समान बन जायेगा। तव वह 'समोऽह सर्वभूतेषु' सव प्राणियो के लिए एक जैसा नही रहेगा। जो उसकी स्तुति आदि करेंगे वे उसके लिए अपने होगे। उनके प्रति उसका व्यवहार दया और सहानुभूति का होगा। इसके विपरीत जो उसकी स्तुति आदि नही करेंगे उनके प्रति, वैरभाव नही तो, कम से कम उपेक्षा का भाव तो रक्खेगा ही। अपनो पर उपकार करना परोक्ष रूप से अपने पर उपकार करना ही है। इसी मे स्वार्थ निहित है। इस स्वार्थ के कारण परमात्मा खुशामदियो से घिरे हुए शासक के समान होगा जिसमे राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सव होगे। इस प्रकार के अधिष्ठाता परमेश्वर से न्याय की आशा नही की जा सकती। वस्तुतः परमेश्वर उदासीन अथवा तटस्थ भाव से जीव के कर्मो का साक्षी रहते हुए न्यायपरायण है। उसके व्यवहार मे दया और न्याय का विलक्षण समन्वय है ॥४९॥

वह किसी के पाप क्षमा नही करता। तो भी उसकी स्तुति–प्रार्थना उपासना करनी ही चाहिये। क्योकि—

अन्यदेव तदनुष्ठानफलम् ॥५०॥

उसके करने का कुछ और ही फल है।

ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना निष्फल नही जाता। जो तुच्छ,

अवाछनीय, असम्भव लाभ हम सोचते हैं वह यदि मिल भी जाये तो सबके लिये अहितकर होगा। स्तुति से होने वाली उपलब्धि बडी महत्वपूर्ण है ॥५०॥
वह क्या है ? इसका प्रतिपादन करते हैं—

स्तुतिविधानेनात्मनि प्रीतिः तदीय गुणकर्मस्वभावैश्चात्मनः संशुद्धिः ॥५१॥

स्तुति करने से ईश्वर मे प्रीति और उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव की शुद्धि।

मनुष्य के किसी भी कर्म-कायिक, वाचिक, मानसिक—का सस्कार उसके आत्मा पर पडे बिना नही रहता। इसी लिए शास्त्रो मे जहा 'भद्र कर्णेभि श्रणुयाम-देवा भद्र पश्येमाक्षमि' (यजु २५-२१) कानो से भद्र सुनने और आखो से भद्र देखने का आदेश है वहाँ 'वाच वदत भद्रया' (अथर्व ३-२०-३) वाणी से भी भद्र बोलने की प्रेरणा की गई है। अर्थ की भावना करते हुए वार-बार परमेश्वर को दयालु, न्यायकारी, निष्पाप आदि कहते रहने से मनुष्य को स्वय भी दयालु, न्यायकारी, निष्पाप होने की प्रेरणा मिलती है। शास्त्र मे 'स्तुति' का अर्थ लोक मे प्रचलित अर्थ से भिन्न है। वस्तुत 'दोषेषु गुणारोपणमसूया' दोषो मे गुणो का आरोप 'असूया' है। इसी प्रकार 'गुणेषु दोषारोपणमप्यसूया' गुणो मे दोषो का आरोप भी 'असूया' है। 'गुणेषु गुणारोपण दोषेषु दोषारोपणं च स्तुति' गुणो मे गुणो का और दोषो मे दोषो का आरोप करना ही स्तुति है। अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही कहना 'स्तुति' है। 'परमेश्वर जो चाहे कर सकता है अथवा वह सब कुछ कर सकता है' कहना परमेश्वर की स्तुति करना नही है। अपितु 'परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने सब काम विना किसी की सहायता के कर सकता है' कहना ही स्तुति है। इसी प्रकार 'अकाय' परमात्मा को शरीर धारण कराके 'क्लेश कर्म विपाकाशय' से परामृष्ट कर देना और 'सर्वज्ञ' परमेश्वर को अपनी पत्नी को ढूढने मे इतस्तत घुमाना आदि परमेश्वर के लिए निन्दापरक बातें हैं, स्तुतिवचन नही ॥५१॥

द्विविधा स्तुति· सगुणनिर्गुणभेदात् ॥५२॥

सगुण और निर्गुण भेद से स्तुति दो प्रकार की है।

जो गुण परमेश्वर मे हैं उनसे युक्त मान कर उसकी स्तुति करना 'सगुण स्तुति' है। जैसे—'एषो हि देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जात स उ गर्भे अन्त' (यजु ३२-४) निश्चय से वह परमात्मा सब दिशाओ मे व्याप्त और प्रसिद्ध है और वही सवके बीच मे है। वही 'हिरण्यगर्भ' है। 'स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्' उसी ने पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्ष आदि को धारण किया हुआ है। 'धामानि वेद भुवनानि विश्वा' वह सब लोकलोकान्तरो को जानने वाला है।

इसी प्रकार 'एप सर्वेश्वर, एप सर्वज्ञ एपोऽन्तर्याम्येप योनि सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (माण्डूक्योपनिषद् ६) अर्थात् वह परमात्मा सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है। वह सबका ठिकाना और सब भूतो की उत्पत्ति एवं लय का आधार है ॥५२॥

जो गुण परमेश्वर मे नही हैं उनसे पृथक् मान कर उसकी स्तुति करना 'निर्गुण स्तुति' है। जैसे—तदक्षरमकायमव्रणमस्नाविरमस्थूलमह्रस्वमदीर्घमलोहितमगन्धमरसमचक्षुकमश्रोत्रममुखमच्छायमनाकाशम्' अर्थात वह ब्रह्म अविनाशी, अकाय, अव्रण (छिद्ररहित), अस्नाविर (नस नाड़ी से रहित), अस्थूल, न ह्रस्व (छोटा), न दीर्घ, न रगवाला, गन्ध–रस–चक्षु–श्रोत्र–मुख से रहित, छाया से रहित और आकाश से भिन्न है ॥५२॥

किन्तु मात्र ईश्वर का गुणगान करने से लाभ नही होगा—

न चारित्र्यपरिष्कारं विना गुणकीर्तनम् ॥५३॥

चरित्र का सुधार किये विना गुण कीर्त्तन व्यर्थ है।

ईश्वर की स्तुति करने का लाभ तभी है जब स्तुति करने वाला ईश्वरीय गुणो को यथासम्भव अपने अन्दर धारण करने का यत्न करे। 'न्यायकारी' कहते हुए दूसरो के प्रति निष्पक्ष व्यवहार करे, 'दयालु' कहते हुए किसी भी प्राणी को दुःख न देने का सकल्प करे, 'सर्वाधार' कहते हुए असहायो की सहायता किया करे। इसी प्रकार 'अपापविद्धम्' (पापरहित) कहते हुए पापो से सदा बचने का यत्न करे। चरित्र मे सुधार लाये विना भाण्ड के समान परमात्मा का गुण कीर्तन करना निष्प्रयोजन है।

स्तुति के बाद प्रार्थना का विवेचन करते हैं—

प्रार्थनया निरभिमानत्वमुत्साहसाहाय्ययोश्च सम्प्राप्तिः ॥५४॥

प्रार्थना से निरभिमानता आती और परमेश्वर से उत्साह और साहाय्य की प्राप्ति होती है।

किसी के आगे हाथ पसारते ही आँखें नीची हो जाती हैं। मागा उससे जाता है जिसके पास कोई वस्तु होती है और मागता वह है जिसके पास उसका अभाव होता है। उस स्थिति में मागने वाले मे हीन भावना का उदय होता है और उसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है। सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी जब मनुष्य अहोरात्र के आरम्भ में अर्थात् साय प्रात. 'हिरण्यगर्भ' के सामने नमन करके 'धियो यो न. प्रचोदयात,' 'स नो वसून्याभर,' 'बलमसि बलं मे देहि' कभी बुद्धि की माग करता है, कभी धन की और कभी बल की तो अभिमान कहां ठहर सकता है? इसके साथ ही जब उसे इस बात का विश्वास हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसे कही से सहायता मिल सकती है तो वह निश्चिन्त

होकर आगे बढता है। गिर पडेगा तो पुकार करने पर कोई सहारा देकर उठा देगा–यह विचार ही मनुष्य को बडे से बडे काम मे हाथ डालने के लिए तत्पर कर देता है। 'यस्ते वष्टि ववक्षि तत्' (ऋग् ८-४५-६) जो प्रार्थी तुझसे जो चाहता है उसे तू वह प्राप्त करा देता है, 'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु' (ऋग् १०-१२१-१०) हम जिस २ पदार्थ की कामना करें वह हमे प्राप्त हो, 'यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्र करिष्यसि तवेतत् सत्यमङ्गिर.' (ऋग् १-१-६) प्रभु का यह अटल नियम है कि वह आत्मसमर्पण करने वाले का कल्याण करता है–आदि वचन इस विश्वास की पुष्टि करते है। इस प्रकार प्रार्थना मे अभिमान का नाश होता है और आत्मा मे आर्द्रता आती तथा गुण ग्रहण करने का सामर्थ्य बढता है।

जिस २ गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणो को अपने मे धारण कराने के लिये प्रार्थना की जाती है वह, विधिमुख होने से, सगुण प्रार्थना कहाती है। इसी प्रकार जिस २ दोष वा दुर्गुण से ईश्वर को पृथक् मान करके अपने को भी उनसे दूर रखने की प्रार्थना की जाती है वह, निषेधमुख होने से, निर्गुण प्रार्थना कहाती है। अर्थात् शुभगुणो को ग्रहण कराने की प्रार्थना 'सगुण' और दोषो से छुडाने के लिए ईश्वर की सहायता चाहना 'निर्गुण' प्रार्थना कहाती है ॥४५॥

जो जिस बात की प्रार्थना करे उसे उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करना चाहिये। क्योकि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ॥५५॥

थके विना दैवी सहायता नही मिलती।

पानी तैरने मे उसी की सहायता है जो स्वयं हाथ पैर मारता है। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त की गई प्रार्थना ही सफल होती है। सृष्टि मे जितने भी प्राणी अथवा अप्राणी है वे सब अपने कर्म और यत्न करते रहते है। जैसे लोक मे पुरुषार्थ करते हुए व्यक्ति की ही दूसरे लोग सहायता करते है वैसे ही परमेश्वर भी पुरुषार्थी मनुष्य की प्रार्थना स्वीकार करता और यथोचित सहायता देता है। जो प्रार्थना भर करके, आलसी होकर, परमेश्वर के सहारे या भरोसे बैठा रहता है वह बैठा ही रह जाता है और जो प्रार्थना के साथ यत्न भी करता है वह देर-सवेर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

तो क्या पुरुषार्थ करने पर हर प्रार्थना सफल हो जाती है-इसका उत्तर देते है—

सत्कर्मण्येवेशसाहाय्यम् ॥५६॥

सत्कर्म मे ही ईश्वर की सहायता मिलती है।

परमेश्वर सबकी भलाई चाहता है। इसलिये किसी दुष्कर्म मे सफल होने

की इच्छा से की गई प्रार्थना मे ईश्वर की सहायता मिलने का प्रश्न ही नही पैदा होता। परस्पर वैरभाव रखने वाले दो व्यक्ति यदि एक दूसरे के नाश की प्रार्थना करें तो दोनो की प्रार्थना स्वीकार होने का अर्थ होगा दोनो का नाश। ऐसी हानिकारक प्रार्थनायें परमेश्वर कभी नही सुनता। कष्टसाध्य अथवा श्रमसाध्य कामो में ही ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करनी चाहिये, सामान्य घरेलु कामो के लिये नही। पुरुषार्थपूर्वक, शुभकर्मों मे सफलता के लिए की गई, प्रार्थना ही स्वीकार हो सकती है ॥५६॥

अब उपासना का लाभ बताते हैं—

उपासनयाऽखिलदोषदुःखानामुच्छेदात् जीवात्मनोऽपि दिव्यैश्वर्यगुणाद्युद्भवः ॥५७॥

उपासना से सब दोष-दुःख से छूट कर जीवात्मा मे भी दिव्य ईश्वरीय गुणो का प्रादुर्भाव हो जाता है।

'ससर्गजा दोषगुणाः भवन्ति' गुण-दोष ससर्ग से उत्पन्न होते हैं। 'उपासना' का अर्थ समीपस्थ होना है। जब जीव परमात्मा के समीपस्थ होता है तो उस पर बहुत कुछ परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का प्रभाव होता है। उसका आत्मा और अन्त करण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है और नित्यप्रति ज्ञान बढा कर मुक्ति तक पहुच जाता है। आत्मा का बल इतना बढ जाता है कि वह पर्वत के समान दु ख आने पर भी विचिलित नही होता ॥५७॥

उपासना से होने वाला एक और लाभ बताते हैं—

आनन्दोपलब्धिश्च शीतातुरस्य वन्हिसामीप्येन शीतनिवत्तनमिव ॥५८॥

और आनन्द की प्राप्ति, जैसे अग्नि के पास जाने से शीतातुर का शीत निवृत्त होजाता है।

परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरुप है, जीव केवल सच्चित् है। सच्चिदानन्द की उपासना-उसके सामीप्य से उसे वैसे ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है जैसे सर्दी से कापते मनुष्य को अग्नि के पास जाने से सुख मिलता है। 'रसो वै स, रस पीत्वा आनन्दी भवति' परमेश्वर आनन्दस्वरुप है, उसके सानिध्य से जीवात्मा को भी आनन्द मिल जाता है। उपनिषद् (मैत्रायणी ४-४-९) मे कहा है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्त करणेन गृह्यते ॥

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो जाते हैं, आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मा में चित्त लगाया है उसे जो सुख होता हे वह वाणी से

कहा नही जा सकता । उसे जीवात्मा अपने अन्त करण से ही ग्रहण कर सकता है ॥५८॥

स्तुति और प्रार्थना की भाति उपासना के भी दो भेद हैं—

सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टेश्वरस्योपासना सगुणा ॥५९॥

सर्वज्ञत्वादि गुणो से युक्त परमेश्वर की उपासना 'सगुणोपासना' है ॥५९॥

दोषदुर्गुणाभ्यामीश्वरं पृथङ् मत्वा या उपासना सैव निर्गुणा ॥६०॥

राग, द्वेष, रुप, रस, गन्धादि गुणो से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर मे स्थित हो जाना 'निर्गुणोपासना' कहाती है ॥६०॥

न हि कृतघ्नस्य निष्कृतिः ॥६१॥

जिस ईश्वर ने जीवो के भोगापवर्ग के लिए सब कुछ दिया है उसे भूल जाना कृतघ्नता है । कृतघ्नता के महापाप का कोई प्रायश्चित्त नही है । माता पिता ईश्वर के बनाये पदार्थ लेकर हमे पालते हैं, तो भी हम उनका उपकार मानते हैं और उन उपकारो को स्मरण करके उनके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करना धर्म समझते है । फिर ईश्वर ने तो सृष्टि की रचना ही हमारे लिये करके हमारे सुख और आनन्द के लिए विविध प्रकार के पदार्थ प्रदान किये हैं । उसकी उपासना करना हमारा परम धर्म है । अपने ऊपर उपकार करने वाले के प्रति कृतज्ञता का भाव रखने से मन स्वतः प्रसन्न तथा शान्त रहता है । परमेश्वर की शरण मे जाने से आत्मा निर्मल होता है ॥६१॥

चतुर्थ अध्याय

पुनर्जन्म

देहादात्मनो निष्क्रमण मृत्युः ॥१॥

शरीर से जीवात्मा का निकल जाना मृत्यु है।

चालू शरीर मे प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त होने पर शरीर का पतन हो जाता है। तब केवल देह का नाश होजाता है, आत्मा देह को छोड जाता है। देह का प्रत्येक अग अपने कारण मे लय हो जाता है--'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु-' (ऋ. १०-१६-३) किन्तु आत्मा बना रहता है क्योकि वह 'अनुच्छित्तिधर्मा' होने से 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'-शरीर के नाश होने पर भी नही मरता। बस समय आने पर शरीर को छोड कर चल देता है। इस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना ही मृत्यु है ॥१॥

इसी प्रकार—

संयोगश्च जन्म ॥२॥

(आत्मा का शरीर से) सयुक्त होना जन्म है।

जब शरीर का प्रत्येक अग अपने कारण में लय-हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु मे चला जाता है--'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा' (ऋ १०-१६-३) फलभोग के कारण प्रारब्ध कर्मो का क्षय हो जाने पर सचित मे से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है। इस प्रकार पूर्वजन्मो मे किये पाप-पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से युक्त आत्मा, पूर्वशरीर को छोड कर वायु मे गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य मे प्रविष्ट हो जाता है। तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से योनि के द्वारा गर्भाशय मे स्थित हो, दस मास तक (ऋ. ५-७८-८-९, अथर्व १-११-६) वहा पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। इसी को जीवात्मा का जन्म लेना कहते हैं। शरीर से सयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध मे ऋग्वेद (५-७८-९) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

> **दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।**
> **निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि ॥**

दस मास तक माता के भीतर रह कर प्राणो को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले ॥२॥

पुनर्जन्म की परिभाषा कहते हैं—

प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः ॥ ३ ॥

यहा से जाकर फिर होना पुनर्जन्म है ।

जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड देता है उसे फिर प्राप्त नही कर सकता । इस प्रकार एक देह को छोड कर देहान्तर प्राप्ति को पुनर्जन्म कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति होने पर निश्चित समय के अन्तराल को छोड कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त ॥३॥

जन्म-मरण के अनुक्रम का कारण बताते हुए कहा—

पुनर्जन्मसिद्धिः आत्मनित्यत्वात् ॥४॥

आत्मा के नित्य होने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है ।

आत्मा को नित्य मानने पर ही शरीरो को छोडने और ग्रहण करने का अनुक्रम सम्भव है । यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता । फिर उसकी उत्पत्ति कहा से होती ? क्योकि स्वरुप से उत्पन्न हो कर नष्ट होने वाली वस्तु फिर से अस्तित्व मे नही आ सकती । याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया-'मर्त्य स्विन् मृत्युना वृक्ण कस्मान्मूलात्प्ररोहति' (बृहद् ३-६-२८) जब वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खडा होता है। परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खडा होता है ? जब किसी से उत्तर न बन पडा तो स्वय याज्ञवल्क्य ने कहा-वह मूल आत्मा है जो स्वरुप से कभी उत्पन्न नही होता और सदा बना रहता है । "सस्यमिव पच्यते मर्त्य सस्यमिवाजायते पुन." (कठ १-६) मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता, बढता, नष्ट होता और पुन उत्पन्न होता है ॥४॥

वेदादि शास्त्रो मे भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

शास्त्रवचनाच्च ॥५॥

शास्त्रो के वचनो से भी पुनर्जन्म सिद्ध है ।

वैदिक धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखा के प्रमाण ग्रन्थो मे सर्वत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । जैसे—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्व प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुन ॥ अथर्व ११-४-१४

मनुष्य गर्भ के अन्दर सास लेता है और छोडता है । हे प्राण ! जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है तो वह फिर उत्पन्न होता है ।

पुनर्मन पुनरायुर्म आगन्पुन प्राण पुनरात्मा म आगन् ।
पुनश्चक्षु पुन श्रोत्र म आगन् । वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा
अग्निर्न. पातु. दुरितादवद्यात् ॥ यजु ४-१५

मुझे मन फिर से प्राप्त हुआ है, प्राण भी फिर से मिला है, मेरा देहयुक्त आत्मा भी फिर से मिला है, मुझे आख और कान फिर से मिले हैं। अतएव मेरा जीवन मुझे फिर से मिला है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्व-रक्षक और पापो से बचाने वाला भगवान दुराचार और पाप से हमे बचाये।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविण ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ अथर्व-७-६७-१

मुझे इन्द्रियो का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्यदेह वार-वार प्राप्त हो। मन, जीव और देह तथा धन व ब्रह्मज्ञान भी वार-वार प्राप्त हो। अग्निहोत्रादि मे समर्थ हम लोग जैसे पूर्वजन्मो मे शुभ गुण धारण करने वाली वुद्धि, उत्तम शरीर और इन्द्रियो के स्वामी थे वैसे ही इस जन्म मे भी हो।

आ यो धर्माणि प्रथम ससाद ततो वपूषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनि प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ अ. ५-१-२

जो प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर धारण के कारणरुप कर्मो को प्राप्त करता है और उन कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और देह धारण करने की इच्छा से प्रथम गर्भ मे प्रविष्ट होता है और वही विना उपदेश की हुई वाणी को अपने पूर्वजन्म के सस्कारो से जानता है।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृत ।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ता. पीता नानाविधा स्तना.।
मातरो विविधा दृष्टा. पितर. सुहृदस्तया ॥
अवाङ्मुख पीड्यनमानो जन्तुश्चैव समन्वित ॥
निरुक्त अ. १३-१९-१-२-७

मैं मर कर पैदा हुआ, पैदा होकर फिर मरा, अनेक योनियो में मैंने जन्म लिया। अनेक प्रकार के मैंने भोजन किये, अनेक स्तनो से मैंने दूध पिया। अनेक प्रकार के माता-पिता और मित्रो को देखा। गर्भ मे नीचे सिर और ऊपर पैर—इत्यादि नाना प्रकार की पीडाओ को सहन करके अनेक जन्मो को धारण किया।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ॥
गीता २-२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रो को छोड कर नये धारण लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।

महाभारत मे एक स्थान पर (शा पर्व. १५-५६) एक घर को छोड कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है। एक अमेरिकन लेखक ने यही कल्पना पुस्तक पर नई जिल्द वाधने का दृष्टान्त देकर भी व्यक्त की है। गीता मे ही अन्यत्र (२-१३) कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमार यौवन जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

जैसे शरीर धारण करने पर जीवात्मा को इस देह मे बचपन, जवानी और बुढापा प्राप्त होता है वैसे ही (मरने पर) दूसरा शरीर प्राप्त हो जाता है ।

बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नही मानते तथापि वैदिक धर्म मे वर्णित पुनर्जन्म की कल्पना को उन्होंने अपने धर्म मे पूरी तरह अपनाया है । इसलाम और ईसाई मत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नही मानते तथापि उनके मान्य ग्रन्थो मे भी यत्र तत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पोषक वचन उपलब्ध है । यूरोप आदि देशो के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे निकाल नही पाये । बीसवी शताब्दी मे 'ईश्वर मर गया' का नारा देने वाले निरीश्वर वादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पडा । उसने लिखा—"कर्मशक्ति के जो रूपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है । इसलिये कहना पडता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं और इसी से कर्म चक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है । यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है ।" (Complete works of Nitetsche Vol XVI P 235–236) मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्म शरीर के साथ एक नाडी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की बात कही है ॥५॥

पुनर्जन्म न मानने से ईश्वर की न्याय व्यवस्था नष्ट हो जायेगी—

पापपुण्ययोर्विपाकार्थं पूर्वापरजन्मधारणम् ॥६॥

पाप–पुण्य के विपाक के लिए पूर्वापर जन्म धारण करना आवश्यक है ।

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं । कर्त्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है । 'कर्मणा बध्यते जन्तु'–प्राणी कर्म से बँधा हुआ है । 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत' (गीता ३-५) बिना कर्म किये कोई मनुष्य पल भर भी नही रह सकता । और कर्म का बिना भोगे क्षय नही होता । पूर्वापर जन्म न मानने से 'कृतहानि' तथा 'अकृताभ्यागम' का दोष आता और ईश्वर भी 'नैर्घृण्य' एव 'वैषम्य' का दोषी बनता है । जो लोग परजन्म नही मानते उनके गले कृतहानि का दोष पडता है, क्योकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे जबकि प्राणिमात्र को सिद्धान्ततः अपने कर्मों का फल भोगना पडता ही है–'अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम्' । इसीलिये 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है । कर्म किये बिना सुख-दुख रूप फल का पाना 'अकृताभ्यागम' दोष कहाता है । पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है ।

एक आत्मा अत्यन्त सुख सम्पन्न परिवार मे जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान वनकर जीवन भर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यो ? पूर्वजन्म है नही जिसमे उन्होंने पाप-पुण्य किये हो। तो फिर, वैठे विठाये--विना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यो ? विना कारण के कार्य हो नही सकता। इसलिये इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार 'नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु' —परमेश्वर न किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को, अपितु सवको अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल देता है। तव यदि पूर्वजन्म न माना जाये (जिसमे उसने पाप किया हो) तो विना अपराध के किसी को दण्ड देना उस पर अत्याचार करना है—यही नैर्घृण्य है। ससार मे व्याप्त वैषम्य भी इस सन्दर्भ मे चिन्त्य है। कोई सुखी है तो कोई दु खी। यदि यह निर्हेतुक है तो ऐसा करने वाला न दयालु है, न न्यायकारी। पुण्य कर्म के विना सुख देना और पापकर्म के विना दुःखरूप फल देना—दोनो ही अनुचित हैं। इन सव दोषो का एकमात्र समाधान पूर्वापर जन्म मानने से होता है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और पर-जन्म मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नही रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दु ख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्याय-कारी सिद्ध होकर उसमे नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नही रहते ॥६॥

पुनर्जन्म की सिद्धि मे एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

उद्यानार्थञ्च ॥७॥

उन्नति के लिए भी।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाये तो जीवन का कोई अर्थ ही नही रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ एक दिन हमारा भी अन्त हो जायगा तो हमे इस जीवन के साथ क्या लगाव रह जायेगा ? परिणामत नैतिक मूल्यो का ह्रास होगा। फिर तो सचाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके 'यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिवेत्' के अनुसार जीवन विताना ही श्रेयस्कर होगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म मे न जाने कितनी भूले होगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार करके अपने को पहले से अच्छा वनाने का अवसर ही नही रहता। एक कक्षा मे रहते हुए एक वर्ष मे जो पढ लिया सो पढ लिया। परीक्षा मे असफल होने पर दुवारा पढने का अवसर नही और सफल होने पर और आगे पढने का अवसर नही। एक ही जन्म मे किये कर्मों का फल भोगते रहने के लिए सदा के लिए नरक मे छोड देना कहाँ का न्याय है ? और मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म मे उसे पाना

नितान्त असम्भव है। इसीलिये गीता मे कहा--'अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम्' (६-४५) जन्मजन्मान्तर की साधना के वाद कही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास वन जाये तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ व्यर्थ नही होगा। आत्मा अमर होने से इस जन्म के संस्कार ज्यो के त्यो बने रहेगे और इस जन्म मे जहाँ उसका अभ्यास छूटा है वहाँ से आगे प्रारम्भ करने के लिये उसे फिर अवसर मिलेगा। इतना ही नही, उसे अनुकूल परिस्थितियाँ देने के लिये--

शुचीनां श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥

गीता ६-४१, ४२

उसका जन्म श्रेष्ठ कुल मे होगा। 'नात्मानमवमन्येत पूर्वभिरसमृद्धिभि' (मनु ४-१३७) एक वार की असफलता से निराश नही होना चाहिये। यह तभी सोचा जा सकता है जव फिर भी अवसर मिलना निश्चित हो। ईश्वरीय व्यवस्था मे पूर्ण सफलता--मोक्ष की प्राप्ति होने तक वार-वार अवसर मिलता है। इसी से जीवन मे उत्साह और शुभ कर्मों मे प्रवृत्ति को बल मिलेगा। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिगन करेगा, जव उसे विश्वास होगा कि पुराने कपडे इस लिये उतारे जा रहे है कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिये हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके ॥७॥

जैसे कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होना आवश्यक है वैसे ही पुनर्जन्म के लिए पूर्वजन्म मे किये कर्मों का होना अनिवार्य है, क्योकि--

पूर्वकृतफलानुबन्धाज्जात्यायुर्भोगाः ॥८॥

पहले किये कर्मों के फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोग होते है।

कोई घटना अकारण नही घटती। कर्म ही जाति, आयु और भोग मे कारण है। अत जो जाति, आयु अथा भोग इस जन्म के कर्मफलरूप नही है उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म होगा। ईश्वर स्वेच्छाचारी नही है। ससार मे वैचित्र्य एव वैविध्य तो प्रत्यक्ष है। किन्तु वह अव्यवस्थित न होकर किसी विधि-विधान के अनुसार है। माली उपवन का व्यवस्थापक होते हुए भी किसी युक्ति से ही वृक्ष लगाता, काटता और उनका सवर्धन करता है। ससार मे स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाला स्थिति भेद सग-प्रसग भेद से हुआ नही माना जा सकता। क्योंकि सग-प्रसग भेद की कल्पना जहा नही की जा सकती ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है वह भी सव के लिये समान नही होती। पेट मे होते हुए भी एक जीव के लिए सुख होता है और दूसरा वही क्लेश पाता

है । एक धर्मात्मा के पेट से जन्म लेता है और दूसरा पापी के पेट से । ईश्वर न्यायकारी होने से पक्षपात नही कर सकता । अत' जात्यायुर्भोगात्मक भेद का कारण आत्मा के अपने कर्म ही हो सकते है ।

जन्म का नाम 'जाति' है--जैसे मनुष्य, गौ, घोडा, कीट, पतंग, पक्षी आदि । उस देह विशेप का स्थिति काल 'आयु' कहाता है । सुख-दु ख के हेतु विपयो की प्राप्ति का नाम 'भोग' है । इन तीनो का कारण पूर्वजन्म मे किये कर्म हैं । यदि ऐसा न होता तो समस्त आत्माओ की स्थिति एक समान होती । जैसे शरीर की उत्पत्ति मे कर्म निमित्त हैं वैसे ही शरीर विशेप के साथ सयुक्त होने अर्थात् योनि विशेप मे जन्म लेने मे भी पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं । इसीलिये एक आत्मा को मनुष्य का, दूसरे को हाथी का, तीसरे को शेर का, चौथे को चिडिया का और पाचवें को चीटी का शरीर मिलता है । इसी प्रकार एक के जन्म लेते ही मर जाने, दूसरे के ३५ वर्ष तक जीवित रहने और तीसरे के सौ वर्ष पार कर जाने मे भी पहले जन्म के किये कर्म ही कारण है । एक जीव रानी के गर्भ मे आता है और दूसरा घसियारी के । राजपुत्र को गर्भकाल में भी सुख, जन्मते समय सुख और आगे भी जीवन भर सुख ही प्राप्त होता है । जव वह पैदा होता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाडी छेदन आदि होता है । जव दूध पीना चाहता है, अविलम्व यथेष्ट मिलता है । उसे प्रसन्न रखने के लिए चारो ओर नौकर चाकर खडे रहते हैं । दूसरे का जन्म जगल मे होता है । जन्मते समय किसी प्रकार की सुविधा नही । वाल्यावस्था मे यथेष्ट खानपान का अभाव और जीवन भर की ठोकरें । इस सुख-दु ख का कारण भी पूर्वजन्म के कर्म ही हैं । इतना ही नही--एक आत्मा के धनी परिवार मे जन्म लेने किन्तु विकृताग अथवा अस्वस्थ होने के कारण यथेच्छ भोग करने मे असमर्थ होने और दूसरे के स्वस्थ शरीर के स्वामी होकर भी निर्धन परिवार मे जन्म लेने के कारण भूख से तडप-तडप कर मर जाने मे भी पूर्व-जन्म के कर्म कारण हैं । एक के मनुष्य योनि मे जन्म लेकर भी पशुओ का सा जीवन व्यतीत करने को विवश होने और दूसरे के कुत्ते की देह मे जन्म लेकर भी मोटरो में सैर करने, मनचाहा भोजन करने और गोद मे बैठकर दुलराये जाने मे भी आत्मा के सुकृत और दुष्कृत कर्म ही निमित्त हैं । यह ठीक है कि 'कर्मणो गहना गति' कर्मगति वडी गहन और विचित्र है । किन्तु इतना निश्चित है कि जिस प्रकार हम एक ही धरती मे से एक सी परिस्थितियो मे कहीं आम, कही गुलाव, कही मटर और कही गेहूँ आदि को अकुरित होता देख सहज ही जान लेते है कि यह सव अन्तर वीजो मे निहित अन्तर के कारण है, वैसे ही प्राणियो के देह, आयु और भोगो मे अन्तर देखकर उनसे सयुक्त आत्माओ के पूर्व कर्मो का अन्तर स्पष्ट हो जाता है । अत जन्मादि सम्बन्धी विशेषताओ के नियामक अपने-अपने विशेष कर्म ही है । यह भी देखा गया है

कि जिनकी जाति अथवा प्रसव (समानप्रसवात्मिका जाति--न्याय २-२-६८) समान होता है उनकी आयु प्राय समान होती है और जिनका प्रसव तथा आयु समान होते हैं उनका भोग भी प्राय समान होता है। जाति, आयु और भोग की प्राप्ति मे पूर्वजन्म के कर्मों के स्थान पर ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह को कारण मान लिया जाये तो ईश्वर तो अन्यायकारी सिद्ध होगा ही, जीवो की धर्म मे प्रवृत्ति न होकर ससार मे पाप मे वृद्धि होगी।

सूत्रान्तर्गत 'जाति' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का ग्रहण नही होता। महाभाष्य मे अष्टाध्यायी के ४-१-६३ सूत्र मे प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'जाति' का निम्न लक्षण लिखा है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्र च चरणैः सह॥

इमकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा--'आकृतिर्ग्रहण यस्या सा आकृतिग्रहणा अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थ एतेन गोत्व अश्वत्वादिर्जातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न सग्रहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीना सस्थानस्य सदृशत्वादिति'।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर-अवयव-रचना-विशेष से ज्ञान होता है वह 'जाति' है। जैसे--गोत्व, अश्वत्वादि। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के शरीर-अवयव-रचना मे समानता होने से ब्राह्मण आदि का 'जाति' शब्द से ग्रहण नही होता।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि आकृत्ति मात्र से ज्ञेय उस प्रकार की मुख्य जाति नही है। 'समानप्रसवात्मिका जाति' (न्याय २-२-६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी 'आकृतिग्रहणा' जाति से ही है। यत ब्राह्मण आदि सामान्य जाति लक्षण से जातिवाचक नही हैं। अत ये शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से मनुष्य जाति के अन्तर्गत विशेष जाति हैं। इसी से इसे सामान्य विशेषात्मक जाति कहते हैं। वस्तुतः ब्राह्मणादि जातिवाचक न होकर वर्णवाचक शब्द है॥८॥

आगे, किस प्रकार के कर्म करने से किस प्रकार के शरीर मिलते हैं— इसका वर्गीकरण करते हैं—

अधर्माद्धर्मपरिवृद्धौ देवानां शरीराणि ॥९॥

अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवो का शरीर।

जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है और इस कारण जिनका पाप न्यून और पुण्य अधिक होता है उन्हे देवो (विद्वासो हि देवा--शत०) का शरीर मिलता है। यह शरीर उन वीतराग पुरुषो का समझना चाहिये जो फल की अभिलाषा छोडकर केवल कर्म का अनुष्ठान करने मे तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करने वाले यतियो, ब्रह्मचारियो तथा ऐश्वरी सृष्टि मे जन्म लेने वाले ऋषियो का इस कोटि मे समावेश समझना चाहिये॥९॥

पापपुण्ययोः समत्वे मानुषाणाम् ॥१०॥

पाप-पुण्य समान होने पर मनुष्यों का।

जब इसी जन्म मे पाप-पुण्य बराबर हो तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हो अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हो तो यथास्थिति उन्हे देवो अथवा पश्वादि के शरीरो मे भोग कर जब पाप-पुण्य बराबर हो जाये तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमे भी पाप-पुण्य के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने पर मनुष्य योनि मे भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। उभय योनि होने से इस देह मे रहकर जीव पूर्वकृत कर्मो के फलो को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानो मे तत्पर रहता है ॥१०॥

पुण्यतो दुरितबाहुल्ये पश्वादीनाम् ॥११॥

पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक होने पर पश्वादि का।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतग आदि का शरीर मिलता है। यहाँ भी पापो की निकृष्टता की अपेक्षा मे न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरो की व्यवस्था है। पूर्वकृत कर्मो का फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है। इसमे रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है वह केवल भोग सम्पादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार का सस्कार या वासना उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नही होता।

मिश्र देश की गुफाओ मे मिले शिलालेखो मे पुनर्जन्म से सम्बन्धित एक शिला लेख मे लिखा है—

"ईश्वर और मनुष्य मे इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर मे फँसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नही—(इस कथन मे वेदोक्त 'तयोरन्यः पिप्पल स्वाद्वत्त्यनशनन्नन्योऽभिचाकशीति' का भाव स्पष्ट है। अग्रेजी मे कहावत है—Man on earth is God subject to death while God in heaven is man free from death' अर्थात् मनुष्य, जन्म-मरण के चक्र मे फँसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह चमत्कारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति है) पुनर्जन्म के चक्कर मे फँसी आत्मायें कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम मे से गुजरती हैं तथा विपरीत क्रम मे भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओ को पाप का फल भोगने के लिए पशु जन्म मिलता है।"

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि मे, पश्वादि का मनुष्य मे, स्त्री का पुरुष मे और पुरुष का स्त्री मे आता जाता रहता है ॥११॥

पापातिशये स्थावराणाम् ॥१२॥

अतिशय पाप करने पर स्थावरो (वृक्षादि) का शरीर मिलता है।

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रो से यह प्रमाणित है कि कर्मानुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति (१२-९) मे स्पष्ट कहा है–"शरीरजैं कर्मदोषैर्याति स्थावरता नर"–अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियो को प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१-३२-१) मे 'वीरुध प्राणन्ति' कहकर वनस्पति आदि मे चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८-७-६) तथा छान्दोग्य (६-११-२) मे भी इस प्रकार के सकेत मिलते है ॥१२॥

न तत्र सुखदु:खानुभूतिः बाह्यसम्बन्धाभावात् ॥१३॥

वाह्य व्यवहार के अभाव मे वहा सुख-दुख की अनुभूति नही होती।

आत्मा को सुख-दु.ख का अनुभव कराने वाले अन्त करण का वाह्य जगत् से सीधा सम्वन्ध नही होता। साख्य दर्शन (५-२७) के अनुसार "पञ्चावयवयोगात् सुखसवित्ति"–पाच ज्ञानेन्द्रियो का अपने विषयो से सम्बन्ध होने पर ही जीवात्मा को सुख-दुख की अनुभूति होती है। वाह्यावयवो का अपने विषयो मे सम्वन्ध न होने के कारण ही सुषुप्ति अथवा मूर्च्छितावस्था मे प्राणी को सुख-दु ख की प्राप्ति नही होती। कर्णेन्द्रिय के व्यर्थ हो जाने पर गाली मिलने पर भी सम्वद्ध व्यक्ति को बुरा नही लगता, पीनस रोग से ग्रस्त व्यक्ति पर दुर्गन्ध का कोई प्रभाव नही पडता, अन्धे को न सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता और न कुरूपता के कारण विकर्षण। इस प्रकार यद्यपि प्राकृत नियम व व्यवस्था के अनुसार वनस्पति जगत् मे वृद्धि, ह्रास, विकास, वढना-घटना एव साजात्य प्रजनन आदि क्रियायें अन्य प्राणियो के समान देखी जाती हैं तथापि वाह्यावयवो के अभाव मे वहा सुख-दुख की अनुभूति नही होती ॥१३॥

कर्मों का फल कव तक मिलता रहता है–अगले सूत्र मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

सति मूले तद्विपाकः ॥१४॥

मूल कारण के रहने तक फल मिलता है।

पत्तो और शाखाओ के वार-वार काट देने पर भी वृक्ष यथासमय फिर पूर्ववत् अकुरित हो पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। ऐसा तब तक होता रहता है जव तक उसकी जड वनी रहती है।

कर्मों का मूल क्लेश–'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशा.' (योग-२-३) हैं। जव तक धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूल कारण अविद्यादि क्लेशो का नाश नही होता जव तक उनका विपाक होता रहता है। जिस प्रकार तुषरहित दग्धवीजभाव चावल मे अकुरित होने का सामर्थ्य नही रहता अथवा मूल के काट दिये जाने पर वृक्ष की शाखाओ मे फल फूल नही उगते उसी प्रकार विवेक

ज्ञान द्वारा उक्त क्लेशो के नष्ट हो जाने पर कर्माशय फल का आरम्भक नहीं रहता। जब तक ऐसा नही होता तब तक कर्मफल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते रहना पडता है, क्योकि 'कर्मैव देहारम्भस्य कारणम्'—कर्म ही शरीर की उत्पत्ति मे कारण है ॥१४॥

पुनर्जन्म की सिद्धि मे कुछ और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सामर्थ्यभेदात् ॥१५॥

सामर्थ्य भेद के कारण।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरो से भिन्न है। एक ही माँ-बाप के दो पुत्रो को अध्ययन के लिये एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनो मे एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन सहन की व्यवस्था मे भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ मे कुछ नही आता जबकि दूसरे की धारणा शक्ति इतनी अच्छी है कि सकेत मात्र से सब समझ जाता है। उसे पढाते समय ऐसा लगता है कि जैसे उसे कोई नई बात नही बताई-सिखाई जा रही है अपितु वह पहले पढे हुए की आवृत्ति मात्र कर रहा है। एक ओर जहाँ ससार मे निपट मूर्खों की कमी नहीं वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु मे ही सम्पूर्ण गीता सुना डालने वाले अथवा वेद मन्त्रो के अर्थ करने वाले बालक भी देखने को मिलते हैं। जिन घटनाओ को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्मायें ससार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराजा भोज के दरबार मे चार ऐसे पण्डितो के होने का उल्लेख मिलता है जिनमे से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुन कर श्लोक याद हो जाते थे। इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म मे कुछ भी नही है। ईश्वर ने ऐसा कर दिया—यह मानें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियो को ही मनुष्य के विकास मे कारण मानने वाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य मे पाये जाने वाले इस अन्तर की व्याख्या नही कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पाने वाले शकराचार्य की महान् उपलब्धियां उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानी जा सकती। ७-८ की आयु मे ही काव्य रचना करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वर्ड्सवर्थ को कब किसने कविता करना सिखा दिया? पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है—ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या संभव नही। प्रारम्भ मे ही किसी विशिष्ट विषय मे रुचि अथवा प्रवृत्ति मे भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म मे प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है ॥१५॥

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१६॥

मरने के बाद (पूर्वजन्म के) आहार के अभ्यास के कारण (जातमा
बालक को) स्तन्य की अभिलाषा से ।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत
पर सस्कार होता है । तदनन्तर स्मृति होती है । स्मृति होने से किसी कार्य
प्रवृत्ति निवृत्ति होती है । माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास ले
या रोने लगता है । माता का स्तन खीचकर दूध पीने लगता है । पूर्व सस्का
के बिना यह प्रवृत्ति कहाँ से आई ? उसे कब, कौन बता गया कि दूध का
है और कैसे मुँह चला कर पिया जाता है । उसे दूध पीते देखकर यही आभा
होता है कि वह सारी प्रक्रिया से भली भाति पहले से परिचित है । पेट भर
पर स्तन को स्वय छोडकर अलग हो जाता है । यह निवृत्ति भाव भी कहा
आया ? एक दिन के बालक को जिसने अभी अच्छी तरह आखे भी नही खोल
माता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने मे असमर्थ है । स्पष्ट है कि बालक
भीतर स्थित आत्मा को पहले की ही कुछ स्मृति है । उसी के सहारे वह अप
काम चला रहा है । इस जन्म मे जिसने अभी आहार का अभ्यास नही कि
उस जातमात्र बालक का भूख से पीडित होने पर आहार के अभ्यास औ
उसके स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ पैर मार कर औ
रो रोकर प्रकट करना सम्भव नही हो सकता । पूर्व देह मे रहते हुए आत्मा
तद्विषयक अभ्याम और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति मे कारण हैं ॥१६॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकभयसम्प्रतिपत्तेः ॥१७॥

पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के कारण सद्योजात बालक के हर्ष, शोक
भय आदि प्रकट होने की सम्भावना से ।

बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार मे पहले कुछ सप्ताहो मे
कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बडे हो जाने पर नही रहती
सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दु खी सा होकर मुह बनाने लगत
है और कभी डर के मारे कांप उठता या चीख पडता है । स्वप्नावस्था में किस
स्मृति के कारण ही ऐसा होता है । विना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये
उसकी स्मृति नही हो सकती । स्वप्नावस्था मे भी वही देखा, सुना या अनुभव
किया जाता है जो पहले कभी जागृतावस्था मे देखा, सुना या अनुभव किया होता
है । इस जन्म मे अभी तक बालक ने सुख, दु ख या भय के कारणो को
अनुभव ही नही किया । बाह्य जगत् मे अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आरम्भ
नही हुआ । ऐसी अवस्था मे पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात
बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नही हो
सकता ॥१७॥

मरणभयदर्शनाच्च ॥१८॥

और मृत्यु का भय देखे जाने से।

कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त मूढ मे यह क्लेश रहता है उसी प्रकार शास्त्रज्ञ विद्वान् मे भी देखा जाता है। कुशल और अकुशल दोनो मे ही यह भावना समान रूप से एव सहज भाव मे रहती है। कोई विषय पहले अनुभूत होने पर ही बाद मे उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वह विषय चित्त मे आहित रहता है और उसका पुन बोध ही स्मृति होती है। मरण भय आदि की स्मृति देखी जाती है। इस जन्म मे मरण भय अनुभूत हुआ नही है। यदि वह पूर्वजन्म मे अनुभव न हुआ होता तो उसका सस्कार सचित न होता। सस्कार के बिना स्मृति न होती। स्मृति के बिना भय न होता। जिसने पहले कभी मरणत्राम का अनुभव न किया हो वह 'मा न भूव भूयासम्' (मैं मरु नही, मैं जीवित रहू) ऐसी इच्छा नही कर सकता। इस प्रकार अमर होने पर भी मरणत्रास से अभिभूत होने से आत्मा के पूर्वजन्म का होना सिद्ध होता है।

'मृत्योर्माऽमृत गमय' (मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो), 'यस्यच्छाया-ऽमृत यस्य मृत्यु' (जिसकी छाया-आश्रय मे अमरता है, अन्यथा मृत्यु), 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (उसे जान कर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है) तथा 'मृत्यु तीर्त्वाऽमृतमश्नुते' (मृत्यु को पार कर के अमरत्व की प्राप्ति) आदि श्रुति वचनो मे सहज ही पुनर्जन्म की भी सिद्धि होती है। 'हेय दु खमनागतम्' (यो २-१६) अनागत-भविष्यत् दु ख त्याज्य होता है। भूत दु.ख भोग से निवृत्त हो चुका है और वर्त्तमान दु ख भोगारूढ होने से समय पाकर स्वय निवृत्त हो जायेगा। इसलिये विचारशील मनुष्य आने वाले दु ख की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। इस जन्म मे तो मृत्यु निश्चित है। अतः उससे बचने का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। निश्चय ही इस के बाद होने वाली किसी और मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिये मनुष्य पुरुषार्थ करता है। दूसरी मृत्यु तभी होगी जब पहले दूसरा जन्म होगा। इस जन्म मे होने वाली मृत्यु के अनन्तर मोक्ष तो किसी-किसी को ही मिलेगा। अधिसख्य आत्मायें तो आवागमन—बार-बार जन्म और बारबार मृत्यु के चगुल मे फंसी रहेंगी। इसी से बचने के लिए यह अमरता अथवा मुक्ति के लिए लालायित है। इस प्रकार मरणत्रास मे जैसे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है वैसे ही पुनर्जन्म की भी ॥१८॥

सर्वग्राह्यत्वादप्यस्य ॥१९॥

इस (पुनर्जन्म) के सभी के द्वारा मान्य होने से भी।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि ससार का कोई भी मनीषी—दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक—इसे स्वीकार किये बिना नही रह सकता। दार्शनिक

क्षेत्र मे पाश्चात्य देशो मे यूनान का स्थान सबसे ऊचा है। विश्व के बडे-बडे दार्शनिक वहा हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।' उसके मत मे आत्मा इस जन्म मे जो भी ज्ञान प्राप्त करता है वस्तुत वह पूर्वजन्मो के अनुभवो की आवृत्तिमात्र है--'ज्ञान केवल स्मरण है' (To know is to remember)। प्लेटो की ही दो अन्य सूक्तिया हैं—

'आत्मा अपना चोला सदा बदलता रहता है' (The soul always weaves her garment anew)

'आत्मा मे बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है' (The soul has a natural strength which will hold out and be born many times)

पिथेगोरस ने लिखा—'अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशु-योनि मे जन्म लेता है' (All things are but altered Nothing dies and here and there the unbodied spirit flies, by time and force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast)

प्लैटो के सुयोग्य किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotal) की मान्यता है कि आत्मा नित्य और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियो मे से गुज़र कर उस-उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है।

एम्पीडोक्लीज़ ने पुनर्जन्म का आधार साख्य दर्शन (नावस्तुनो सिद्धि— १-४३) तथा गीता (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत) के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को ही माना। पुनर्जन्म मे विश्वास के कारण ही वह मास भोजन से भी घृणा करता था—"There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike to flesh as food" (Calcutta Review, Vol LXii, p 97)

पुनर्जन्म के सन्दर्भ मे प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है—"Metempsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable" अर्थात् दर्शनशास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पडेगा, क्योकि जो अनन्त (अविनाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।

फ्रास के लैसिंग ने तर्क दिया कि "मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसा कि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाये। अन्यथा पाप कहा से आया ? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के

साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है।" काण्ट ने अपने समस्त दर्शन-शास्त्र की नीव आचार शास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है–"धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दु.ख के साथ। किन्तु हम देखते है कि इस जगत् मे दुर्जन पुरुष फलते फूलते तथा सज्जन दु ख पाते हैं। यदि कोई न्याय-कारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य मे दुष्टो को दु ख का भोग और सज्जनो को सुख का भोग अवश्य करायेगा।"

स्पीनोज़ा, हेगल आदि ने भी आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले जाये और यह भी बताये कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नही है अपितु भविष्य के जन्मो तक फैला है। काण्ट के स्वर मे स्वर मिलाते हुए आइकन ने भी कहा–"If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life The more detailed elaboration of this conception has struck different paths One such path was the doctrine of transmigration of soul."

(Eucken's Essays, P 106)

ईसाई लोग (मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं किन्तु नाश नही मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज मे दर्शन शास्त्र के आचार्य प्रोफेसर मैकटे-गर्ट ने अपनी पुस्तक (Human immortality and pre-existence) 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' मे इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा–"यदि आत्मा बनाया गया तो प्रश्न होता है कि किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गई। ससार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था–"

"If the universe got on without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more."

यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो। और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पडेगा कि प्रारम्भ से ही अनेको आत्मायें हैं–कोई किसी से पैदा नही होती। तब, जिस कारण वर्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

प्रकृति के महान् कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियो मे अमरता का सकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) मे पुनर्जन्म की इन शब्दो मे व्याख्या की है—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star—
Hath had its setting elsewhere,
And cometh from afar

जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते है इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोडकर बहुत दूर कही दूसरा जन्म धारण कर लेता है। अपनी एक और कविता "The primrose of the rock' मे पुष्पो तथा अन्य वनस्पतियो की परिवर्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन मे भी इसी प्रकार मुरझाने के वाद पुनर्जन्म होता है—

Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

टेनीसन कहता है—

And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
We say, all this hath been before,
Although I know not in what time or place,
Methought that I had often met with you

हमे ठीक तरह याद भले ही न हो कि पूर्वजन्मो मे कब, कहा मिले किन्तु यह निश्चित है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।

अमरीका के महान् सन्त, साहित्यकार तथा दार्शनिक इमर्सन अपना अनुभव वताते हैं—'We wake and find ourselves on a stair There are other stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight'

वहुत सी सीढिया हमसे नीचे हैं जिन्हे हम चढ चुके है और वहुत सी हम से ऊपर हैं जिन पर हमे अभी चढना है।

वर्तमान युग में इगलैण्ड मे ऋषि कल्प समझे जाने वाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The Drama of love and hatred--a study of human evolution and transmigration' मे लिखा कि 'जो मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नही होता।'

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है—इस तथ्य को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा—

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation'

जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है किन्तु ज्यो ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है वह शान्त हो जाता है ॥१६॥

विपक्षी शका प्रकट करता है कि यदि पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म् की स्मृति क्यो नही रहती ? इस शका का समाधान करते हैं—

संस्कारदौर्बल्यात् विस्सरणम् ॥२०॥

सस्कारो की निर्वलता के कारण (पूर्वजन्म की) स्मृति नही रहती ।

सस्कारो की निर्वलता के दो कारण होते हैं—एक तो ज्ञान के समय ही उनकी गहरी छाप न पडना और दूसरा आवश्यकता न होने के कारण उनके वार-वार न उभरने से शिथिल हो जाना । दो जन्मो के वीच का अन्तराल भी सस्कारो को निर्वल कर देता है । व्यवस्थानुसार कुछ जीव शीघ्र ही दूसरे शरीर मे पहुच जाते हैं । ऐसे जीवो के सस्कारो के सर्वथा शिथिल न होने के कारण उन्हे पूर्वजन्म की अनेक वार्ते याद रह जाती हैं । आयु के वढने के साथ-साथ यह स्मृति शिथिल होती जाती है । परन्तु जो आत्मायें दूसरे शरीर को देर से ग्रहण कर पाती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुमण्डलों मे लम्वी यात्रा के कारण उनके सस्कार निर्वल पड जाने के कारण उन्हे पिछले जन्म की वार्ते भूल जाती हैं ॥२०॥

पूर्व जन्म का स्मरण न होने मे एक अन्य हेतु देते हैं—

उद्वोधकाभावाद्वा ॥२१॥

उद्‌वोधक कारण के अभाव मे भी (स्मरण नही होता) ।

अन्त.करण मे जन्म जन्मान्तर के अनेक सस्कार पड़े रहते हैं । परन्तु उपयुक्त उद्‌वोधक के अभाव मे उनकी स्मृति नही होती । स्मरण उन्ही का होता है जिनके उद्वोधक उपस्थित हो जाते हैं । इसी जन्म मे कई वर्ष पूर्व देखे गये व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति तव तक नही हो पाती जव तक कोई उपयुक्त उद्वोधक उपस्थित नही कर दिया जाता । इस जन्म मे पूर्व जन्म के सस्कारो का उद्वोधक न रहने से उनका स्मरण नही रहता ॥२१॥

इसी विषय मे एक और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

निमित्ताभावाच्च ॥२२॥

और निमित्त न रहने से ।

जीव का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान नित्य होता है किन्तु नैमित्तिक ज्ञान मे न्यूनाधिक्य होता रहता है। अग्नि का स्वाभाविक गुण उसकी दाहक शक्ति है। यह गुण उसके परमाणुओ तक मे रहता है। इसलिये उसका यह निज धर्म उसे कभी नही छोडता। इस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। जल मे शीतलता विषयक ज्ञान स्वाभाविक है। फिर भी अग्नि के सयोग के कारण जल में उष्णता का धर्म उत्पन्न हो जाता है और वियोग होने से नही रहता है। इसलिये जल के उष्ण होने का ज्ञान नैमित्तिक है। इसी प्रकार जीव को—'मैं हू' अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक है। परन्तु नेत्रादि इन्द्रियो के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान नैमित्तिक है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणो से उत्पन्न होता है—देश, काल, और वस्तु। इन तीनो का जैसा २ सम्बन्ध होता है वैसे २ सस्कार आत्मा पर पडते हैं। जैसे २ ये निमित्त हटते जाते हैं वैसे २ इस नैमित्तिक ज्ञान मे कमी आती जाती है अर्थात् पूर्व जन्म देश, काल और शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नही रहता।

जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नही। परिमित सामर्थ्य वाला होने से उसके आत्मा मे अनेक जन्मों के सभी सस्कार नही रह सकते। अतएव पूर्वजन्म के अनुभवो के आवश्यक अश (जिनके विना जीवन यात्रा सम्भव नही) छोडकर शेष वही रह जाते हैं। फिर, 'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्याय १-१-१६) ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपद् क्रम से होता है अर्थात् एक समय मे आत्मा मे एक से अधिक ज्ञान स्फुरित नही हो सकते। इसलिये भी पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नही होता। मन का स्वभाव भी ऐसा होता है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय मे रागद्वेष उत्पन्न करता है। सानिध्य छूटने से उसे विस्मरण हो जाता है। फिर पूर्व जन्मावस्था मे यदि आत्मा को दूरगत पदार्थ विषयक विस्मरण होता है तो इसमे क्या आश्चर्य है? ॥२२॥

तो क्या किसी भी अवस्था मे पूर्व जन्म का ज्ञान नही हो सकता? इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजन्मज्ञानम् ॥२३॥

सस्कारो का साक्षात्कार होने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

जिससे स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख दु ख प्राप्त होते हैं उस वासना—विशेष तथा धर्माधर्मरुप अदृष्ट का नाम 'सस्कार' है अर्थात् स्मृति एव रागद्वेष की जनक चित्त मे रहने वाली वासना और सुखदुःखरुप भोग के जनक धर्माधर्मरुप प्रारब्ध कर्म—इन दोनो को सस्कार कहते हैं। जो योगी सयम के द्वारा उक्त दोनो प्रकार के सस्कारो को साक्षात् कर लेता है उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिन संस्कारो से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों मे स्मृति, इच्छा तथा द्वेष उत्पन्न

होता है उन्हे 'वामना' और जिनसे जन्म, आयु तथा भोग की प्राप्ति होती है उन्हे धर्माधर्म कहते हैं। यह दोनो प्रकार के सस्कार जिस जाति के होते हैं उसी के समान पदार्थों की स्मृति तथा प्राप्ति आदि के हेतु होते हैं। इसलिये सयम द्वारा उक्त सस्कारो का साक्षात्कार हो जाने से योगी को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। योगी होने के कारण ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यह वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परतप ॥—गीता ४-५

जीवात्मा अनादि होने के कारण तुम्हारे और मेरे दोनो के ही अनेक जन्म हो चुके हैं। अपने योग व सामर्थ्य से मैं उन्हे जानता हूं किन्तु तू नही जानता।

'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' (योग. १-२) चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। जब मनुष्य बाह्य विषयो से चित्त को हटा कर भीतर केन्द्रित करता है तो सस्कारों और सस्कार जन्य जन्मो का यथावत् स्मरण हो सकता है। किन्तु इस कार्य के लिये वाछनीय सयम और अभ्यास दीर्घकालतक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है। इसी को स्पष्ट करने के लिये योगदर्शन (१-२४) मे कहा गया—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि·'। यहा 'दीर्घकाल' से तात्पर्य जीवन पर्यन्त, 'नैरन्तर्य' से निरपवाद तथा 'सत्कार' से ब्रह्मचर्यानुष्ठान है—

मनुस्मृति (४-१४८, १४९) मे भी इसी सयम और एकाग्रता को पूर्वजन्म-स्मरण का साधक बताया है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्॥
पौर्विकीं सस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुन।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते॥

क्या योगी के अतिरिक्त किसी अन्य को भी पूर्वजन्म का स्मरण हो सकता है—इसका उत्तर देते हैं—

मुक्तात्मनश्च तथैव ॥२४॥

इसी प्रकार मुक्तात्माओ को भी।

जिसे धनञ्जय वायु का ज्ञान हो जाता है और जिसकी आत्मा उसमे सचार करती है तथा जिसके आत्मा से पूर्वजन्म के सस्कार निकल चुके हैं, जिसके आत्मा को स्थायी शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जिसे अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, और ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसे मुक्त पुरुषो को देश—काल—वस्तु परिच्छेद का युगपद् ज्ञान होता है। उन्हे युगपद् ज्ञान की बाधा नही होती।

मुक्त और बद्ध जीवो का अन्तर बताते हुए प्रशस्तपादाचार्य ने वैशेषिक दर्शन के भाष्य मे लिखा है—

"शरीरं द्विविध योनिजमयोनिजञ्च । योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादि-दु खप्रवन्धेन विलुप्तसस्कारो जन्मान्तरानुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति । ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीरविशिष्टा दृढसम्बन्धिनो दृढसस्कारा कल्पान्तरा मूतं सर्वमेव शब्दार्थव्यवहारं सुप्तप्रतिबुद्धवत्प्रतिसन्दधते ।"

योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का शरीर होता है । साधारण योनिज प्राणियो को गर्भवासादि का दु:ख सहन करना पडता है अतएव उनके लिए पुनर्जन्म और वर्तमान जन्म के मध्य वडा अन्तर पड जाने से सव कुछ स्मरण नही रहता । सृष्टि के आदि मे जो लोग उत्पन्न होते हैं वे अमैथुनी सृष्टि मे होते हैं । उन्हें गर्भवास का कष्ट नही सहना पडता । अतएव वे लोग अपने पूर्वजन्म के ज्ञान का स्मरण करने मे समर्थ हैं । उनकी अवस्था सोकर उठे मनुष्य के समान होती है जिसे सोने से पहले की वातें प्राय· स्मरण रहती हैं ।।२४।।

तो क्या मात्र स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध हो सकता है ?—

न तु स्मृत्यभावात्प्रतिषेधो वर्तमानजन्मन्यनुभूतस्यापि विस्मरणात् ।।२५।।

स्मृति न रहने मात्र से पूर्वजन्म का निषेध नही होता, वर्त्तमान जन्म की घटनाओ और व्यवहारो का विस्मरण हो जाने से ।

पूर्वजन्म मे हमारा आतमा जिन साधनो से सम्पन्न था उन निमित्त रूप साधनो के इस जन्म मे न होने से यदि पूर्वजन्म का स्मरण नही होता तो कुछ भी आश्चर्य का विषय नही है जवकि हम देखते हैं कि हमे वर्त्तमान जन्म मे देखे, सुने और अनुभव मे आये व्यवहारो और घटनाक्रम मे से भी वहुत कम का स्मरण है । इसी देह मे जव गर्भ मे जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा । फिर पाच वर्ष की आयु तक वहुत कुछ कहा, किया और भोगा । किन्तु कालान्तर मे वह सब भूल गया । आज कुछ भी स्मरण नही है । तो क्या इससे यह मान लिया जायेगा कि न वह कभी गर्भ मे था, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका वचपन रहा ? इसके वाद भी जो कुछ हुआ उसका वहुत थोडा अश हमारी स्मृति मे शेष है । फिर भी भूले हुए की वास्तविकता को नकारा नही जा सकता । हम यह भी देखते हैं कि जागृतावस्था मे जिन बातो का स्मरण होता है उनका निद्रा मे सर्वथा विस्मरण हो जाता है और आगे जागने के वाद भी उनमे से बहुतो का विस्मरण हो जाता है । फिर, दो जन्मो के बीच तो मृत्यु आ जाती है और मृत्यु होना महाव्यावृत अन्धकार मे गिरना है । वम्तुत विस्मृति के बिना स्मृति हो ही नही सकती । पुराने और अनावश्यक

को छोडते जाना तथा नये एव उपयोगी को ग्रहण करते जाना ही अच्छी स्मृति का लक्षण है। अत पूर्वजन्म की स्मृति न होने से उसके होने मे सन्देह नहीं किया जा सकता ॥२५॥

किन्तु पूर्वजन्म की स्मृति विल्कुल न रहती हो ऐसी वात नही है—

न हि स्मृतेरत्यन्ताभाव: ॥२६॥

निश्चय ही स्मृति का अत्यन्ताभाव नही होता।

इससे पूर्व सूत्र १०, ११, १२, १३ मे स्पष्ट किया जा चुका है कि वालक को पूर्वजन्म की स्मृति होने से ही वह पालने मे पड़ा-पडा हँसता, रोता, दुखी होता और भयभीत होकर चीख पडता है। धीरे-धीरे वह नये अनुभव प्राप्त करता जाता है। फिर भी पूर्वजन्म मे अनुभूत मरण भय को नहीं भूल पाता। ४-५ वर्ष की आयु का वालक जिसने इस जीवन मे अभी कुछ नही जाना वह जव धारा प्रवाह सस्कृत मे गीता के श्लोको या वेदमन्त्रो की झडी लगा देता है अथवा दूर तक एक भी फ्रेंच या अन्य किसी भाषा के जानने वाले के न होने पर भी विदेशी भाषा मे धाराप्रवाह भाषण देने लगता है तो यह पूर्वजन्म की स्मृति का प्रत्यक्ष प्रमाण नही तो और क्या है? आये दिन पत्र-पत्रिकाओ मे उन वालको की चर्चा होती है जो अपने पूर्वजन्म के विषय मे पूरी-पूरी जानकारी देते है और खोज करने पर वह सत्य प्रमाणित होती हैं। योगियो तथा मुक्तात्माओ द्वारा पूर्वजन्म के स्मरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अत: यदि पूर्वजन्म की स्मृति को ही पूर्वजन्म होने मे प्रमाण माना जाये तो वह भी सर्वथा सिद्ध है ॥२६॥

फिर एक शका उपस्थित होती है—

नात शुद्धिर्न्यायश्चेति स्मृत्यभावात् ॥२७॥

स्मृति के अभाव मे न न्याय होगा, और न सुधार।

ईश्वर पूर्वजन्म मे किये कर्मों के फलस्वरूप सुख-दु ख तो देता है किन्तु उन कर्मो से जीव को अवगत नही कराता। अपराधी को अपराध वताये विना और उसे स्पष्टीकरण का अवसर दिये विना दण्ड देना घोर अन्याय है। इसके अतिरिक्त दण्ड का उद्देश्य अपराधी को भविष्य मे वैसे अपराध से विरत करके उसका सुधार करना और सत्कर्मी को पुरस्कृत कर शुभ कर्मों मे अधिकाधिक प्रवृत्त करना होता है। किन्तु सम्वद्ध व्यक्ति को कर्मों का ज्ञान न होने से इस उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती। अत. स्मृति के अभाव मे कर्मफल देना न न्याय है, न उपयोगी ॥२७॥

अगले सूत्र मे इस शका का समाधान किया है—

नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनादभीष्टसिद्धिः ॥२८॥

नीच-ऊँच तथा सुख-दु ख को देखने से अभीष्ट की सिद्धि है ।

ससार मे कोई सुखी है तो कोई दु.खी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन । यह सब प्रत्यक्ष देखा जाता है । हम यह भी जानते हैं कि कारण के बिना कार्य नही होता । इस प्रकार सुख-दुखादि के रूप मे कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उनके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय हो जाता है । यह ठीक है कि जहाँ विद्वान् पुरुष कारण और कार्य दोनो का यथावत् निश्चय करने मे समर्थ होता है वहाँ सामान्य जन कार्य को ठीक-जानता हुआ भी उसके कारण का यथावत् निश्चय नही कर पाता । रोग से ग्रस्त होनें पर प्रत्येक रोगी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वह यह भी जानता है कि इस रोग का कारण कोई न कोई कुपथ्य है । कुपथ्यो का भी उसे पर्याप्त ज्ञान होता है । किन्तु किस कुपथ्य विशेष से कौन सा रोग होता है—वह इतना नही जानता । इसके विपरीत चिकित्सा शास्त्र मे निष्णात वैद्य रोगी के समान रोग रूपी कार्य का प्रत्यक्ष करने के साथ-साथ उसके कारण विशेप का भी यथावत् निश्चय कर लेता है । इसी प्रकार जगत मे व्याप्त सुख-दुख और विप-मता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं । क्या पाप है और क्या पुण्य तथा पाप का फल दु.ख और पुण्य का फल सुख होता है—यह भी सब जानते हैं । वह केवल इतना नही जानते कि किस कर्म विशेष का कौन सा फल होता है । तब सब प्रकार के दुष्कर्मो से दूर रह कर सत्कर्मों मे ही प्रवृत्त रहने से जीव का सुधार सहज सम्भव है । इसी प्रकार यह निश्चय होने से कि ईश्वर न्यायकारी है इसलिये वह अकारण किसी को सुखी दु खी नही बना सकता, उसकी न्याय व्यवस्था मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता । सर्वज्ञ होने के कारण उसे अपराधी से स्पष्टीकरण की भी अपेक्षा नही होती । वह जीव के विषय मे—उसकी अन्त स्थिति, परिस्थिति, अल्पज्ञता तथा अल्पशक्ति आदि के विषय मे इतना जानता है जितना जीव स्वय नही जानता । इस प्रकार ईश्वर की न्याय-बुद्धि मे आस्था रखने और कार्य-कारण भाव को जानने से पूर्वजन्म के कर्मों को ठीक-ठीक न जानने पर भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है ॥२८॥

पूर्वजन्म की स्मृति न रहने मे ही जीव का कल्याण है—इसका प्रदिपादन करते हैं—

आत्महितार्थं विस्मरणम् ॥२९॥

भूल जाने मे जीव का हित है ।

पूर्वजन्मो का स्मरण न रहने से ही जीव सुखी है । परमकारुणिक परमात्मा की यह असीम कृपा है कि हमे पूर्वजन्म के घटनाक्रम का स्मरण नही होता ।

अन्यथा जीव पूर्व जन्मो की याद कर करके मर जाता। दुःखद योनियो एव घटनाओ को स्मरण करके अपने वर्तमान जीवन मे विष घोल लेता और अच्छे दिनो की याद कर करके सदा रोया करता। वस्तुत यदि साधारण मनुष्य को अपने पूर्वजन्मो की स्मृति बनी रहती तो पुनर्जन्म का उद्देश्य ही पूरा न हो पाता। उसका हित इसी मे है कि वह अतीत को भूलकर अपने को नई परिस्थितियो के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करे। जब कोई मरता है तो इस जन्म का सार अपने साथ ले जाता है और अनावश्यक अश यहाँ छोड जाता है। इस सार को ही सस्कार कहते है। यही सस्कार अगले जन्म मे आत्मा के साथ जाते हैं। आत्मा पर पडे नाना प्रकार के इन सस्कारो के सहारे ही वह अपने भावी जीवन का निर्माण करता है। जन्मजन्मान्तर की यदि सारी बाते याद रह जाये तो उनके बोझ को ढोते फिरना आत्मा के लिये दुःसाध्य हो जाये। यदि सब कुछ याद रह जाये तो पूर्वजन्मो के शत्रुओ से बदला लेने के घात प्रतिघात मे लगा रहे। पुरानी समृद्धि को ललचाई आखो ने देख देखकर ईर्ष्यालु हो हडपने की चेष्टा किया करे। बेटे पोतो के मोह में उनसे लिपट-लिपटकर रोता रहे। निश्चय ही अधिकाश लोगो का जीवन दुःखमय हो जाये। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधनोपायो मे न लग कर दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ गँवा बैठे। अतएव पुरानी बातो को स्वत भूल जानेकी व्यवस्था करके परमेश्वर ने जीवो का कल्याण ही किया है ॥२९॥

अब कर्मफलोपभोग के लिये जन्मजन्मान्तर की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं—

अनेकं कर्मैकजन्मकारणम् ॥३०॥

अनेक कर्म एक जन्म का निष्पादन करते हैं।

कर्मों के उपभोग के विषय मे चार कल्पनायें सम्भव हैं—

१—एक कर्म एक ही जन्म का कारण होता है।

२—एक कर्म अनेक जन्मो का सपादन करता है।

३—अनेक कर्म अनेक जन्मो का कारण बनते हैं।

४—अनेक कर्म एक ही जन्म का निष्पादन करते हैं।

एक कर्म एक ही जन्म का कारण नही हो सकता, क्योकि अनादिकाल से सचित, असख्य अवशिष्ट कर्मों तथा वर्त्तमान कर्मो के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने मे कर्माचरण मे कोई आश्वासन नही रहता। एक-एक कर्म के लिये एक-एक जन्म होगा तो अनन्त कर्मो के भोग का पर्याय कैसे आयेगा ?

एक कर्माशय अनेक जन्मो का कारण भी नहीं हो सकता, क्योकि अनेक कर्मो मे से यदि एक-एक कर्म ही अनेक जन्मो का निष्पादक हो जाये तो अवशिष्ट कर्मो के लिए फलदान का समय ही न रहेगा।

अनेक कर्म, अनेक जन्मो का सम्पादन भी नही कर सकते, क्योकि अनेक जन्म एक साथ तो हो ही नही सकते। यदि क्रम से होना माना जाये तो पूर्वोक्त दोष आता है।

अत अनेक कर्म मिल कर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं। जिन कर्माशयो से एक जन्म होता है वही जन्म उनसे आयु पाता है और आयुष्काल मे उन्ही से सुख-दु ख का उपभोग करता है। इस प्रकार जाति, आयु और भोग के रूप मे कर्माशय त्रिविपाक है ॥३०॥

पुनर्जन्म के रूप मे प्राप्त होने वाली योनियो का वर्गीकरण करते है—

कर्मभोगोभययोनिभेदात्त्रिधा व्यवस्था ॥३१॥

कर्म, भोग तथा उभय योनि के भेद से तीन प्रकार की व्यवस्था है।

योनिया तीन प्रकार की है। एक कर्मयोनि-जिसमे जीव के पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मो का विपाक नही होता। वह केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं। दूसरी भोगयोनि–इसमे जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है। तीसरी उभययोनि–इसमे जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ-भविष्य के लिये कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि मे भी कुछ न कुछ अवश्य करता है क्योकि विना कर्म के तो भोग भी सम्पन्न नही होता। किन्तु विधि निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि मे किये गये कर्मों से फलोत्पादक अन्य सस्कार या वासना उत्पन्न नही होते। इसलिये ऐसे कर्मों का कोई महत्त्व नही है। इसी प्रकार कर्मदेह मे भी भोग होता है, क्योकि देह रक्षा के लिए उपयुक्त खान-पान, वस्त्रादि की व्यवस्था तो करनी ही पडती है। किन्तु यह भोग कर्म विपाक के रूप मे नही होता। अत जो देह मुख्य रूप से जिसलिये मिलता है उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहाँ ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, सस्कार आदि को जन्म देने के कारण आये भोग को प्रस्तुत करते हैं वह उभय योनि कहलाती है ॥३१॥

कर्मयोनिर्मुक्तात्मनाम् ॥३२॥

मुक्तात्मा को (मुक्ति से लौटने पर) कर्मयोनि मिलती है।

कर्म शेष न होने से मुक्तात्मायें सृष्टि के आदि मे प्रकट होने वाले वेद-प्रवक्ता ऋषियो तथा अन्य देव पुरुषो के रूप मे कर्मयोनि मे जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हे गर्भवासादि का दु ख भी नही सहना पडता ॥३२॥

भोगयोनि· पश्वादीनाम् ॥३३॥

पशु आदि भोगयोनि हैं ।

पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं । जीवनयापन के लिये उन्हे भी कुछ न कुछ करना पडता है । परन्तु उसके ये कर्म मात्र नैर्सगिक क्रियाये है । उनका विपाक नही होता ॥३३॥

उभययोनिस्तु मानवानाम् ॥३४॥

किन्तु मनुष्य उभययोनि है ।

एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमे रहता हुआ जीव अभ्युदय और नि श्रे-यस दोनो की सिद्धि कर सकता है । इसीलिये अन्य योनियो में पाप-पुण्य के फल भोग कर वार-वार इस योनि मे आता है । इसी योनि मे सचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण तीनो प्रकार के कर्मो का निष्पादन सभव है । इसी मे 'भोगाप-वर्गार्थं दृश्यम्' सार्थक होता है । मोक्ष प्राप्ति मे साधन रूप होने मे इसे सर्वो-त्कृष्ट योनि माना गया है । पाप-पुण्य केवल मनुष्य जन्म मे ही सम्भव है ॥३४॥

एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर मे डालने की व्यवस्था कौन करता है—अगले सूत्र मे इसका प्रतिपादन किया है—

असुनेता परमेश्वर ॥३५॥

प्राणो को (एक से दूसरे शरीर मे) ले जाने वाला परमेश्वर है ।

जड़ होने से कर्म स्वय फल नहीं दे सकते । जीव अपनी इच्छा से श्रेष्ठ योनियों मे तो चला जायेगा किन्तु निकृष्ट योनियो मे जाना कभी नहीं चाहेगा । वहा उसे वलात् धकेलना होगा । अल्पज्ञ होने के कारण वह ठीक-ठीक निश्चय भी नहीं कर पायेगा । अत उसे एक शरीर से छुडा कर दूसरे में भेजना ईश्वरीय व्यवस्था मे ही सम्भव है । इस विषय मे श्रुति के अनेक वचन प्रमाण हैं । उदाहरणार्थ—

> असुनीते मन्नो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयु ।
> रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
> असुनीते पुनरस्मासु चक्षु· पुन प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
> ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया न स्वस्ति ॥

ऋग्वेद १०-५९-५,६

यहाँ पुनर्जन्म के प्रसग मे 'असुनीते' (प्राणो को ले जाने वाला) नाम से पुकार कर उत्तम जन्म और भोगादि के साधन प्रदान करने की प्रार्थना की गई है ॥३५॥

पञ्चम अध्याय

मुक्ति

न निष्प्रयोजनं प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनम् ॥१॥

विचारशील मनुष्यो की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नही होती ।

किसी न किसी प्रकार की इच्छा से प्रेरित होकर उसकी पूर्त्यर्थ मनुष्य की समस्त क्रियायें होती हैं । ऐसा करके जिस लक्ष्य की प्राप्ति उसे अभीष्ट है वही उसकी समस्त प्रवृत्तियो के मूल मे प्रयोजक तत्व के रूप मे वर्तमान रहता है ॥१॥

मनुष्य के पुरुषार्थ के उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

दु खात्यन्तनिवृत्ति मोक्षसुखञ्च प्रयोजनम् ॥२॥

दु.ख से पूरी तरह छुटकारा और मोक्ष की प्राप्ति प्रयोजन है ।

मोक्ष का अर्थ केवल दु खो से छूट जाना नही अपितु दु खो से छूट कर सुख की प्राप्ति होना है । दुःखो का कारण शरीर है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जितने दु ख हैं, सब शरीर के कारण होते हैं । यदि केवल दुःखो से छुटकारा ही मोक्ष माना जाये तो 'कारणाभावात्कार्याभाव' शरीर के छूट जाने को मोक्ष समझ लेना चाहिए । गाढ निद्रा मे दु खो की अनुभूति नही रहती किन्तु वस्तुत सुषुप्ति मे दु खो का मात्र तिरोभाव होता है, अत्यन्ताभाव नही । उस अवस्था मे न दु खो का भान होता है, न सुखो का । किन्तु मोक्ष दु ख के अभाव का ही नही, सुख के भाव का नाम है । पर दु खो की अत्यन्त निवृत्ति के विना आनन्द की प्राप्ति सभव नही । अत मोक्ष का सच्चा स्वरूप दु खो की निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति है ।

इस प्रकार जहा शरीर दु.खो का कारण है, वहा सुख और उस आनन्द की प्राप्ति का साधन भी है । मानव शरीर प्राप्त होने पर ही उन साधनो का अनुष्ठान करने मे समर्थ हो पाता है, जिनके फलस्वरूप आनन्द प्राप्ति सभव है ।

सासारिक साधनो से भी दु खो से छुटकारा मिलता है । किन्तु वह अधिक काल के लिये नही होता । न उसमे नैरन्तर्य की स्थिति आपाती है, क्योकि—

> 'एकस्य दु-खस्य न यावदन्त गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
> तावद् द्वितीय समुपस्थित मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' ॥

अर्थात् जितने समय के लिये कोई कष्ट दूर होता है उसके अन्तराल मे दूसरा कष्ट आ उपस्थित होता है । अत मोक्ष की अवस्था वह मानी जायेगी

जिसमे तीनो प्रकार के दु:खो की अधिकाधिक समय के लिये निवृत्ति हो और उसमे नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे ॥२॥

जीवात्मा स्वभाव से बद्ध है या मुक्त? अगले दो सूत्रो मे इसका विवेचन करते हैं—

निमित्तजन्यौ हि बन्धमोक्षौ ॥३॥

बन्धन और मोक्ष निमित्त से होते हैं।

कोई जीवात्मा जन्म–मरण के चक्र मे कब से आया? क्या अनादि काल से? यदि ऐसा है तो वह अनन्त काल तक इसमे फसा रहेगा। तब मोक्ष सभव न होगा। क्या इस चक्र मे पडने से पहले जीव मुक्त था? यदि भविष्य में मुक्ति सभव है तो अतीत मे भी कभी न कभी अवश्य मुक्त रहा होगा। निश्चय ही दो बार मोक्ष के अन्तराल मे जन्म–मरण का चक्र और दो जन्म–मरण के चक्रो के अन्तराल मे मोक्ष की अवस्था माननी होगी। इस प्रकार बन्धन और मोक्ष का भी एक विराट् चक्र स्वीकार करना होगा। जीवात्मा स्वतः शुद्ध है। किन्तु वह अल्पज्ञ तथा कर्म करने मे स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन मे पड जाता हैं और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। साधनो से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नही हो सकता। जैसे धूल मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता और जल से धोने पर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह मिथ्यात्वादि हेतुओ से रागद्वेषादि के कारण जीव बन्धन मे पडता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है ॥३॥

यदि निमित्त से न मानकर जीव को स्वभाव से बद्ध और मुक्त माना जाये तो क्या आपत्ति हैं? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाभाविकत्वे निवृत्त्यसम्भवः स्वभावस्यानपायित्वात् ॥४॥

स्वाभाविक होने पर निवृत्ति नही होगी, स्वभाव के अविनाशी होने से। वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है। स्वभाव के न रहने पर वस्तु का अस्तित्व ही नही रहता। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता न रहने पर व्यवहार मे उसका अस्तित्व ही मिट जायेगा। अत स्वभाव हटाया नही जा सकता। यदि जीव स्वभाव से बद्ध माना जायेगा तो कभी मुक्त नही हो सकेगा और यदि मुक्त माना जायेगा तो कभी बद्ध नही होगा। मुक्ति के पूर्व बन्धन होना आवश्यक है, क्योंकि यदि कोई बन्धा हुआ नही है तो छूटेगा कैसे? इसी प्रकार बन्धन में आने से पूर्व मुक्ति आवश्यक है, क्योंकि जो मुक्त नही उसके बांधने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार मुक्ति और बन्धन दोनो शब्दो के प्रयोग से स्पष्ट

है कि जीव स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त ॥४॥

यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जायेगा तो उसके लिये मोक्ष पाने के निमित्त कुछ भी करना आवश्यक न होगा। क्योकि—

न स्वभावतो बद्धस्योपदेशविधिरशक्यत्वान्मोक्षस्य ॥५॥

स्वभाव से बद्ध आत्मा को उपदेश देना सगत नही, मोक्ष के सम्भव न होने से।

असम्भव कार्य के लिए किसी को कहना अथवा उसके सम्पादन के निमित्त प्रयास करना व्यर्थ है। गुण, गुणी के आश्रित रहने से स्वाभाविक गुण का तब तक नाश नही हो सकता जब तक गुणी विद्यमान है। जीवात्मा नित्य है। अत यदि बन्धन उसका स्वाभाविक गुण होगा तो सदा उसके साथ रहेगा। जो सदा साथ रहने वाला है उसे हटाने के लिए विधि-निषेध का निर्देश करना व्यर्थ है। प्रयत्नपूर्वक भी असम्भव को सम्भव नही बनाया जा सकता।

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावत ।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ॥

यदि आत्मा स्वभाव से मैला, गदला तथा विकारयुक्त है तो जन्मजन्मान्तर तक प्रयत्न करने पर भी उसकी मुक्ति नही होगी।

अशक्य के लिए उपदेश करना व्यर्थ है, क्योकि उसके अनुसार अनुष्ठान करना निष्फल होगा। किन्तु अनादिकाल से मनुष्य मे मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, तदर्थ प्रयत्न, आप्त पुरुषो तथा शास्त्रो का उपदेश आदि सर्वत्र दिखाई पडते है। इन सबके होते हुए जीवात्मा को स्वभाव से बद्ध नही माना जा सकता ॥५॥

कामाच्च न स्वभावतो मुक्तः ॥६॥

और कामना होने से जीव स्वभाव से मुक्त नही।

जीव मे मुक्त होने की इच्छा रहती है। कामना सदा अप्राप्त वस्तु की होती है। यदि जीवात्मा स्वभाव से मुक्त अथवा आनन्दस्वरूप हो तो उसे आनन्द की कामना क्यो हो? 'दुःखादुद्विजते लोक सर्वस्य सुखमीप्सितम्'–प्राणिमात्र मे दु'ख से छूटने तथा आनन्द को पाने की इच्छा है और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार उसके लिये वह प्रयत्नशील है। फलत जीवात्मा मे आनन्द प्राप्ति की कामना होने और तदर्थ प्रयत्न करने से स्पष्ट है–कि वह स्वभाव से आनन्दमय अथवा मुक्त नही है ॥६॥

अब दु ख का स्वरूप कथन करते हैं—

बाधनालक्षणं दु खम् ॥७॥

दु ख बाधनास्वरूप है।

स्वतन्त्रता का न होना दु ख कहाता है अर्थात् जिस वस्तु की इच्छा हो

उनमे व्याघात होने पर दु ख की अनुभूति होती है। 'अनुकूलवेदनीय सुखम्, प्रतिकूलवेदनीय दु खम्'–प्रतिकूल अनुभूति का होना दु ख है। वाधना, पीडा, ताप, दु ख आदि शब्द इसी अर्थ को कहते हैं। इसी का मानो भाष्य करते हुए मनुस्मृति मे कहा गया—

सर्वं परवश दु.खं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदु:खयो: ॥

परवशता मे ही दु ख का अनुभव होता है। प्रकृति के साथ सम्वन्ध आत्मा को वन्धन मे इसीलिये डालता है कि उसके सयोग से वाधाओ मे वृद्धि होती है ॥७॥

दु ख के स्वरूप कथन के अनन्तर मोक्ष अथवा अपवर्ग का स्वरूप कहते हैं—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: ॥८॥

उस दु ख से पूर्णत: छूट जाना अपवर्ग है।

जिस अवस्था मे दु खो का सर्वथा अन्त हो जाता है वही अपवर्ग है। ससार मे रहते हुए भी अनेक रूपो और अवस्थाओ मे सुख का अनुभव होता है। किन्तु उसमे कही न कही दु ख का सयोग रहता है। देहादि से सम्बद्ध होने से सासारिक सुख मे स्थायित्व एव नैरन्तर्य भी नही होता। मोक्षावस्था मे जन्म-मरण का क्रम अवमित हो जाने पर भौतिक संसर्ग से प्राप्त होने वाले, क्षुधा-तृषा, आधि-व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि के भय से सर्वथा मुक्त (अत्यन्त विमोक्ष) हो जाना ही अपवर्ग है।

अव दु ख के मूल कारण तथा उससे छूटने के उपाय वताते हैं—

दु खजन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्ग: ॥९॥

दु ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोप और मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर नष्ट होजाने से उनके अनन्तर के–अव्यवहित पूर्व के नाश होजाने से अपवर्ग होता है।

यहाँ निर्दिष्ट पाच पदार्थों मे उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दु ख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोप और दोपो का कारण मिथ्या ज्ञान है। कारण का नाश हो जाने पर कार्य का स्वत नाश हो जाता है। अत विपरीत क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या ज्ञान के नाश मे दोपो का नाश, दोपो के नाश मे प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दु खो का नाश हो जाता है। जव मिथ्या ज्ञान के नाश मे रागद्वेपादि दोपो का नाश हो जाता है तो दोपो के नाश से प्रवृत्ति का नाश हो जाता है। प्रवृत्ति न होने पर मनसा–वाचा-कर्मणा होने वाले शुभाशुभ कार्य वन्द हो जाते हैं। कर्मों के न होने पर प्रारब्ध का वनना वन्द हो जाता

है। प्रारव्ध कर्मों के अभाव मे उनका फल भोगने के लिये होने वाले जन्म की आवश्यक्ता नही रहती। आत्मा को दु खादि का अनुभव देहादि के सम्बन्ध से होता है। अत जन्म न होने पर देहादि के अभाव मे दु खो का अत्यन्ताभाव निश्चित है।

मिथ्याज्ञान से दु खपर्यन्त परिस्थितियो के निरन्तर चलते रहने का नाम समार है और ससार, वन्धन का अपर नाम है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोषादि क्रमश स्वत समाप्त हो जाते हैं। इस क्रम मे दु ख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग या नि श्रेयस है। 'अज्ञान', 'अविद्या', 'विपर्यय', 'अविवेक' 'प्रकृतियोग' आदि 'मिथ्याज्ञान' के पर्याय हैं। इसी के नाश मे नि श्रेयस निहित है ॥९॥

सब दु खो के मूल कारण 'मिथ्याज्ञान' के नाश का उपाय वताते हैं। जैसे प्रकाश हो जाने पर अन्धकार का स्वत नाश हो जाता है वैसे तत्त्व ज्ञान हो जाने पर मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निवृत्ति· ॥१०॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ तत्त्वज्ञान से (मिथ्याज्ञान की) निवृत्ति होती है।

मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिये यथार्थज्ञान अनिवार्य है। द्रव्यादि पदार्थों के यथार्थस्वरूप को समझने के लिये उनके साधर्म्य और वैधर्म्य अर्थात् उनकी समान और असमान विशेषताओ को जान लेना आवश्यक है। इसी ज्ञान पर द्रव्यादि पदार्थों का यथार्थज्ञान आधारित है। इन पदार्थों मे कौन सी विशेषता किनमे समान रूप से पाई जाती है तथा किनमे इनका वैपरीत्य रहता है, इसको वास्तविकता के साथ जान लेना द्रव्यादि विषयक तत्त्वज्ञान है ॥१०॥

द्रव्यादि पदार्थों की क्रमश व्याख्या करते हैं। सर्वप्रथम द्रव्य का लक्षण—

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥११॥

क्रिया और गुणो का आश्रय तथा समवायिकारण (उपादान कारण) होना द्रव्य का लक्षण है।

'क्रियाश्चगुणाश्च विद्यन्ते यस्मिस्तत् क्रियागुणवत्'—जिसमे क्रिया व गुण या केवल गुण रहें अर्थात् जो कर्मो और गुणो का अधिकरण हो वह द्रव्य है। पृथिवी आदि द्रव्यो मे ही किसी क्रिया का होना सम्भव है। किसी जगह क्रिया का होना उसके द्रव्य होने का चिन्ह है। अत जहाँ-जहाँ क्रिया है वहाँ-वहाँ द्रव्य है। किन्तु कुछ द्रव्य–विभु द्रव्य–ऐसे भी हैं जहा क्रिया नही होती। अतः 'गुणवत्'–गुणो का अधिकरण या आश्रय होना भी द्रव्य का लक्षण है। प्रत्येक

गुण किसी न किसी द्रव्य मे रहता है। अत जहां कोई गुण देखा जाये वहा गुण का जो आश्रय पदार्थ होगा वह द्रव्य होगा।

उत्पन्न द्रव्य प्रथम क्षण मे क्रिया-गुण से रहित होता है। क्योकि कारण के बिना कार्य सम्भव नही। इसलिये क्रिया और गुण के कारण द्रव्य का क्रिया और गुण की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान होना आवश्यक है। किसी भी कार्य का समवायि कारण द्रव्य होता है। उपादान को समवायि कारण कहते हैं, क्योकि उपादान कारण के अतिरिक्त और किसी कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध नही होता। फलत. द्रव्य मे क्रिया व गुण के न होने पर भी क्रिया व गुण की समवायिकारणता का विद्यमान होना अनिवार्य है। "समवेतु शील यस्य तत्सम-वायि, प्राग्वृत्तित्व कारण समवायि, तत्कारण च समवायिकारणम्,'—मिलने के स्वभावयुक्त जो कारण कार्य से पूर्वकालस्थ हो वह समवायिकारण द्रव्य कहाता है। इस प्रकार 'क्रियावत्, गुणवत्, समवायिकारणम्' इन तीनो पदो से द्रव्य का लक्षण पूर्ण हो जाता है। क्योकि 'क्रियावत्त्व', 'गुणवत्त्व' तथा 'समवायि-कारणत्व' धर्म अन्य पदार्थों मे नहीं रहते, अतः उनसे द्रव्यो का वैधर्म्य है और परस्पर सब द्रव्यो का साधर्म्य है ॥११॥

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥१२॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) और मन ये नौ द्रव्य है।

सत्यावाचक पद न होने पर भी प्रत्येक द्रव्य का नामोच्चारणपूर्वक पृथक्-पृथक् उल्लेख किये जाने तथा अन्त मे 'इति' पद होने से स्पष्ट है कि द्रव्य इतने अर्थात् नौ ही हैं, न्यूनाधिक नही ॥१२॥

अब गुण का लक्षण करते हैं—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१३॥

द्रव्य के आश्रय रहने वाला किन्तु स्वय किसी गुण का आश्रय न होने वाला, सयोग और वियोग मे कारण न बनने वाला और अन्य किसी की अपेक्षा न रखने वाला 'गुण' कहलाता है।

जो पदार्थ समवायसम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण होता है। केवल 'द्रव्या-श्रयी गुण का लक्षण अतिव्याप्ति दोप से दूषित है, क्योकि समस्त कार्यद्रव्य सम-वायसम्बन्ध से अपने कारणद्रव्यो मे आश्रित रहते हैं। इस दोप को दूर करने के लिए कहा गया है कि जिन पदार्थ मे समवाय सम्बन्ध से गुण न रहते हो, वह गुण है। किन्तु कर्म द्रव्याश्रित है और गुणवान् भी, अत अतिव्याप्ति दोप

फिर वना रहा। इस दोष को दूर करने के लिये कहा गया है कि वह 'सयोग-विभागेष्वकारणम्' द्रव्याश्रय और अगुणवान् होने के साथ २ सयोग और विभाग की उत्पत्ति मे कारण न हो। किन्तु ऐसा कहने पर अव्याप्ति दोष आगया, क्योकि सयोग और विभाग, सयोग और विभाग के कारण होने से गुण की सीमा मे न रहे, यद्यपि ये गुण माने गये है। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये 'अनपेक्ष' पद और जोडा गया। सयोग और विभाग मे जो अन्य की अपेक्षा न रखता हुआ कारण न हो वह गुण है। इस प्रकार गुण का लक्षण हुआ—जो द्रव्याश्रित, अगुणवान् होते हुए सयोग विभागो की उत्पत्ति मे अनपेक्ष अकारण हो वह गुण है ॥१३॥

गन्धरसरुपस्पर्शा संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे द्रवत्वगुरुत्वस्नेहबुद्धयः सुखदुःखे इच्छा द्वेषौ प्रयत्नधर्माधर्मसस्कारशब्दाश्चेति चतुर्विशति गुणाः ॥१४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सस्कार और शब्द—ये चौवीस गुण हैं। ये सभी गुण समवाय सम्बन्ध से किसी न किसी द्रव्य के आश्रित हैं। किस द्रव्य मे कितने गुण है—यह निम्न श्लोक मे निवद्ध है—

वायोर्नवैकादशतेजसो गुणा, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयो पञ्च षडेव चाम्वरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥

वायु के नौ, अग्नि के ग्यारह, जल, पृथ्वी और जीवात्मा प्रत्येक के चौदह, दिशा और काल के पाच पाच, आकाश के छह, परमात्मा और मन के आठ-आठ गुण माने गये हैं। किस द्रव्य मे कौन २ से गुण हैं, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

वायु, ९—स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवा वेग नामक सस्कार।

तेज, ११—रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दश और ग्यारहवा वेग नामक सस्कार।

जल, १४—रस से स्नेह तक तेरह और चौदहवा सस्कार (वेग, स्थिति-स्थापक)।

पृथ्वी, १४—गन्ध से गुरुत्व तक तेरह और चौदहवा सस्कार (वेग, स्थिति-स्थापक)।

जीवात्मा, १४—सख्या से विभाग तक पाच व बुद्धि से सस्कार (भावना) तक नौ।

दिशा, ५—सख्या से विभाग तक।

काल, ५—सख्या से विभाग तक।

आकाश, ६–सख्या से विभाग तक पाच और छटा शब्द ।

महेश्वर, ८–सख्या से विभाग तक पाच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ।

मन, ८–सख्या से अपरत्व तक सात और आठवा सस्कार (वेग) ।

कौन सा गुण किस २ द्रव्य मे रहता है, गुणो के क्रम से यह निम्न प्रकार समझना चाहिये—

गन्ध–केवल पृथ्वी मे ।

रस–पृथ्वी और जल मे ।

रुप–पृथ्वी, जल और तेज मे ।

स्पर्श–पृथ्वी, जल, तेज और वायु मे ।

सख्या से विभाग तक–सब द्रव्यो मे ।

परत्व–अपरत्व–विभु द्रव्यो को छोड कर शेष सबमे ।

द्रवत्व–जल मे (सासिद्धिक) पृथ्वी, तेज मे (नैमित्तिक) ।

गुरुत्व–पृथ्वी और जल मे ।

स्नेह–केवल जल मे ।

बुद्धि से सस्कार–जीवात्मा मे ।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न–जीवात्मा और परमात्मा मे ।

वेग संस्कार–विभु द्रव्यो को छोडकर शेष सबमे ।

स्थितिस्थापक सन्कार–जल और पृथ्वी मे ।

शब्द–आकाश मे ।

अब क्रमागत कर्म का लक्षण करते हैं—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ।।१५।।

एक द्रव्य मे आश्रित रहना, गुण का अनाश्रय होना, सयोग और विभाग की उत्पत्ति मे अन्य की अपेक्षा न रखते हुए कारण होना–यह कर्म का लक्षण है ।

कर्म कभी अनेकाश्रित नही होता, क्योकि कोई क्रिया उसी काल अनेक द्रव्यो मे नही हो सकती । कर्म कभी गुण का आश्रय नहीं होता । द्रव्य के आश्रित होना और गुणो का आश्रय न होना गुण–कर्म दोनो का साधर्म्य है । किन्तु सयोग विभाग की उत्पत्ति मे गुण का सापेक्ष और कर्म का निरपेक्ष कारण होना वैधर्म्य है । कर्म के ये लक्षण कर्मों के साधर्म्य तथा कर्मातिरिक्त सभी पदार्थों के वैधर्म्य हैं । द्रव्यो और गुणो मे कुछ नित्य हैं, कुछ अनित्य । परन्तु कर्म कभी नित्य नहीं होता । प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती और अपना कार्य सम्पन्न कर नष्ट होती रहती है ।।१५।।

अब कर्म के विभाग का निर्देश करते हैं—

इच्छापूर्वकमुत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चन प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥१६॥

ऊपर की ओर उठाना या फेकना, नीचे को गिराना, सिकोडना, फैलाना और गमन करना—ये पाच प्रकार के कर्म हैं।

इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा वस्तु मे ऊपर की ओर होने वाली क्रिया 'उत्क्षेपण' है—जैसे मूसल या लाठी उठाना, गेंद फेंकना, बाण चलाना आदि।

इच्छा के साथ प्रयत्न पूर्वक किसी वस्तु को नीचे की ओर लाने की क्रिया 'अवक्षेपण' है। जैसे ऊपर उठे हुए हाथ को या ऊपर उठाये हुए मूसल को नीचे की ओर लाना। ऊपर की ओर फेंकी गयी गेंद का नीचे गिर पडना न अवक्षेपण है और न कर्म। यह सामान्य क्रिया है क्योकि उसमे इच्छापूर्वक किये गये प्रयत्न का अभाव है। किसी वस्तु के प्रसार को थोडे प्रदेश मे सीमित कर देने वाली क्रिया 'आकुञ्चन' और उसको विस्तृत प्रदेश मे फैलाने की क्रिया का नाम 'प्रसारण' है। निष्क्रमण, प्रवेशन, भ्रमण, रेचन, स्पन्दन आदि शेष सभी क्रियाओ का समावेश 'गमन' मे हो जाता है ॥१६॥

अब द्रव्य, गुण और कर्म के साधर्म्य का निरुपण करते है—

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१७॥

द्रव्य, गुण और कर्मों का समवायि कारण द्रव्य है, यह इन सबका साधर्म्य है।

जैसे एक माता के अनेक पुत्र होते हैं वैसे ही एक उपादान कारण द्रव्य में कार्य, गुण, और कर्म रहते है। द्रव्य से उत्पन्न होना इन तीनो मे समान है। जिस मिट्टी से घडा बनता है उसी मे क्रिया और गन्ध गुण भी रहते है। इसी प्रकार जिस अग्नि से दीपक उत्पन्न होता है उसी मे रुप गुण भी रहता है और ऊपर चलना कर्म भी। इस प्रकार किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है ॥१७॥

सामान्य-विशेष का लक्षण करते हैं—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥१८॥

सामान्य और विशेप बुद्धि की अपेक्षा से है।

सामान्य को दार्शनिक भाषा मे 'जाति' कहते हैं। सामान्य का आधार क्षेत्र विस्तृत होता है। वही जब सीमित हो जाता है तो 'विशेष' कहाता है। जो बहुतो से सम्बन्ध रक्खे अर्थात् जो धर्म बहुत देश वा व्यक्तियो से सम्बन्ध रक्खे वह सामान्य कहाता है और जो धर्म थोडे देश वा व्यक्तियो मे रहे वह विशेष कहाता है। अब यह थोडा बहुत बुद्धि से जाना जाता है। एक ही पदार्थ एक की अपेक्षा से सामान्य है तो दूसरे की अपेक्षा से विशेप है। प्राणी मात्र की अपेक्षा से मनुष्यत्व, विशेष है, क्योकि मनुष्यत्व की अपेक्षा प्राणित्व अधिक मे

पाया जाता है। परन्तु ब्राह्मणत्व की अपेक्षा से मनुष्यत्व सामान्य है, क्योंकि ब्राह्मणत्व की अपेक्षा मनुष्यत्व का आधार क्षेत्र अधिक व्यापक है। पुन. गौड ब्राह्मण विशेष है, सामान्य ब्राह्मण की अपेक्षा से, क्योंकि गौड ब्राह्मणों की तुलना मे ब्राह्मण अधिक हैं। परन्तु जो सबके लिये प्रयुक्त होता है वह सदा सामान्य रहता है, क्योंकि अन्य किसी का आधार क्षेत्र उससे अधिक विस्तृत नही होता। जैसे सत्ता सामान्य धर्म प्रत्येक वस्तु मे रहने से विशेष कभी नही हो सकता। कोई सर्वव्यापक वस्तु कभी विशेष नही हो सकती, वह सदा सामान्य रहेगी। सर्वव्यापक पदार्थों को छोडकर शेष सब पदार्थो मे सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से निश्चित किया जाता है ॥१८॥

पदार्थों मे छटे 'समवाय' का लक्षण करते हैं—

इहेदमिति यत कार्यकारणयो स समवाय. ॥१९॥

इस (आधार) मे यह (आधेय) है, इस प्रकार (का व्यवहार) जिस सम्बन्ध से कार्य और कारण मे (परस्पर होता है) वह समवाय (सम्बन्ध) है।

जब दो वस्तुओं मे एक, दूसरी मे आश्रित या आधारित पाई जाये—उनमे से एक-दूसरे के बिना नही रह सके तो उनका सम्बन्ध समवाय कहाता है। द्रव्य मे क्रिया, गुणी मे गुण, व्यक्ति मे जाति, अवयवो मे अवयवी, कारणो मे कार्य अर्थात् क्रिया—क्रियावान्, गुण-गुणी, व्यक्ति-जाति, अवयव-अवयवी, कार्य-कारण—इनका नित्य सम्बन्ध होने से 'समवाय' कहाता है।

इस प्रकार पृथिवी से परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। मिथ्याज्ञान का नाश हो जाने पर जब आत्मा प्रारब्ध कर्मों का फल पूरा हो जाने से चालू देह को छोड देता है तब उस तत्त्वज्ञ आत्मा के लिए अन्य देह का प्रादुर्भाव न होने से वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। मुक्त होने पर जीवात्मा का सम्बन्ध प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों से छूटकर ब्रह्म से जुड जाता है ॥१९॥

मोक्षावस्था मे आत्मा की क्या स्थिति होती है, इस विषय मे कहते हैं—

तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२०॥

उस अवस्था मे जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप मे ठहरता है।

सूत्रान्तर्गत 'द्रष्टु' पद परमात्मा का वाचक है। यह ठीक है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनो ही द्रष्टा हैं। परन्तु 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय' इस न्याय के अनुसार मुख्य द्रष्टा परमेश्वर अभिप्रेत है। जीवात्मा आनन्द का अभिलाषी है। उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। पूर्ण आनन्द का स्रोत केवल परमेश्वर है—'रसो वै सः, रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवन्ति।' (तै उ. २-७) ऋग्वेद (७-११-१) की ऋचा मे कहा—'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते'

अर्थात् तेरे बिना मुक्तात्मा आनन्दित नही होते। ऐसी अवस्था मे मुक्तात्मा परमेश्वर के आनन्द रूप का अनुभव करता है। यही परमात्मा के स्वरूप मे अवस्थित होने का तात्पर्य है ॥२०॥

किन्तु परमात्मा मे स्थित होकर भी जीव की स्वतत्र सत्ता बनी रहती है—

न मुक्तावात्मलयः ॥२१॥

मुक्ति मे आत्मा का (ब्रह्म मे) लय नही होता।

अविद्या का नाश और कर्म बन्धन अर्थात् सस्कारो से मुक्त हो जाने पर जीवात्मा सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर मे वैसे ही स्थित होता है जैसे आकाश मे समस्त पदार्थ स्थित रहते हैं। शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव का अस्तित्व मोक्षावस्था मे बना रहता है। उस अवस्था मे स्थूल शरीर एव इन्द्रियो का अभाव हो जाता है किन्तु शुद्ध सकल्पमय शरीर, मन, प्राण तथा इन्द्रियो की शुद्ध शक्ति के साथ जीव की सत्ता बनी रहती है। छान्दोग्योपनिषद् (८-३-४) मे लिखा है–'पर ज्योतिरूपसपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' अर्थात् जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने रूप मे बना रहता है। तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्र व १-१) मे बडे स्पष्ट शब्दो मे मोक्षावस्था मे जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

हृदयाकाश मे स्थित अविनाशी, चेतनस्वरूप तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है और साथी रहते हुए सब प्रकार से तृप्त रहता है ॥२१॥

ब्रह्मणि विद्यमानस्तत पार्थक्येन ॥२२॥

ब्रह्म मे स्थित होता हुआ भी (जीव) पृथक् रहता है।

मुण्डकोपनिषद् (३-२-८) मे लिखा है–"यथा नद्य स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्त परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम्" अर्थात् जिस प्रकार नदिया बहती-बहती अपने नामरूप को छोडकर समुद्र मे जा मिलती हैं वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम और रूप से छूटकर परात्पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यहा नदियो के समुद्र मे मिलने से समझा जाता है कि परमात्मा के प्राप्त होने पर जीवात्मा का अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यथार्थ मे ऐसा नही है। प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं–एक उस वस्तु का बाह्य रूप–उसका आकार प्रकार और रग रूपादि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्त्व कहते हैं। नामरूप शरीर के होते हैं, जीव के नही। शरीर के नामरूप ही जीव का बाह्य रूप है। उन्ही को छोडने की बात

यहा कही गई है। उपनिषद् का भाव यह है कि जिस प्रकार नदिया समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गगा-यमुना का नाम और रूप खो बैठती हैं उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्य रूप–शरीर और यज्ञदत्त, देवदत्त आदि नामों को छोडकर ईश्वर को प्राप्त होता है।

यद्यपि नदियो का नामरूप नही रहता तथापि समुद्र मे मिलने पर भी उनका वस्तुतत्त्व-जल नष्ट नही हो जाता। वह समुद्र में मिलकर उनके जल की मात्रा को बढा देता है। जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा न होता। इसी प्रकार अपने नामरूप को खोकर भी मुक्त जीव का वस्तु तत्त्व (आत्मा) नष्ट नही होता। वह परमेश्वर के साथी के रूप मे सदा विद्यमान रहता है।

इसी उपनिषद् के अगले मन्त्र में कहा है–'यो वै तत्परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'–जो ब्रह्म को जान लेता है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-७) मे 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'–ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, कहा। उपनिषदो मे प्राय. औपचारिक वर्णन है। 'एव' पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि यहा उत्प्रेक्षालकार है। फिर ब्रह्म क्या है ? 'रसो वै स.'–आनन्द का अपर नाम ब्रह्म है। नदी के समुद्र मे मिलने पर वह समुद्र जल से आप्लावित हो जाती है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप ब्रह्म के मिल जाने पर जीवात्मा आनन्द से आप्लावित हो जाता है। ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग से रहने का यही अभिप्राय है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और जीव उसका भागीदार है अर्थात् ब्रह्म के साथ रहता हुआ आनन्द का उपभोग करता है किन्तु अपने अस्तित्व को नही छोड बैठता।

प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा तब होती है जब प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम मे इतना मग्न हो जाता है कि अपनी सुध-बुध खोकर कहने लगता है कि 'जिधर देखता हू उधर तू ही तू है' अथवा 'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।' योग की सातवी सीढी पर पहुचने पर योगी अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय का ध्यान करने वाला समझता है। परन्तु आठवी सीढ़ी पर पहुचने पर उसे सर्वत्र ध्येय ही दीखने लगता है। उस अवस्था मे वह न केवल अपने आपको प्रत्युत सबको उसी का रूप समझने लगता है। उसी अवस्था का वर्णन करते हुए ऋग्वेद (८-४४-२३) मे लिखा है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिष ॥

अर्थात् "हे ईश्वर ! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जा, तो तेरा आशीर्वाद ससार में सत्य हो जाये।"

औपचारिक रूप से कही हुई 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छा. ७-२४-१) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्त यत् पश्येत्' (बृ ४-३-२३) तथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४-४-७) इत्यादि उक्तियों का यही तात्पर्य है। ये आनन्दानु-

भूति के अतिरेक मे अतिशयता से कहे हुए वचन मात्र है।' तैत्तिरीय (२-६) मे कहा–'आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजानात्' अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाने। इस से ब्रह्म का आनन्दस्वरूप होना स्पष्ट है ॥२२॥

यही नही कि जीव का ब्रह्म मे लय नही होता, वह उसके सदृश भी कभी नही हो सकता। एतदर्थ कहा—

न सादृश्यम् ॥२३॥

(मुक्तावस्था मे जीव ब्रह्म के) सदृश भी नही होता।

जब ब्रह्म आनन्दस्वरूप है (आनन्दो ब्रह्म–तै) और उसे प्राप्त करके जीव भी आनन्दमय हो गया (रस लब्ध्वानन्दी भवति–तै २-७) तो दोनो एक न होकर एक जैसे तो हो ही गये। ऐसा कहना युक्तियुक्त नही। क्योकि मात्र एक गुण अथवा कुछ गुणो मे समानता होने से दो पदार्थ एक नही हो जाते। चीनी, आटा और नमक तीनो श्वेत होने मात्र से एक नही हो सकते। न जल और दूध द्रव्य होने मात्र से एक माने जा सकते हैं। साधर्म्य के साथ २ वैधर्म्य का ज्ञान होने पर ही तत्त्वज्ञान होता हैं। ईश्वर का लक्षण है–'क्लेशकर्मविपाकाशयै-रपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर' (यो १-२४) अर्थात् क्लेश, कर्म, कर्म–विपाक और आशयो से असपृक्त–अछूता विशेष चेतन तत्व ईश्वर है। दूसरी ओर 'इच्छा-द्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दु:ख और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं। ईश्वर और जीव दोनो के अपने २ गुण हैं। गुणो का गुणी से समवाय सवन्ध होता है अर्थात् गुण अपने गुणी से पृथक् नही हो सकते। ईश्वर के गुण ईश्वर मे और जीव के जीव में सदा बने रहेंगे। अत ईश्वर जीव के सदृश और जीव ईश्वर के सदृश कभी नही हो सकते।

रामानुज का कथन है कि 'एते च जगत्पतित्व–जगद्विधरण–सर्वेश्वरत्वादय प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि न कथञ्चिद्भवन्ति''। मुक्तावस्था मे भी जीव मे सृष्टिकर्तृत्वादि गुण कैसे आ सकते हैं?

छान्दोग्य उपनिपद् (८-१२-३)मे कहा है कि जीवात्मा कभी भी अपने स्वरुप का परित्याग नही करता। वह जो कुछ करता है 'स्वेन रुपेणाभिनिष्पद्यते' अपने स्वरूप मे स्थित रह कर करता है। शतपथ ब्राह्मण (१४-४-२-७) मे वडे विस्तार से वताया–"शृण्वन् श्रोत्र भवति मन्वानो मनो भवति"। मोक्ष दशा मे जीवात्मा जव सुनना, देखना, सूघना चाहता है तो सकल्प से वैसा कर सकता है। यदि जीवात्मा परमात्मा या परमात्मा जैसा वन जाता तो उसी की तरह देखता सुनता, अपने ढग से नही।

मुण्डकोपनिषद् (३-१-३) के आधार पर कहा जाता है–'तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरजन परम साम्यमुपैति'–अर्थात् ज्ञानी पुरूष पाप–पुण्य से छूट निर्लेप होकर अत्यन्त समता को प्राप्त होता है। प्रथम तो जो राग द्वेषादि दोषो

ने युक्त होकर कालान्तर मे उनसे मुक्त हुआ वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर के सदृश कैसे हो जायेगा ? मुक्त होकर भी जीव अल्पज्ञ और परिमित गुणकर्मस्वभाव वाला ही रहेगा । वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा अनन्तसामर्थ्ययुक्त कदापि नही हो सकता । दूसरे 'साम्यमुपैति' मे 'उपैति' क्रियापद का सामजस्य तभी होगा जब दोनो मे भेद माना जायेगा । साम्य सदा भेद घटित रहता है ॥२३॥

जीव के ब्रह्म सदृश होने मे एक और बाधा प्रस्तुत करते हैं—

निमित्तादुत्पद्यमान· परमेश्वरोऽनित्य. परायत्तश्च ॥२४॥

निमित्त से उत्पन्न परमेश्वर अनित्य तथा पराधीन होगा ।

ब्रह्म तो स्वभाव से आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा निमित्त से आनन्दमय होता है । जो निमित्त से आनन्दमय है वह नित्य आनन्दस्वरूप की समता कैसे करेगा ? और कुछ नही तो कालभेद तो रहेगा ही । 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अथवा 'यो वै तत्पर ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति' को लेकर यदि कोई हठ करे कि ब्रह्म को जानने वाला सचमुच ब्रह्म हो जाता है तो भी यहा 'भवति'—'हो जाता है' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नही था, अब हुआ । उत्पन्न होने वाला भाव अनित्य एव पराधीन होता है । निमित्त से बनने वाला सादि, सादि होने से अनिवार्यत: सान्त और सादि सान्त होने से अनित्य होगा । परन्तु असली ब्रह्म तो अनादि, नित्य तथा स्वभाव से आनन्दस्वरूप है । यह अन्तर सदा बना रहेगा और इस अन्तर के कारण दोनो में ऐकात्म्य कभी न होगा ॥२४॥

यदि मोक्षदशा मे ब्रह्म मे जीव का लय मान लिया जाये तो क्या आपत्ति है ?

लयत्वे विनाशः ॥२५॥

लय होने पर विनाश हो जायेगा ।

ब्रह्म मे लीन होने का अर्थ होगा समुद्र मे डूबकर आत्महत्या कर लेना । यदि मोक्ष का अर्थ मर जाना ही है तो इसके लिये पुरुषार्थ क्यो ? यदि मोक्षावस्था मे दु:खो के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाना है तो उसका क्या लाभ ? यह तो 'न मर्ज़ रहा न मरीज़' वाली बात हुई । मोक्ष पाने वाला ही न रहा तो मोक्ष किसे ? ऐसे मोक्ष को दु:खो का उच्छेद या उनकी निवृत्ति न कहकर जीव का उच्छेद अथवा आत्महत्या की चेष्टा कहना अधिक उपयुक्त होगा । यह अभावात्मक मोक्ष होगा ॥२५॥

किन्तु ऐसा नही होगा क्योंकि—

नित्यत्वान्न लयः ॥२६॥

जीव के नित्य होने मे उसका लय नही हो सकता ।

जीव स्वरूप से अविनाशी है । ईश्वर की भाति वह भी अनादि तत्त्व है । अनादि होने से वह अनन्त एव अविनाशी है । लय अथवा विनाश होने पर वह सान्त होगा । सान्त होने पर वह अनादि भी नही रहेगा । अनादि न रहने पर वह किसी के द्वारा निर्मित अवश्य होगा । निर्मित होने पर वह सावयव होगा और कोई उसका उपादान भी होगा । इस प्रकार जीव का सारा स्वरूप ही विगड जायेगा । फिर, 'नाभावो विद्यते सत ' के सिद्धान्त के अनुसार भी जीव का विनाश अर्थात् ब्रह्म मे लय होना सभव नही । जो है उसका अभाव नही हो सकता ॥२६॥

जीव के ब्रह्म मे लीन न होने मे अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

न आनन्दभोक्तृत्वात् ॥२७॥

आनन्द का भोक्ता होने के कारण (लय) नही ।

केवल दु खो से छुडाने के रूप मे मोक्ष अभावात्मक पदार्थ नही है । निश्चय ही वह भावरूप है । दु खो से छूटकर आनन्दस्वरूप परमेश्वर मे रहते हुए आनन्द का उपभोग करना मोक्ष है । यदि मुक्ति मे जीव का लय हो जाये तो मुक्ति का सुख कौन भोगे ? 'अनेकजन्मसमिद्धस्ततो याति परा गतिम्' (गीता)— अनेक जन्मो के निरन्तर पुरुपार्थ के फलस्वरूप जव मोक्ष की उपलब्धि हो, तो मोक्ष पानेवाला ही न रहे—यह वैठे-ठाले की खिलवाड नही तो क्या है? परिश्रम का फल किसे मिला ? मुक्त आत्मा की ब्रह्म के साथ समता केवल मुक्त दशा मे आत्मा द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति के आधार पर कही गई है । तैत्तिरीय उपनिषद्(२-१)मे कहा 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म मोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' जो सत्य, चेतन, अनन्त ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म के साथ रहता हुआ सव प्रकार के आनन्द को भोगता हुआ आप्तकाम हो जाता है ॥२७॥

मुक्तात्मा मोक्षदशा मे कहा रहता है—इसका निर्देश करते हैं—

अव्याहतगतिर्मुक्तात्मा ॥२८॥

मुक्त जीव अव्याहतगति होता है ।

मोक्ष दशा मे जीव जहा चाहे आनन्दपूर्वक विचरता है । ब्रह्म तो 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत' (यजु ४०-५) स्वभावत. सर्वत्र व्याप्त है । छान्दोग्य (७-२५-२) मे कहा—'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' अर्थात् वह इच्छानुसार सव लोको मे सचरण करता है । सचरण अथवा गति का अर्थ होता है किसी पदार्थ का 'जहा है वहा से' 'जहा नही है वहा को' जाना (A thing moves from where it is to where it is not) । अत. सर्वव्यापक

तत्त्व के लिये सचरण का कथन असगत है। निश्चय ही उपनिषद् का कथन मुक्तात्मा के लिये है जिसे इतने अश मे ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है कि वह जहा चाहे आ जा सकता है। सचरण का कथन किये जाने से यह स्वत सिद्ध है कि जीवात्मा मुक्तावस्था मे भी सर्वव्यापक नही है। अत वह 'स्वेन रूपेण' अपने ही रूप मे गति करता है। उपनिषद् के उक्त कथन से जहा यह प्रमाणित होता है कि मुक्तात्मा मोक्ष दशा मे बेरोक टोक जहा चाहे विचरण कर सकता है वहा यह भी सिद्ध होता है कि तब भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है, अपने अस्तित्व को खोकर वह ब्रह्म रूप नही हो जाता ॥२८॥

जिस प्रकार जीवात्मा बन्धन से छूट कर मोक्ष प्राप्त करता है वैसे ही कालान्तर मे मोक्ष से पुन· बन्धन मे आ जाता है। क्योकि—

नात्यन्तोच्छेद ॥२९॥

अत्यन्त उच्छेद (बन्धन का) नही।

बन्ध या मुक्ति का अत्यन्त उच्छेद कभी नही होता। जिस प्रकार एक देह को छोडकर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी लगातार बना रहता है। दो मुक्तियो के अन्तराल मे बन्धन और दो बन्धनो के अन्तराल मे मुक्ति का यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है।

इस सन्दर्भ मे दो मे से एक स्थिति का होना आवश्यक है—या तो जीवात्मा अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन मे पडा चला आ रहा है या किसी काल विशेष मे इस चक्र का प्रारम्भ हुआ। यदि इस चक्र को अनादि माना जाये तो बन्धन आत्मा का स्वाभाविक गुण हो जायेगा और उस अवस्था मे न कभी उसका अन्त होगा और न मोक्ष की सिद्धि सभव होगी, क्योकि जिस भावरूप पदार्थ का आदि नही, उसका अन्त भी नही। तब, मोक्ष की सिद्धि के निमित्त अनिवार्यत. यही मानना होगा कि जन्म-मरण का क्रम किसी नियत काल मे प्रारम्भ हुआ। किसी नियत काल मे प्रारम्भ होने अर्थात् जीवात्मा के बन्धन मे आने से पूर्व उसका मुक्त होना आवश्यक है क्योकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन मे पडने का प्रश्न ही कैसे उठता? इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो जीवात्मा इस समय बन्धन मे है और भविष्य मे कभी मुक्त होगा वह जन्म-मरण के वर्तमान क्रम के चालू होने से पूर्व मुक्तावस्था मे था। इस आधार पर वर्तमान बन्धन का दो मुक्तियो के अन्तराल मे होना स्वत. सिद्ध है। यदि वर्तमान बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् जीवात्मा बन्धन मे पड सकता था तो कोई कारण नही कि वर्तमान बन्धन के पश्चात् प्राप्त होने वाली मुक्ति के पश्चात् बन्धन मे नहीं आयेगा। जो नीचे गिरकर ऊपर उठ सकता है वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कथापि नही हो सकता कि बन्धन

से मुक्ति मे तो चला जाये किन्तु मुक्ति से बन्धन मे न आये। इस प्रकार दो मुक्तियों के बीच बन्धन और दो बन्धनो के बीच मुक्ति के क्रम का न कभी आदि था, न अन्त होगा। न सदा बन्धन रहेगा, न मुक्ति ॥२९॥

यदि ऐसा है तो शास्त्रो मे अनेकत्र 'अत्यन्तमोक्ष', 'अत्यन्तनिवृत्ति' जैसे शब्दो का प्रयोग क्यो मिलता है ? इस शका का समाधान करते हैं—

प्रभूतार्थमत्यन्तपदम् ॥३०॥

'अत्यन्त' पद अतिशय का बोधक है।

यह आवश्यक नही कि 'अत्यन्त' शब्द सर्वत्र नितान्त अन्तहीनता का वाचक हो। 'नाभावो विद्यते सत' सत् का अभाव नही होता। 'किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और विनाश नही। 'अत्यन्त दु.खमत्यन्त सुख वास्य वर्त्तते' का इतना ही तात्पर्य है कि इस मनुष्य को अत्यधिक दु.ख वा सुख है। महाकवि कालिदास जब "कस्यात्यन्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा। नोचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण" मे 'अत्यन्त' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अभिप्राय सुख-दु ख के नैरन्तर्य से ही होता है। इसी प्रकार उक्त सूत्रो मे भी 'अत्यन्त' पद का अभिप्राय 'बहुत काल तक' से अधिक कुछ नही ॥३०॥

जितना कर्म किया जाता है, उसका उतना ही फल मिलता है। अत —

न ह्यन्तवतां कर्मणां फलमनन्तम् ॥३१॥

सान्त कर्मों का फल अनन्त नही हो सकता।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति जीव के अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् उसके विशेष कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है। नियत शरीर और नियत काल मे सीमित सामर्थ्य वाला जीव सीमित कर्म ही कर सकता है। ऐसे कर्मों का फल असीम नही हो सकता। यदि परमेश्वर नियत कर्मों का अनन्त फल दे अर्थात् अनन्तकाल के लिए मोक्ष सुख दे तो उसका यह कार्य न्याय्य नही होगा ॥३१॥

इसी सन्दर्भ मे कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नानित्यैःसाधनैःसम्प्राप्ता मुक्तिर्नित्या ॥३२॥

अनित्य साधनो से प्राप्त मुक्ति नित्य नही हो सकती।

निमित्त अथवा साधनो से प्राप्त पदार्थ नित्य नही हो सकता। जल आदि के प्रयोग से वस्त्र स्वच्छ हो जाता है। किन्तु कालान्तर मे मैल लग जाने पर फिर मैला हो जाता है। जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ एव साधन अनित्य हैं। इन अनित्य साधनो से प्राप्त नैमित्तिक मुक्ति नित्य नही हो सकती।

अग्नि के निमित्त से जल मे उष्णता आती है। अत जब तक अग्नि का सम्पर्क रहता है, उसमे उष्णता बनी रहती है। इस निमित्त के हटते ही जल

की उष्णता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है और वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। जीव-स्वरूप से अल्पज्ञ है। वह कितना ही प्रयास करे, परमेश्वर की भाति सर्वज्ञ नही हो सकता। यह ठीक है कि तत्त्वज्ञान के द्वारा जीव को मुक्ति की उपलब्धि होती है। किन्तु मुक्ति काल मे वह मात्र आनन्द का उपभोग करता है। उस समय वह ज्ञानार्जन मे प्रवृत्त नही होता। परिणामतः कालान्तर मे उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। मुक्ति के निमित्तरूप (ज्ञानान्मुक्ति—सा० ३-२३) ज्ञान का ह्रास होने पर वह पुन बन्धन मे आ जाता है। स्वभाव से अल्पज्ञ होने से जीव की बहुज्ञता नित्य नही हो सकती। जीव का बन्ध और मोक्ष प्रवाह से अनादि मानना ही युक्तियुक्त है ॥३२॥

न जीवात्मस्वनन्तानन्दभोगायासीमसामर्थ्यम् ॥३३॥

जीवात्मा मे अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य नही।

जो जितना भार उठा सके उस पर उतना भार लादना ही उचित है। एक मन भार उठाने मे समर्थ व्यक्ति के सिर पर दस मन भार धर देना अथवा चार रोटियाँ खा सकने वाले व्यक्ति को दस रोटियाँ खाने को विवश करना अन्याय एव अत्याचार होगा। हर प्रकार से सीमित सामर्थ्य वाले जीव से असीम आनन्द के उपभोग की आशा नहीं की जा सकती। जैसे कर्म करने मे जीव का सामर्थ्य सीमित है वैसे ही उसकी कर्मफल भोगने की योग्यता भी सीमित है। मोक्षावस्था मे जीव परमेश्वर के साथी के रूप मे आनन्द भोगता है सही। परन्तु जहा परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् होने से सर्वदा आनन्दस्वरूप रहने मे समर्थ है वहा जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ एव अल्पशक्ति होने के कारण उसका आनन्द भी परिसीमित है। परमेश्वर की भाति वह अनन्तकाल तक आनन्दयुक्त नही रह सकता ॥३३॥

पर्यायेण बन्धमोक्षौ लोकवत् ॥३४॥

बन्ध और मोक्ष पर्यायक्रम से आते हैं, लोक के समान।

ससार मे नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है। ससार के काम काज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नीद मे चला जाता है। उस अवस्था मे बाह्यार्थों से असम्पृक्त होने के कारण उसके दुःखों का अभाव (तिरोभाव) हो जाता है। इसी आधार पर सुषुप्ति की अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है (समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता—सा. ५-७६)। प्रातः काल होते ही पुन सासारिक व्यवहाररूप बन्धन मे पड जाता है। इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन प्रत्यक्ष देखने मे आते हैं। जैसे सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति तथा दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का आना

अवश्यम्भावी है वैसे ही मुक्ति के पश्चात् वन्धन और वन्धन के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक मुक्ति का आना अनिवार्य है।

सुखं हि दु.खान्यनुभूय प्रेष्ठम् ॥३५॥

दु खानुभूति के अनन्तर मुख अधिक प्रिय होता है।

जीव का स्वभाव ऐसा है कि वह मदा एक अवस्था मे रहना नही चाहता। निरन्तर आनन्द मे वह रस नही रहता जो उसकी प्रारम्भिक अवस्था मे होता है। समय वीतने के साथ-साथ उसका ह्रास होने लगता है। यदि अत्यन्त स्वादिष्ट पदार्थ भी नित्य खाया जाये तो उससे अरुचि होने लगती है। मधुर-सगीत भी कुछ देर के वाद वैसा रुचिकर नही रह जाता। वस्तुत जीवन का महत्त्व मृत्यु से और सुख का महत्त्व दु ख से है। वैसे ही वन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् वन्धन न हो तो स्वय मुक्ति भी भाररूप प्रतीत होने लगे। इस प्रकार सुख-दु:ख की भाति वन्ध मोक्ष के पर्याय क्रम से चलते रहने मे ही मोक्षानन्द की तीव्र अनुभूति सम्भव है ॥३५॥

अव मुक्ति से पुनरावृत्ति के सन्दर्भ मे पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगः शब्दात् ॥३६॥

मुक्तात्मा का पुन वन्ध से योग नही होता, शब्द प्रमाण से।

जन्म-मरण के वन्धन से छूट जाना मोक्ष कहलाता है। अत मुक्तात्मा का फिर से जन्म-मरण के चक्र मे फँसने का प्रश्न नही रहता। उपनिषदादि ग्रन्थो मे अनेकत्र इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमे मुक्ति से पुनरावृत्ति का स्पष्ट निषेध किया है। जैसे—

१—स खल्वेव वर्तयन्यावदायुष ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते
न च पुनरावर्तते (छा ८-१५-१)—फिर लौटकर नही आता।

२—एतेन प्रतिपद्यमाना इम मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते (छा ४-१५-५)—इस (देवयान मार्ग) से जाने वाले इस मानव कल्प मे नही लौटते।

३—तेषा न पुनरावृत्ति (वृहद् ६-२-१५)—उनकी पुनरावृत्ति नही होती।

४—तस्मान्न पुनरावर्त्तते (प्रश्न १-१०)—वहा से नही लौटता।

५—यस्माद् भूयो न जायते (कठ ३-१०)—जहा जाकर फिर उत्पन्न नही होता।

६—यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते (गीता० १५-६)—जहा जाकर लौटते नही।

७—अनावृत्ति शब्दादनावृत्ति शब्दात् (वे० सूत्र० ४-४-२२)—शब्द प्रमाण से अनावृत्ति है।

उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हुए इन शकाओ का ममाधान करते है—

नादिमतो मोक्षस्यानन्तता ॥३७॥

मुक्ति का आदि होने से वह अनन्त नही हो सकती ।

जिसका आदि है उसका अन्त अनिवार्य है । जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नही की जा सकती वैसे ही ऐसी मुक्ति नही हो सकती जिसका आदि तो है किन्तु अन्त कभी नही होगा । वस्तुत पूर्वोद्धृत वचनो से मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का किञ्चित् भी विरोध नही है । प्राचीन ऋषियो के कथन की शैली को ठीक-ठीक न समझकर अर्थ का अनर्थ किया जाता है ।

मीमासा का एक न्याय है 'न हि निन्दा निन्दितु प्रवर्त्ततेऽपितु विधेय स्तोतुम्' । तदनुसार 'अपशवोवाऽन्ये गो अश्वेभ्य' इत्यादि वाक्य का गो अश्व से भिन्न पशुओ के पशुत्वाभाव के प्रख्यापन मे तात्पर्य नही है, अपितु अन्य पशुओ की अपेक्षा गो अश्व की प्रशसा करना मात्र अभीष्ट है । इसी प्रकार 'न च पुनरावर्त्तते' का तात्पर्य मुक्ति से पुनरावृत्ति के निषेध मे नही है, अपितु मुक्ति के पूर्णकाल पर्यन्त जीव मुक्ति मे रहता है अर्थात् बीच मे नही लौटता—यह तात्पर्य है । उपनिषद्, वेदान्तसूत्र तथा गीता आदि मे जहा कही इस प्रकार के वाक्य मिलें वहा उनका यही अभिप्राय समझना चाहिये ।

मीमासा के 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१-२-१६) सूत्र के अनुसार इसे दूसरे रूप मे भी समझा जा सकता है । ब्राह्मण वचन है—'पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकान् अवाप्नोति, सर्वान् लोकान् जयति' इस पर विचार करके 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' सूत्र से समाधान किया है कि पूर्णाहुति से प्राप्त जितना फल है, उतने का ही सर्वत्व यहा विवक्षित है । मीमासा के इस अधिकरण के अनुसार उपर्युक्त वचनो का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—

"उक्त वचनो मे जो पुनरावर्त्तन का निषेध किया है, वह आत्यन्तिक निषेध न होकर प्रकृत मुक्ति विषय से सम्बद्ध है, अर्थात् मुक्ति का जितना काल शास्त्रो मे लिखा है उस काल के मध्य मुक्त जीव का ससार मे पुनरावर्त्तन नही होता ।"

आचार्य शकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ (८-१५-१) की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ की पुष्टि की । वह लिखते हैं—"यावद् ब्रह्मलोकस्थिति तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थ" अर्थात् जब तक ब्रह्मलोक मे स्थिति है तब तक वही रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नही लौटता । ब्रह्म तो अनादि है, ब्रह्मलोक भी सदा वर्तमान रहता है । अत ब्रह्मलोक की आयु का तो प्रश्न ही नही उठता । ब्रह्म का प्राप्त होना ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है । अत यहा 'यावदायुष' शब्द ब्रह्मलोक मे जीव के रहने की अवधि के लिये आया है । शकर की व्याख्या से स्पष्ट है कि जब तक ब्रह्मलोक मे स्थिति का काल है तब तक मुक्तात्मा का आवर्तन नही होता । किन्तु स्थिति काल की समाप्ति पर आवर्तन मे कोई बाधा नही । छान्दोग्य के दूसरे

सन्दर्भ (४-१५-५) की व्याख्या मे भी शकराचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा–'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेम मानव मनुसम्बन्धिन मनो सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्त्तन्ते'। तात्पर्य यह है कि देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव आवर्त्त (मनु सम्बन्धी सर्ग अथवा मानुषी–मैथुनी सृष्टि) मे नही लौटते। इसकी टीका करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं–'इममिति विशेपणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तर एवावृत्तिरिति सूच्यते।' अर्थात् यहा जो 'इमम्' विशेषण है इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा इस कल्प मे नही लौटता किन्तु कल्पान्तर मे लौट सकता है।

छान्दोग्य (५-१०) का भाष्य करते हुए शकराचार्य पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं--'न च पुनरावर्त्तन्त इतीम मानवमावर्त्तन्त इत्यादि श्रुतिविरोध इति'–एक श्रुति कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव लौटता है, दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प मे नही लौटता--क्या इनमे परस्पर विरोध नही है ? इसका समाधान करते हुए वह कहते हैं–'इम मानवमिति विशेषणात् तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति' अर्थात् यहा 'इमम्' विशेषण से स्पष्ट है कि मात्र इस कल्प मे पुनरावृत्ति का निषेध किया है।

पुन वृहदारण्यक के अन्तर्गत (६-२-१५) "ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा. परावतो वसन्ति न तेपा पुनरावृत्ति" (वे उन लोको मे अनेक वर्षों तक निवास करते हैं, उनकी फिर आवृत्ति नही) का भाष्य करते हुए आचार्य शकर ने लिखा–"परा परावृत प्रकृष्टा' समा. सवत्सराननेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थ। तेषा ब्रह्मलोक गताना नास्ति पुनरावृत्ति" अनेक सवत्सर पर्यन्त वहा निवास करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पो तक वहा वसते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त उनकी पुनरावृत्ति नही होती। शकराचार्य ने यहा 'सवत्सराननेकान्' (अनेक वर्ष) तथा 'अनेकान् कल्पान्' (अनेक कल्प) कह कर मुक्ति के काल का स्पष्ट निर्देश कर दिया। वर्षों और कल्पो से सीमित होने पर मुक्ति निरवधि नही रही। तब न लौटने का अर्थ 'अवधि मे न लौटना' के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता। इसी सन्दर्भ मे आचार्य शकर आगे कहते हैं–'अस्मिन् ससारे न पुनरागमन ('इह' इति शाखान्तर पाठात्' अर्थात् दूसरी शाखा मे 'इह' पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवो का आगमन) 'इस' ससार मे नही होता। उपर्युक्त पाठ यजुर्वेदीय काण्वशाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत वृहदारण्यकोपनिषद् का है। परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथ ब्राह्मण (१४-६-१-१८) मे 'तेषामिह न पुनरावृत्ति' यह 'इह' पदघटित पाठ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शकराचार्य लिखते हैं–'यदि हि नावर्त्तन्त एव इह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्' अर्थात् यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो, तो 'इह' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाये। इस प्रसग का उपसहार करते हुए शकराचाय ने लिखा–'तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्यते'

अर्थात् इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है ।

इस प्रकार उपनिषदो और उन पर आधारित गीता आदि ग्रन्थो मे जहा-जहा मुक्ति से अनावृत्ति का प्रसग मिले वहा-वहा 'मुक्ति के लिए नियत अवधि मे पुनरावृत्ति नही होती' यही तात्पर्य समझना चाहिये ।

वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत 'अनावृत्ति शब्दात्' (४-४-२२) का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि शब्द प्रमाण से 'मुक्ति की अवधि मे' अनावृत्ति सिद्ध है । अनावृत्ति का जो अर्थ श्रुति को मान्य है वही ब्रह्मसूत्र को भी स्वीकार्य है, अर्थात् मुक्ति की नियत अवधि मे अथवा इस कल्प मे अथवा इस मानुषी सृष्टि मे मुक्तात्मा का पुनरागमन नही होता । लोक मे किसी व्यक्ति को सेवा मे स्थिर या स्थायी करने का अर्थ यह नही होता कि अब वह मृत्यु पर्यन्त सेवा से निवृत्त नही किया जा सकेगा । इनका तात्पर्य इतना ही होता है कि उसे सेवा निवृत्ति के लिये नियत आयु (५५ या ५८ वर्ष) से पूर्व नही हटाया जा सकेगा । इसी प्रकार आजीवन कारावास का अभिप्राय यही होता है कि दण्डित व्यक्ति को आजीवन कारावास की नियत अवधि (प्राय २० वर्ष) तक कारागार मे रहना होगा, यह नही कि अब वह जेल से कभी बाहर नही आयेगा ।

शब्द प्रमाण की दृष्टि से वेद का स्वतः प्रामाण्य सर्वोपरि है । अतः इस सन्दर्भ मे ऋग्वेद (१-२४-१,२) के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

> **कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।**
> **को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।**
> **अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।**
> **स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ।।**

प्रश्न—हम लोग किसका पवित्र नाम जानें ? कौन नाशरहित पदार्थो के मध्य मे वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है जो हमको मुक्ति का सुख भुगा कर पुन॰ इस ससार मे जन्म देता है और माता-पिता का दर्शन कराता है ?

उत्तर—हम उस प्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का पवित्र नाम जानें जो हमको मुक्ति का आनन्द भुगाकर पुन. इस ससार मे जन्म देता और माता-पिता का दर्शन कराता है ।

वेद के इन वचनो मे मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है ।।३७।।

सृष्टि की रचना जीवात्मा के कर्मफल भोगने के लिए होती है । मुक्तात्माओ के कोई कर्म शेष नही रहते । फिर उन्हे जन्म देने का क्या प्रयोजन है ?

पुनर्मुक्त्यर्थं पुनर्जन्म ।।३८।।

फिर से मुक्ति पाने के लिए पुनर्जन्म है ।

मुक्ति जीवात्मा की स्वाभाविक अवस्था नही है । निमित्त से प्राप्त मुक्ति नित्य न होने से एक न एक दिन उसका अन्त होना निश्चित है । किन्तु जिस मुक्ति

का रसास्वादन वह कर चुका है उसे वह खोना नही चाहता। तथापि यह उसके वश की वात नही है। जितनी कमाई की थी वह चुक गई है। अब उसके लिए नए सिरे से प्रयास करना होगा। नैमित्तिक तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष की सिद्धि हुई थी। उसके फलस्वरूप प्राप्त आनन्द का उपभोग करता रहा। मुक्ति काल मे भविष्य के लिए अतिरिक्त सग्रह करने का अवसर नही था। पूर्वप्राप्त ज्ञान का क्रमश ह्रास होते-होते पुन बन्धन की स्थिति मे आ गया। मुक्ति के अभिलाषी जीव को तत्वज्ञान के साधनो की पुन अपेक्षा हुई। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—मुक्ति की प्राप्ति मे सहायक ये साधन एतदर्थ निर्मित इस सृष्टि मे ही उपलब्ध हैं। अत मुक्तात्मा को पुन इस सृष्टि मे जन्म लेना पडता है। जहा से जाता है, कालान्तर मे लौट कर वही आ जाता है और अभीष्ट को पाने के लिए यथापूर्व प्रयास का अवसर पा जाता है ॥३८॥

मुक्तात्माओ की पुनरावृत्ति न मानने पर होने वाली हानि का उल्लेख करते हैं—

परावर्त्तनाभावे संसारसमुच्छेदः जीवानां निःशेषत्वात् ॥३९॥

पुनरावृत्ति न होने पर ससार का उच्छेद हो जायेगा, जीवो के शेष न रहने से।

यदि आत्माओ की बराबर मुक्ति होती रहे और उनमे से कोई कभी लौट कर न आये, तो एक दिन संसार का उच्छेद हो जायेगा। क्योकि चाहे कितना ही वडा धनकोष क्यो न हो, निरन्तर व्यय होते रहने पर कभी न कभी समाप्त हो ही जाता है। किन्तु आज तक ससार का अत्यन्त उच्छेद नही हुआ। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—प्रवाह से अनादि सृष्टि की रचना प्रत्येक कल्प मे होती है। यह क्रम अनादि काल से अनन्तकाल तक निर्बाधरूप से चलता रहता है। 'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्त प्रवर्त्तन्ते'—प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नही होती। प्रयोजन का लक्षण है 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस अर्थ को लक्ष्य कर कोई प्रवृत्त होता है वह अर्थ प्रयोजन कहाता है। इस प्रकार परमेश्वर द्वारा वार-बार सृष्टि रचना का भी कोई न कोई प्रयोजन है। वह प्रयोजन 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' इस सूत्र मे स्पष्ट कर दिया गया है। भोग और अपवर्ग का यह निर्देश 'अकाम तथा नित्यमुक्त' परमेश्वर के लिए नही हो सकता। इससे स्पष्ट है कि जीव के निमित्त ही वार-वार सृष्टि की रचना होनी है। तब, यदि सृष्टि प्रवाह से अनादि है तो जीवात्मा की मुक्ति भी प्रवाह से अनादि माननी होगी। जीवो के मोक्ष मे जाकर आवर्तमान होने मे ही यह सभव है।।३९॥

मुक्ति से न लौटने पर भी ससार का उच्छेद नही होगा। क्योकि आवश्यकतानुसार नए जीवो की सृष्टि होती रहेगी—यह पूर्वपक्ष सूत्रबद्ध किया—

न नव्यजीवोत्पादनात् ॥४०॥

नये जीवो की उत्पत्ति के कारण (ससार का उच्छेद) नही होगा ।

यह पूर्वपक्ष है । सृष्टि के लिए जीव की अपेक्षा है–इस तर्क से मुक्तात्माओ के मुक्ति से पुनरावर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नही होती । क्योकि मुक्तात्माओ के स्थान पर नये जीव उत्पन्न करके सृष्टि को चालू रक्खा जा सकता है । सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ऐसा करने मे समर्थ है ।

अव इसका उत्तर देते हैं—

नात्मनामनित्यत्वापत्ते. ॥४१॥

आत्मा के अनित्य हो जाने से ऐसा नही हो सकता ।

परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह जो चाहे कर सकता है । 'सर्वशक्तिमान्' का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर को अपने कार्यों के करने मे अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नही होती । जीवो के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना परमेश्वर का काम है, जीवो को उत्पन्न करना नही । यदि 'दुर्जनतोषन्याय' से परमेश्वर द्वारा जीवो का उत्पन्न होना मान भी लिया जाये तो इन जीवो का अनित्य होना स्वत सिद्ध है । क्योकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है । और जव जीव ही न रहा तो उसकी मुक्ति नित्य कैसे होगी ?

फिर, जीवो की उत्पत्ति मे कारण क्या होगा ? जीव के न रहने पर दो ही पदार्थ शेप रह गये–ईश्वर और प्रकृति । सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एव नित्यमुक्त परमेश्वर में से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एव जन्म-मरण के वन्वन मे पडने वाले जीव की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा मकती है ? इसी प्रकार जड प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति भी असम्भव है । वस्तुतः अनुच्छित्तिवर्मा-अविनाशी जीव की उत्पत्ति सभव नही । मुक्ति से पुनरावृत्ति मे ही समस्त समस्याओ का समाधान निहित है ॥४१॥

अव पूर्वपक्ष के रूप मे कथन करते हैं—

नेयं स्पृहणीया जन्ममरणसादृश्यात् ॥४२॥

जन्म-मरण के समान होने से ऐसी मुक्ति चाहने योग्य नही ।

जो आज है, कल नही–ऐसी 'श्वोभावा' मुक्ति की इच्छा करना और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना व्यर्थ है । 'अनेकजन्मससिद्धस्ततो याति परा गतिम्'–जन्म जन्मान्तर के अनवरत पुरुषार्थ के फलस्वरूप प्राप्त मुक्ति से भी कुछ काल के पश्चात् लौटकर फिर यही आना है तो वहां जाने का क्या लाभ ? इसका समाधान करते हुए कहा—

मृत्योरपरिहार्यत्वेऽपि जिजीविषेव ॥४३॥

मृत्यु के अपरिहार्य होने पर भी जीवन की इच्छा की भाँति ।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'–जो उत्पन्न हुआ है, समय आने पर उसकी मृत्यु निश्चित है–यह जानते हुए भी मनुष्य जीना चाहता है और तदर्थ साधन जुटाता है। खाने के कुछ काल पश्चात् भूख अवश्य लगेगी–यह जानते हुए भी मनुष्य बार-बार भोजन करता है। तब मुक्ति मे इतने दीर्घ काल तक दु.खो से छूटकर आनन्दोपभोग करना क्या छोटी बात है जो उसके लिये प्रयास न किया जाये ? ॥४३॥

अब मुक्ति की अवधि का निर्देश करते हैं—

षट्त्रिंशत्सहस्रकृत्व सर्गप्रलययोः कालपर्यन्तं मोक्ष ॥४४॥

छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय मे लगने वाले समय के बराबर मुक्ति की अवधि होती है ।

एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय मे आठ अरब चौंसठ करोड वर्ष का समय लगाता है। इस प्रकार छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय मे ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष लगेंगे। इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। ४३ लाख २० सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियो का एक (ब्राह्म) अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रो का एक मास, ऐसे १२ मास का एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षों का 'परान्तकाल' होता है। इतने समय तक किसी प्रकार का दु ख न होकर आनन्द ही आनन्द मे रहना साधारण बात नही है। इसे जन्म-मरण के सदृश कैसे कहा जा सकता है ? ॥४४॥

मुक्तावस्था में जीव के साथ क्या कुछ रहता है। इसके उत्तर मे कहते हैं—

न मुक्तस्य स्थूलशरीरम् ॥४५॥

मुक्तात्मा का स्थूल शरीर नही रहता ।

त्रिविध दु खो से छूटने का नाम मोक्ष है। किन्तु शरीर के रहने पर यह सभव नही। जैसा छान्दोग्य (८-१२-१) मे कहा–'सशरीर प्रियाप्रियाभ्यामात्त'–इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सासारिक सुख-दुखो से घिरे रहना अनिवार्य है। मोक्षावस्था मे इन दु खों का पूर्ण उच्छेद होता है। फलतः उस दशा मे स्थूल शरीर का रहना नही बनता। इसलिये छान्दोग्य (८-१२-१) मे कहा–'अशरीर वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशत.'–मोक्षदशा मे अशरीर जीवात्मा को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नही करता। वहा प्राकृत शरीर इन्द्रिय आदि का आतमा के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नही रहता। किन्तु मननात्मक शुद्ध सकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियो की शुद्ध शक्ति बराबर

बनी रहती है। छान्दोग्य (८-१२-५) उपनिषद् के अनुसार 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'—मुक्तात्मा मन से अर्थात् मननात्मक शक्ति से ही सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द मे मग्न रहता है। यदि वहा शरीर इन्द्रियादि का अस्तित्व होता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ था ॥४५॥

स्वीयसामर्थ्येनैवाशेषानन्दोपभोग सङ्कल्पमात्रेण ॥४६॥

अपने (स्वाभाविक) सामर्थ्य से सकल्पमात्र (शरीर) से सम्पूर्ण आनन्द भोगता है।

आनन्द की अनुभूति मुक्तात्मा का ऐश्वर्य भोग है। इसका यह ऐश्वर्य भोग अथवा ऐश्वर्यानुभव सकल्पमात्र मे होता है। आत्मा का यह सकल्प स्वसामर्थ्य रूप है जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है। सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद से स्पष्ट है कि संकल्प के अतिरिक्त उसे शरीर इन्द्रियादि किसी साधन की अपेक्षा नही होती। किन्तु यह सकल्प अन्त करण की सकल्पात्मक वृत्ति के समान न होकर उससे सर्वथा भिन्न आत्मा की अनुभूतिमात्र है। इसी सन्दर्भ मे छान्दोग्य(८-२-१०) मे कहा—"य यमन्तमभिकामो भवति य काम कामयते सोऽस्य सकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते"—जिस प्रदेश व कामना की वह अभिलाषा करता है वह उसके सकल्पमात्र से उद्भूत हो जाता है। उससे सम्पन्न होकर वह आनन्दित रहता है। इसकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण (१४-४-२-१७) मे बताया—"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यश्चक्षु, शृण्वञ्छ्रोत्र, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्मनामानि," मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियो के गोलक जीवात्मा के साथ न रहने पर वह संकल्पमात्र से जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के लिये चक्षु, स्वाद के लिये रसना, निश्चय करने के लिये बुद्धि और स्मरण करने के लिये चित्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नही कि मोक्ष मे श्रोत्रादि इन्द्रियो का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि मुक्तात्मा अपने शक्तिरूप सकल्प से भावना के अनुसार ऐसा अनुभव करने लगता है। वेदान्तसूत्र (४-४-८) मे कहा—'सकल्पादेव तु तच्छ्रुते' अर्थात् श्रुति से सिद्ध है कि वह कामना सकल्पमात्र से सिद्ध हो जाती है। श्रुति (ऋग्वेद ९-११३-९) मे भी कहा है—'यत्रानुकाम चरण··· तत्र माममृत कृधि'। अर्थात् जहा मुक्तात्मा कामनानुकूल विचरण करते हैं वहा मुझे भी मुक्त कर दे ॥४६॥

अब जीव के स्वाभाविक सामर्थ्य का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

बल-पराक्रमाकर्षण-प्रेरणागतिभयविवेचन-क्रियोत्साह-स्मरणाध्यवसायेच्छारागद्वेष-सयोगवियोग-संयोजक-विभाजक-श्रवणस्पर्शन-दर्शनस्वादनघ्राण-ज्ञानैश्चतुर्विंशति-सामर्थ्ययुक्तोऽयमात्मा ॥४७॥

बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, सयोग, वियोग, सयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, गन्धग्रहण और ज्ञान--इस चौवीस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त जीव है। इसी सामर्थ्य से वह भौतिक शरीर के विना मुक्ति मे आनन्द का भोग करता है। ४७॥

मुक्ति जीवन काल मे प्राप्त होती है या मरने के बाद ही--इसका विवेचन करते हैं—

सदेहो गुणातीतो जीवन्मुक्त ॥४८॥

गुणातीत होकर सशरीर जीवन्मुक्त होता है।

मुक्ति मनुष्य को जीवन काल मे ही प्राप्त करनी होती है। मुक्ति का अर्थ है--अब आगे और जन्म न होना। इसलिये यदि जीवन मे मुक्ति प्राप्त न हो तो मरने के पश्चात् तो उसकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध न होने से तदर्थ कोई प्रयत्न संभव ही न होगा। साख्य दर्शन (५-७६) मे कहा--'समाधिसुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष मे ब्रह्मरूपता--त्रिविध दुखो से निवृत्ति होकर आनन्दानुभूति होती है। समाधि और सुषुप्ति की अवस्था मे मोक्ष के समान दुख के अभाव और आनन्द के प्रादुर्भाव का कारण है उस अवस्था मे वाह्य और आन्तर इन्द्रियो का व्यापार बन्द हो जाने से प्राकृत जगत् से जीवात्मा का सम्बन्ध न रहना। जब आत्मज्ञान तथा निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य जाग्रत् मे इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो जीवन्मुक्त हो जाता है। कठोपनिषद् (६-१०) मे इस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु परमा गतिम् ॥

जब मन और इन्द्रियाँ अपना-अपना काम वन्द करके स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा नही करती उसे परमगति-मोक्ष=जीवन्मुक्तावस्था कहते है। गीता (१४-२३) मे भी कहा है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥

जो मनुष्य गुणो से चलायमान न होकर स्थिर रहता और उनके अधीन चेष्टा नही करता--त्रिगुणात्मक प्रकृति पर इस प्रकार विजय प्राप्त करने वाले मनुष्य को गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त कहते हैं। इसी अध्याय के २४-२५ वें श्लोको

मे दिये गुणातीत के समस्त लक्षण सशरीर व्यक्ति पर ही लागू होते हैं ।

जीवन्मुक्त आत्मा एकत्र स्थित होता हुआ, योगाभ्यास से शुद्ध अन्त करण के द्वारा आनन्दानुभूति के साथ अनेक दैहिक व्यापार करने मे समर्थ रहता है । जीवन्मुक्त दशा मे यद्यपि आनन्दानुभूति के लिये शरीर इन्द्रियादि का कोई उपयोग नही होगा, फिर भी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी उठते-बैठते, खाते-पीते, आते-जाते साधारण दैहिक व्यापार करते हुए भी आनन्द की अनुभूति मे लीन रहता है ।

किन्तु विदेह मुक्ति इससे उत्तर अवस्था है । विदेह मुक्ति मे उक्त अवस्था साधनरूप है । साध्यसाधन मे अभेदोपचार से इसे मुक्ति कह दिया जाता है । वस्तुत: जीवन्मुक्त से अभिप्राय है परम मोक्ष का पूर्ण अधिकारी—जिसे मोक्ष प्राप्ति के लिये अब और कुछ करना शेष नही रहा । सुषुप्ति की मुक्ति शरीर सहित किन्तु ज्ञानरहित होती है, समाधि और जीवन्मुक्त की मुक्ति शरीर सहित और ज्ञानसहित होती है, मरने के पश्चात् मुक्ति शरीर-रहित और ज्ञान-सहित होती है । यह तभी प्राप्त होती है जब कोई पहले समाधि तथा जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥४८॥

कुछ लोग मुक्ति भी चार प्रकार की मानते हैं । अगले सूत्र मे पूर्वपक्ष के रूप मे तथाकथित मुक्तियो का उल्लेख करते हैं—

सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धामुक्तिः ॥४९॥

सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य भेद से चार प्रकार की मुक्ति है ।

ईश्वर के लोक मे निवास करने से 'सालोक्य', सेवक के समान ईश्वर के पास रहने से 'सामीप्य', छोटे भाई के समान ईश्वर के साथ रहने से 'सानुज्य' और ईश्वर से सयुक्त होने से 'सायुज्य' मुक्ति होती है ॥४९॥

इसकी समीक्षा करके उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

नेय मुक्तिः स्वतस्सिद्धे ॥५०॥

स्वत सिद्ध होने से यह मुक्ति नहीं ।

यहा न बन्धन है और न छूटने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है । फिर मुक्ति कैसी ॥५०॥

क्योकि—

ईश्वराधिष्ठिते लोके निवासाज्जीवस्य सालोक्यम् ॥५१॥

ईश्वर द्वारा अधिष्ठित लोक मे जीवो के निवास करने से उनका 'सालोक्य' है ।

जितने भी लोक लोकान्तर हैं सब ईश्वर के हैं । कृमि, कीट, पतग, पशु, पक्षी, मनुष्यादि प्राणी कही भी रहे, ईश्वर के लोक मे ही रहेगे । अत. इस रूप

मे 'सालोक्य' मुक्ति प्राणिमात्र को सदा स्वत प्राप्त है। उसके निमित्त कोई प्रयत्न अपेक्षित नही ॥५१॥

इसी प्रकार–

अन्तर्यामित्वादीश्वरस्य सामीप्यम्॥५२॥

ईश्वर के अन्तर्यामी होने से 'सामीप्य' है।

ईश्वर कण-कण मे व्याप्त है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः' (यजु ४०-५)-परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर है और बाहर भी। गीता मे कहा–'ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' अर्थात् ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय मे विद्यमान है। ऐसे ईश्वर से दूर कोई कैसे रह सकता है ? इस रूप मे 'सामीप्य' मुक्ति प्राणिमात्र को अनायास उपलब्ध है। एतदर्थ 'अत्यन्त पुरुपार्थ' करने का प्रश्न ही नही उठता ॥५२॥

वैसे ही–

ईश्वरापेक्षयाल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात्सानुज्यम् ॥५३॥

ईश्वर की तुलना मे अल्पज्ञत्वादि गुणो के होने से 'सानुज्य'है।

ईश्वर के समान जीव अनादि तथा चेतन होने से उसके वधुवत् है। किन्तु अल्पज्ञ एव अल्पशक्ति होने से उससे छोटा है। जीव न उसके समान हो सकता है और न उससे वडा। अत उसका 'सानुज्य' स्वत सिद्ध है ॥५३॥

इसी प्रकार–

व्याप्यव्यापकसम्बन्धात्सायुज्यम् ॥५४॥

व्याप्य–व्यापक सम्वन्ध होने से 'सायुज्य' है।

सर्वव्यापक होने से ईश्वर जीव मे भी व्यापक है, जीव व्याप्य है। इस व्याप्यव्यापक सम्वन्ध को जीव चाह कर भी अन्यथा करने मे असमर्थ होने से ईश्वर से सदा सयुक्त है। इस प्रकार उसका 'सायुज्य' सदा से स्वत सिद्ध है ॥५४॥

मोक्ष का अधिकारी वही है जिसके पास उसकी प्राप्ति के साधन है–इसे सूत्रवद्ध किया–

साधनचतुष्टयैर्युक्तो मोक्षाधिकारी ॥५५॥

चार साधनो से युक्त पुरुष मोक्ष का अधिकारी है।

चार साधनो का उल्लेख अगले सूत्र मे किया—

विवेको वैराग्य षट्कसम्पत्तिः मुमुक्षुत्वञ्च साधनचतुष्टयम् ॥५६॥

विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—ये चार मुक्ति के साधन हैं ॥५६॥

अगले सूत्रो मे इन साधनो की व्याख्या की है—

गुणकर्मस्वभावाभिज्ञानपूर्वक वस्तूनाममुपयोगो विवेक ॥५७॥

पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर उनका यथावत् उपयोग 'विवेक' है।

यथार्थ ज्ञान के विना मुक्ति सभव नही। अतः मोक्षपथ का अनुगमन करने वाले के लिये पृथिवी से परमेश्वर पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव को जानना अनिवार्य है। पदार्थ के गुणो को जाने विना उसका उपयोग नही हो सकता। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्म देहादि को आत्मा अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न समझ कर उससे विपरीत मानना अविद्या है जो समस्त दुःखो का मूल है। विवेक हो जाने पर इसका प्रतिकार होता है। यह विवेक ज्ञान सर्वप्रथम शास्त्रो के अध्ययन तथा आप्त पुरुषो के सदुपदेश से होता है। अनन्तर युक्तिपूर्वक मनन द्वारा पुष्ट एव दृढ होता है। जब आत्मा यह जान लेता है कि यह शरीर, इन्द्रिय, भौतिक पदार्थ आदि प्राकृतिक रचना हैं और इस कारण जड़ एव परिणामी पदार्थ हैं तथा देह आदि से भिन्न आत्मतत्व चेतन एव अपरिणामी है तब वह उनका यथार्थ उपयोग करते हुए प्रकृति से असम्पृक्त शुद्ध रूप का साक्षात्कार करता है ॥५७॥

सत्याचरणानुष्ठानमसत्याचरणपरित्यागश्च वैराग्यम् ॥५८॥

सत्याचरण का अनुष्ठान और असत्याचरण का त्याग 'वैराग्य' कहाता है।

जब मनुष्य विवेक द्वारा सत्यासत्य—पदार्थों के सदसत्स्वरूप को जान लेता है अर्थात् प्रकृति—पुरुष के भेद को भली प्रकार समझ लेता है तो नित्य पदार्थों की ओर प्रवृत्त और अनित्य पदार्थो मे वितृष्ण हो जाता है। यही वैराग्य का स्वरूप है ॥५८॥

शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि षट्कसम्पत्ति ॥५९॥

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छह षट्कसम्पत्ति हैं ॥५९॥

धर्माचरणे प्रवृत्तिः शमः ॥६०॥

आत्मा और अन्तःकरण को अधर्म से हटाकर धर्माचरण मे प्रवृत्त रखना 'शम' है ॥६०॥

जितेन्द्रियत्व दमः ॥६१॥

श्रोत्रादि इन्द्रियो और शरीर को व्यभिचारादि दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों मे लगाना 'दम' है ॥६१॥

हर्षामर्षौ परित्यज्य मोक्षसाधनेषु प्रवर्त्तनं तितिक्षा ॥६२॥

निन्दा–स्तुति, हानि-लाभ चाहे कितना ही क्यो न हो, हर्ष शोक को छोड कर मोक्ष प्राप्ति के साधनो मे प्रवृत्त रहना 'तितिक्षा' है ॥६२॥

श्रुतिष्वाप्तवचनेषु च विश्वासस्तदनुकूलमाचरणञ्च श्रद्धा ॥६३॥

वेदादि सच्छास्त्रो तथा उनके ज्ञाता आप्त पुरुषो के वचनो मे विश्वास तथा उनके अनुकूल आचरण 'श्रद्धा' है ॥६३॥

चित्तस्यैकाग्रता समाधानम् ॥६४॥

चित्त की एकाग्रता को 'समाधान' कहते हैं ॥६४॥

परानुरक्तिर्मुक्तौ मुमुक्षुत्वम् ॥६५॥

मुक्ति मे परम अनुराग 'मुमुक्षुत्व' है ।

जैसे क्षुधा–तृषातुर को अन्न जल के अतिरिक्त अन्य कुछ नही सूझता वैसे ही हर समय मुक्ति के साधनो में प्रवृत्त रहना 'मुमुक्षुत्व' कहाता है ॥६५॥

ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति सभव नही, अपितु—

ज्ञानकर्मोपासनाना समन्वयात्तत्सिद्धिः ॥६६॥

ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) है । शरीर की बनावट भी इन दो गुणो की साक्षी है । शरीर मे दो प्रकार की इन्द्रिया हैं–ज्ञानेन्द्रिया और कर्मेन्द्रिया । ज्ञानेन्द्रियां आत्मा के 'कर्म' रूप गुण को सार्थक करने के लिये है और कर्मेन्द्रिया आत्मा के 'ज्ञान' गुण को सफल करने के लिए । वस्तुत जानना जानने के लिये नही, करने के लिये होता है । कर्म को दिशा निर्देश ज्ञान से मिलता है । ज्ञान के बिना कर्म अन्धा और कर्म के बिना ज्ञान लगडा है । दोनो के सयोग अथवा सहयोग से जीवन यात्रा सम्भव है । किन्तु ज्ञान और कर्म मिल कर आत्मा को कहा ले जायेंगे ? यदि ज्ञान और कर्म का कोई लक्ष्य नही तो वे बन्धन से मुक्त करने के स्थान पर उसे और दृढ कर देंगे । अत दोनो का समान उद्देश्य है आत्मा को परमेश्वर के निकट पहुचाना । ज्ञान और कर्म दोनो मे सामजस्य स्थापित करते हुए यजुर्वेद (४०-११) मे कहा–'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' अर्थात् कर्म से मृत्यु को पार कर (आत्मा) ज्ञान से अमरता को

प्राप्त करता है। यह अमरता परमेश्वर के सानिध्य मे मिलती है। 'यस्यच्छायाऽमृतम्' (यजु) जिसकी छाया मे मोक्ष मिलता है--मे यही भाव निहित है। जिस प्रकार ताप गुण से युक्त अग्नि के सामीप्य से उष्णता प्राति होती है उसी प्रकार आनन्दस्वरूप परमेश्वर की उपासना (पास बैठने से) आनन्द की उपलब्धि होती है। अत ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए परमेश्वर की ओर बढना ही मोक्षाभिलाषी का कर्त्तव्य है ॥६६॥

मोक्ष जैसी महान् उपलब्धि एक दिन मे नहीं होती। अपितु—

अनेकजन्मसंसिद्धेः ॥६७॥

अनेक जन्म के प्रयत्नो के फलस्वरूप मुक्ति मिलती है।

मुक्ति के लिये अपेक्षित साधनो का अभ्यास दीर्घकाल तक करना पडता है और वह भी इस प्रकार कि अन्तराल मे कभी उसका विच्छेद न होने पाये। श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित यह अभ्यास अनेक जन्म पर्यन्त करते रहना पडता है। तब कही मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६७॥

षष्ठ अध्याय

सृष्टि

नित्याया सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक्पृथग्वर्तमानानां तत्वावयवानां प्रथम संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिः ॥१॥

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणो की साम्यावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् विद्यमान तत्वावयवो के सयोग का प्रथम आरम्भ और सयोग विशेषो से अवस्यान्तर को प्राप्त हो स्थूल आकार का रूप धारण करना 'सृष्टि' कहाती हैं ॥१॥

अव सृष्टि रचना मे कारणो का उल्लेख करते हैं—

निमित्तमुपादानं साधारणञ्चेति त्रीणि कारणानि ॥२॥

निमित्त, उपादान और साधारण--सृष्टि रचना मे ये तीन कारण हैं ॥२॥

निर्माता निमित्तम् ॥३॥

निर्माता अथवा रचयिता निमित्त कारण कहाता है ।

जिसके वनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वय न बने, दूसरो को प्रकारान्तर से वनादे उसे निमित्त कारण कहते हैं ॥३॥

तच्च द्विविधं मुख्यं साधारणञ्चेति ॥४॥

और वह (निमित्त कारण) दो प्रकार का होता है--मुख्य और साधारण ॥४॥

सर्गस्योत्पादयिता परमेश्वरो मुख्य निमित्तम् ॥५॥

सृष्टि को कारण से बनाने वाला परमात्मा मुख्य निमित्त कारण है ॥५॥

सर्गात्पदार्थानादाय कार्यान्तराणां स्रष्टा जीवात्मा साधारणं निमित्तम् ॥६॥

परमेश्वर की वनाई सृष्टि मे से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर करने वाला जीवात्मा साधारण निमित्त कारण है ॥६॥

अवस्थान्तरित विकारापन्नमुपादानम् ॥७॥

अवस्थान्तर को प्राप्त होकर वनने विगडने वाला उपादान कारण कहाता है ॥७॥

निमित्तोपादानाभ्यामन्यत् साधारणम् ॥८॥

निमित्त और उपादान से अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन साधारण कारण कहाते हैं ।

घडे के वनने मे कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल, प्रकाश आदि साधारण कारण हैं ॥८॥

अगले सूत्र मे उपादान कारण का कथन किया है—

प्रकृतिरेवोपादानकारणम् ॥९॥

सृष्टि रचना मे उपादान कारण प्रकृति ही है ।

'प्रक्रियते अनयेति प्रकृति '—जिसमे कोई पदार्थ वनाया जाये उसे प्रकृति कहते हैं । कार्यावस्था मे आने पर वह नाम-रूप को धारण करती और विकृति कहाती है । 'प्रकृति' शब्द ही इस वात को सिद्ध करता है कि जगत् का मूल-भूत उपादान कारण प्रकृति ही है ।

जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म अभौतिक एव अपरिणामी है । जो स्वय अभौतिक एव अपरिणामी है वह भौतिक एव परिणामी जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है ? निमित्त कारण को उपादान कारण वनते कभी किसी ने नही देखा । फिर परमेश्वर ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है ? ऐसा मानना सृष्टिक्रम के सर्वथा विरुद्ध होगा ।

जगत् की उपादानकारणता मे प्रकृति के साथ अन्य किसी की साझेदारी नही है । शकराचार्य के अनुयायियो ने 'परिणाम' के साथ कल्पनामूलक 'विवर्त्त' को खडा करके इस तथ्य पर परदा डालने का प्रयत्न किया । परन्तु प्रयास करने पर भी वह ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया (मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्-श्वेत) नामक तत्त्व की उपादानकारणता तो न हटा सके । यदि प्रकृति के सहयोग के विना ब्रह्म स्वय ही जगद्रूप मे प्रगट होता, तो उसमे परिणामित्व आदि दोषो की प्राप्ति होती और 'कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट ' के सिद्धान्त के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म के अनुरूप होता ।

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की वाधा न होने से प्रकृति जगत् का कारण है)—वेदान्तदर्शन (१-४-२३) के इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म इस जगत् की रचना करता है । कठोपनिषद् (५-८) मे कहा है—'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति काम काम पुरुषो निर्मिमाण ' अर्थात् सोते हुओ मे जागने वाले चेतन ने सकल्प के अनुसार इस जगत्

का निर्माण किया। निर्माता द्वारा यह सकल्पपूर्वक निर्माण प्रकृति-उपादान के विना सम्भव नही। जगन्निर्माता ब्रह्म का सकल्प नित्यज्ञानरूप है। ज्ञान निश्चित रूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। इस सकल्परूप ज्ञान का विषय वह प्रकृति तत्त्व है जिसे निर्माता जगद्रूप मे परिणत करता है। सर्ग से पूर्व केवल ब्रह्म जागता रहता है। वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूप मे परिणत करता है। जगत् की उत्पत्ति मे प्रेरयिता अथवा निर्माता के रूप मे जैसे ब्रह्म निमित्त कारण है वैसे ही प्रकृति उसका उपादान कारण है। यदि प्रकृति को कारण न माना जाये तो इस प्रतिज्ञा वाक्य की अनुकूलता नही रहेगी। ॥९॥

आगे प्रकृति का लक्षण कहा गया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥१०॥

सत्त्व, रजस्, और तमम् की साम्य अवस्था प्रकृति कहाती है।

सत्त्व (शुद्ध) रजस् (मध्य) तमस् (जाड्य) ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व हैं। साम्यावस्था मे इनके सघात का नाम प्रकृति है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूलभूत स्थिति 'प्रकृति' है। अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप मे परिणत नही होते प्रत्युत मूलकारणरूप मे अवस्थित रहते हैं तभी तक इनका नाम प्रकृति है। इसमे विकृति अथवा वैषम्य आने पर नाम-रूप युक्त सृष्टि बनती है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था मे सभव है, इसलिये प्रकृति स्वरूप को साम्यावस्था कह कर स्पष्ट किया है। विकृति का ही दूसरा नाम कार्यावस्था है। समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है। इस प्रकार कार्यमात्र का यही मूल उपादान होने से भले ही इसे एक कहा जाये, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप मे कोई तत्त्व नही है। वस्तुत मूल तत्त्व तीन वर्ग मे विभक्त है परन्तु उनकी सख्या अनन्त है।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान कारण–प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन–नामक तीन प्रकार के तत्त्वो को मानता है। प्रोटोन तत्त्व आकर्षण शक्ति का पुज है। इसके विपरीत इलेक्ट्रॉन अपकर्षण स्वरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है जबकि दूसरा अपने को अपकर्षण (दूर रहने या हटने) मे प्रवृत्त रखता है। इनको क्रमश पाजिटिव और नैगेटिव पावर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन मे ये दोनो बातें नही होती। समस्त विश्व के मूल मे ये ही तीन तत्त्व हैं। इन्ही से सब जगत् बना है।

भारतीय दर्शन मे सत्त्व-रजस्-तमस् को मूलतत्त्व माना गया है। समस्त जड जगत् इन्ही तत्त्वो से मिल कर बना है। सत्त्व प्रीतिरूप है। प्रीति का अर्थ है-दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् अप्रीतिरूप है और इस कारण दूर हटने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् विषादरूप है अर्थात् न प्रीतिरूप है और न अप्रीतिरूप।

इस सतुलन का यह अभिप्राय नही कि 'सत्त्व-रजस्-तमस्' क्रमश पूर्णतया 'प्रोटोन-इलेक्ट्रॉन-न्यूट्रॉन' हैं। किन्तु मूल तत्त्वविषयक चिन्तन मे आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन दोनो मे पर्याप्त समानता है। इस सतुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय तत्त्वज्ञ ऋषियो ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि भारतीय दार्शनिको का चिन्तन उससे भी परे मूल अवस्था की ओर हो।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप मे परिवर्तित हो जाती हैं अपितु ऊर्जा (ऐनर्जी) को वस्तु-तत्त्व (मैटर) के रूप मे तथा वस्तु-तत्त्व को ऊर्जा के रूप मे भी परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चित रूप मे कहा जा सकता है कि ऐनर्जी और मैटर का मूल उपादान तत्त्व एक ही है अथवा मूल मे वे दोनो एक हैं।

कारणरूप प्रकृति एक होते हुए भी अनेक सम्भाव्यताओ से युक्त है। उस एक मे अनन्त शक्तिया अन्तर्हित रहती हैं। उदाहरण के रूप मे—स्वर्ण से अगूठी कगन, कठहार आदि कितने ही आभूषण बनाये जा सकते हैं। कार्यरूप मे विविध नाम-रूप वाले होने पर भी कारणरूप मे सब एक—स्वर्ण हैं। स्वर्ण उन सबकी साम्यावस्था है जिसमे अनेक नाम-रूपयुक्त आभूषणो की सम्भाव्यता अन्तर्हित है। इसी प्रकार घडे, सुराही, खिलौने आदि के उपादान कारण की साम्यावस्था मिट्टी है। सुनार और कुम्हार स्वर्ण और मिट्टी को जैसा चाहे रूप-आकार दे सकते हैं। किन्तु कार्यावस्था मे आजाने पर उनसे जो चाहे नही बनाया जा सकता। साम्यावस्थारूप प्रकृति से विकृति की अवस्था मे पहुचने पर उनका सामर्थ्य सीमित हो जाता है। आटे से रोटी, पूरी, मठरी आदि कुछ भी बनाया जा सकता है। किन्तु एक बार आटे की रोटी बन जाने पर फिर उससे पूरी, मठरी आदि कुछ और नही बनाया जा सकता। इस प्रकार साम्यावस्थारूप प्रकृति ऐश्वरी सृष्टि का उपादान कारण है, कार्यावस्था को प्राप्त विकृति नही ॥१०॥

प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं जगत्कारणं सृष्टे. पूर्वम् ॥११॥

सृष्टि से पूर्व जगत् का(उपादान)कारण प्रकृति अव्यक्त दशा मे रहती है।

जब तक सृष्टि उत्पन्न नही होती तब तक प्रकृति सूक्ष्मावस्था मे होने के कारण अव्यक्त रहती है। उस समय पृथिवी, जल, वायु आदि की तो बात ही क्या, नेत्रो से दिखाई न देने वाला शून्य आकाश भी नही होता। ऋग्वेद (१०-१२९-३) मे उस अवस्था का वर्णन 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' कह कर किया गया है। ऋग्वेद के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति(१-५)मे इस प्रकार किया है—

आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेय प्रसुप्तमिव सर्वत. ॥

सृष्टि से पहले यह जगत् तमोभूत (कारणरूप) न किसी से जानने, न तर्क मे लाने और न प्रसिद्ध चिन्हो से युक्त इन्द्रियो से जानने योग्य होता है।

ऐतरेय उपनिषद् के आरम्भ मे कहा है--'आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति। स इमाल्लोकान-सृजत'। सर्ग से पूर्व एक आत्मा था (हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे) अन्य कोई वस्तु झपकती न थी। उसने ईक्षण किया--लोको-नानारूप सृष्टि का सर्जन किया जाय, उसने ऐसा किया।

उपनिषद् के 'नान्यत्किचन मिषत्' तथा नासदीय सूक्त (ऋग् १०-१२६) मे आये 'अन्यन्न पर कि चनास' शब्दो को देखकर कुछ लोग यह समझ बैठते हैं कि यह सारा जगत् ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, प्रकृति आदि जगत् का उपादान कारण कुछ नही है। वस्तुत इस सूक्त से जगत् की उत्पत्ति के कारणो मे से परब्रह्म रूप निमित्त कारण की प्रधानता दिखाई गई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे आये 'इय विसृष्टिर्यत आवभूव' शब्दो से स्पष्ट है। यहा ऐसा कोई सकेत नही है जिससे यह प्रतीत हो कि वह ब्रह्म स्वय जगद्रूप मे परिणत हो जाता है। यहा परब्रह्म की जगदुत्पादक शक्ति की प्रशसा या प्रधानता अभि-प्रेत है, न कि सत् प्रकृति का निषेध ॥११॥

अगले सूत्र मे नासदीय सूक्त के अन्तर्गत 'नासदासीन्नोसदासीत' का स्पष्टी-करण किया है—

न सदासीन्नोसदासीदिति व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात् ॥१२॥

सत् असत् दोनो के अभाव का निर्देश इसलिये किया है क्योकि उस समय उसका व्यवहार नही था।

समस्त व्यापृत जगत् कारण मे लीन होने से किसी वस्तु का व्यापार या क्रिया नही थी। कुछ न होता तो कालान्तर मे कहा से आ जाता ? इसलिए 'असत्' 'नही था' का अभाव था। किन्तु कारणावस्था मे होने से वह जानने योग्य अर्थात् कार्यावस्था मे नही था। जैसे जब जगत् नही था तब मृत्यु भी नही थी। क्योकि जब तक स्थूल जगत् मे कोई उत्पन्न न हो तब तक मृत्यु कैसे हो ? कारणरूप मे रहते प्रकृति अव्यक्त दशा मे रहती और इसलिये अदृश्य अथवा अज्ञात रहती है। कार्यावस्था मे विकृति बन जाने पर वह व्यवहार मे आजाने से प्रत्यक्ष हो जाती है ॥१२॥

सर्गकाल मे जगद्रूप मे व्यक्त रहने के बाद प्रलय होने पर वह पुन अव्यक्त हो जाती है—

सर्गान्तेऽपि साम्यावस्था ॥१३॥

सृष्टि का अन्त होने पर (प्रलयकाल मे) प्रकृति पुन साम्यावस्था मे प्राप्त हो जाती है।

जैसे सृष्टि से पूर्व साम्यावस्था मे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति अव्यक्त रहती है वैसे ही प्रलय हो जाने पर यथापूर्व यह जगत् मूल उपादान कारण मे लीन होकर अव्यक्त रूप रहता है। इस सन्दर्भ मे गीता के ये दो श्लोक (८, १८, १९) द्रष्टव्य है—

अव्यक्ताद् व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥
भूतग्राम स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

दिन (सृष्टि) का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि (प्रलय) होने पर उसी पूर्वोक्त मे लीन हो जाते हैं।

भूतो का यह समुदाय (इस प्रकार) बार-बार उत्पन्न होकर रात्रि होने पर निश्चित रूप से लीन हो जाता और दिन होने पर फिर प्रकट होता है ॥१३॥

जगत् को मिथ्या मानने वालो का तर्क है कि—

आद्यन्तयोरभावाद् वर्त्तमानेऽप्यभावः ॥१४॥

आदि और अन्त मे अभाव होने से वर्तमान मे भी अभाव है।

गौडपादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् कारिका मे लिखा है—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' अर्थात् जो पहले न हो और अन्त मे भी न रहे वह वर्तमान मे भी नही होता। सृष्टि से पूर्व जगत् नही था, अन्त मे भी न रहेगा। इसलिए वर्तमान मे भी उसका अस्तित्व नही है ॥१४॥

इस तर्क का उत्तर अगले सूत्र मे दिया है—

नाश. कारणलय ॥१५॥

कारण मे लय होना नाश है।

प्रथम तो जो प्रत्यक्ष है, जिसे प्रमाता प्रमाणो से जानता और प्राप्त होता है वह अन्यथा नही हो सकता। वर्तमान मे जगत् का अस्तित्व है—यह स्वत सिद्ध है। यदि कोई पदार्थ वर्तमान मे नही है तो उसके विषय मे यह कहा ही कैसे जा सकता है कि वह पहले नही था या फिर नही रहेगा। उसके पहले न होने और फिर न रहने की उक्ति ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय है। 'यहा घडा नही था और कुछ समय बाद नही रहेगा' कहने से स्पष्ट है कि वह इस समय यहा है। यह ठीक है कि सयोगज पदार्थ सयोग से पहले नही

होता और वियोग के बाद नही रहता। किन्तु सयोग होता ही विद्यमान सत् पदार्थों का है, अभाव का नही। जो पदार्थ है ही नही उसके सयोग अथवा वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के सामर्थ्य मे अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पहले भी था, अव भी है और आगे भी रहेगा। यह अवश्य है कि सृष्टि से पूर्व प्रलय काल मे और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय प्रारम्भ होने से जब तक पुन सृष्टि रचना न होगी तव तक उपादान कारण प्रकृति के साम्यावस्था मे रहने से वह उसकी अव्यक्त दशा है जवकि वर्तमान मे वह व्यक्त है।

वास्तव मे इस भ्रान्ति का कारण है प्रकृति और विकृति के भेद को न समझना। विकृति का दूसरा नाम परिवर्तन या रूपान्तर है। किन्तु नामरूप का परिवर्तन नाश का द्योतक नही है। जो सत् है वह सत् रहेगा और जो असत् है वह असत् रहेगा। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' (गीता २-१६) सत् से असत् अथवा असत् से सत् कभी नही होगा। ससार आज तक विद्यमान है तो उसका सत् होना निश्चित है। वस्तुत. किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश या अभाव कभी नही होता। अभिव्यक्ति अवस्था मे आने पर जव वह अपने रूप का परित्याग करती है तो या तो वह रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था मे चली जाती है। इसी स्थिति को साधारणतया उस कार्यवस्तु के नाश का नाम दे दिया जाता है। परन्तु उत्पत्ति से पहले और पीछे भी उसका अस्तित्व अपने कारण मे वरावर वना रहता है। मूलतत्त्व सदा वर्तमान रहता है। आभूषण के आभूषण रूप मे नष्ट हो जाने पर भी सोना वना रहता है जो कार्यावस्था मे उसका उपादान है। घडा फूट जाने पर भी मिट्टी शेष रह जाती है। इसी प्रकार नामरूप जगत् का अन्त हो जाने पर भी मूल उपादानकारण प्रकृति अपनी कारणावस्था मे सदा वनी रहती है। आदि और अन्त मे कार्य के न रहने का अर्थ अपने कारण मे लय होना है, न कि अभाव रूप होना।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप मे परिवर्तित हो जाती है। कतिपय वैज्ञानिको की यह भी स्थापना है कि ऊर्जा को वस्तुतत्त्व मे और वस्तुतत्त्व को ऊर्जा मे परिवर्तित किया जा सकता है। वस्तुतः ऊर्जा और वस्तुतत्त्व दोनो मूल मे एक हैं। भारतीय दर्शन की भी यही मान्यता है कि सर्वात्मना विनाश किसी पदार्थ का नही होता, परिणामस्वरूप उसकी अवस्था भले वदलती रहे। वह एक स्थिति से दूसरी मे परिवर्तित हो जाता है। पर सर्वथा नष्ट कभी नही होता। अदृश्य हो जाना ही नष्ट हो जाना है। सस्कृत व्याकरण मे 'नाश' पद का धातु 'णश्' अदर्शन अर्थ मे कहा है। कारण मे लय होने को लोक मे नाश का नाम दे दिया जाता है ॥१५॥

उपादान कारण प्रकृति के जड होने से उसके कार्यावस्था मे आकर सृष्टि रचना मे समर्थ होने के लिए निमित्त कारण का होना अनिवार्य है—

प्रवृत्यनुपपत्तेरचेतनस्य प्रवर्त्तकत्वोपपत्ति ॥१६॥

अचेतन मे प्रवृत्ति की उपपत्ति न होने से प्रवर्तक का होना सिद्ध है।

चेतन निरपेक्ष प्रकृति जगत् को उत्पन्न नही कर सकती क्योकि जड होने के कारण वह स्वय कर्म मे प्रवृत्त नही हो सकती। 'सकर्तृकैव क्रिया'-इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के विना कोई क्रिया नही होती और न क्रियाजन्य किसी पदार्थ की रचना हो सकती है। जिन पृथ्वी आदि पदार्थों की सयोग-विशेष से रचना होती है वे अनादि नहीं हो सकते। जो सयोग से वनता है उसका सयोग करने वाला उससे भिन्न कोई दूसरा अवश्य होता है। चेतन की प्रेरणा के विना जड प्रकृति स्वत जगद्रूप मे परिणत नही हो सकती। घी, सूजी, चीनी आदि को पास २ रखने पर हलवा नही वन जाता, काग़ज़, स्याही और लेखनी को एकत्र रख देने पर ग्रन्थ नही लिखा जाता, हल्दी, चूना और नीवू को एक साथ रख देने से रोली नही वन जाती। काग़ज़, व्रुश और रग रख देने मात्र से चित्र तैयार नही हो जाता। इसी प्रकार जड प्रकृति के परमाणुओ को ज्ञान और युक्ति से मिलाये विना सृष्टि की रचना नही हो सकती।

कुछ लोगों का कहना है कि जैसे दूध स्वयमेव दही मे परिणत हो जाता है वैसे ही प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। वस्तुत दूध का दधि रूप मे परिणाम स्वत नही होता। यदि दूध को आप ही आप दही वनने को छोड दिया जाये तो कालान्तर मे वह विकृत भले ही हो जाये, दधिरूप मे परिणत् नही होगा। दूध को दधिरूप मे परिणत होने के लिये उसे ठीक तरह से उवालना, यथासमय उचित मात्रा मे उसमे जामन देना और अनुकूल तापमान मे उसे सुरक्षित रखना आवश्यक है। यह सव प्रक्रिया चेतन के सहयोग के विना सम्भव नही। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया के विना अभीष्ट की सिद्धि नही हो सकती। घुणाक्षरन्याय से कोई एक अक्षर भले ही वन जाये, किसी काव्य की रचना सम्भव नहीं। आकाश मे उडते वादलो मे किसी आकार की क्षणिक प्रतीति हो सकती है। किन्तु किसी जीते जागते प्राणी की सृष्टि नहीं हो सकती।

सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नही। जगत् के मूल उपादान जड तत्त्व स्वय कार्यरूप मे परिणत होकर व्यवस्थित जगत् की रचना नही कर सकते। लोक लोकान्तरो की रचना मे जो आश्चर्यजनक कौशल दीख पडता है वह किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की प्रेरणा की अपेक्षा रखता है। अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य आज तक स्वय अपने शरीर की रचना को भी पूरी तरह नही समझ पाया। जिस माता के गर्भ मे नौ मास तक उसका निर्माण होता रहता है वह भी इस विपय मे सर्वथा अनभिज्ञ है। परोक्ष रूप मे मूल उपादान तत्त्वो को सर्वत्र सर्वदा प्रेरणा देने वाला ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है।

मुण्डकोपनिषद् (२-१-५) मे आया है–'पुमान् रेत सिञ्चति योषितायां बह्वी प्रजा पुरुषात्सम्प्रसूता' अर्थात् पुमान्-परमात्मा योषित्-प्रकृति मे प्रेरणा-रूप रेत सिंचन करता है और इस प्रकार पुरुष से समस्त प्रजा प्रसूत होती है। परमात्मा का रेतः सिंचन जगत् सर्ग के लिए ईक्षण द्वारा प्रकृति मे प्रेरणा देना ही है ॥१६॥

प्रकृति को विकृति मे परिवर्तन कर सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय मे प्रवृत्त रहने पर भी परमेश्वर बन्धन या दु ख मे नही पडता । क्योकि—

असङ्गोऽयं प्रवर्त्तक ॥१७॥

(प्रकृति का) प्रेरयिता (परमात्मा) असङ्ग है ।

परमेश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है । निमित्त कारण उपादान तत्त्वो से नामरूप की सृष्टि करता हुआ स्वय अविकारी एव अपरिणामी रहता है । अपने वनाये पदार्थों पर अपनी बुद्धि, कला-कौशल तथा सामर्थ्य की छाप को छोड कर वह उनसे अलग रहता है–उनमे भागी नही होता । उसे जानने, खोजने और पाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पडता है ।

वन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा से वन्ध और बन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है । जो नित्य मुक्तस्वभाव है उसके कभी भी बद्ध होने का प्रश्न ही नही उठता । एकदेशी जीव ही वद्ध और मुक्त होते हैं, सर्वदेशी परमेश्वर नैमित्तिक मुक्ति के चक्र मे नही फसता । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि' (यजु ३१-२) अनन्त-गुण-कर्म स्वभाव युक्त किंचिन्मात्र जगत् की उत्पत्ति--स्थिति--प्रलय करता हुआ बन्धन मे नही पडता । सुख-दु ख कर्मों के फलस्वरूप होते हैं और सभी प्रकार के कर्म देह, अन्त करण आदि के धर्म है । अत 'अकाय' और 'अकाम' होने से ईश्वर न कर्मों में लिप्त होता और न इनके फलस्वरूप सुख दु ख का भोक्ता होता है ॥१७॥

अब सृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं दृश्यम् ॥१८॥

भूत तथा इन्द्रिय रूप मे परिणाम को प्राप्त प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति स्वभाव वाले सत्त्वादि गुणो को दृश्य कहते हैं ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रकाश ये पाँच स्थूल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से लक्षित पाच सूक्ष्म इन दशो का नाम 'भूत' है। वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन इन ग्यारह का नाम 'इन्द्रिय' है। सत्व प्रकाशशील, रजस् क्रियाशील और तमस् स्थितिशील है। अर्थात् प्रकाश-शक्ति का नाम 'सत्त्व', क्रियाशवित का नाम 'रजस्' और प्रकाश तथा क्रिया शक्ति के प्रतिबन्धक आवरणशवित का नाम 'तमोगुण' है। ये सव गुण परस्पर

उपरक्त प्रविभाग, सयोगविभागरूप धर्म से युक्त हैं और अन्योऽन्याश्रय द्वारा पृथ्वी आदि का उत्पादन करते हैं।

आन्तर तथा वाह्य सभी पदार्थ प्रकाश, क्रिया और स्थिति—इन तीन भावो का स्वरूप हैं। अत. सत्त्व, रजस् और तमस् ही जगत् के मूल उपादान हैं। प्रकाश, क्रिया और स्थिति परस्पर अविनाभाव-सम्वन्ध से सम्वद्ध हैं। एक भाव रहने से अन्य दो भाव भी रहते हैं। इनमे से किसी एक भाव की प्रधानता रहने से उसी गुण के अनुसार पदार्थ की आख्या होती है। यह आख्या आपेक्षिकता को ही सूचित करती है। केवल 'सात्त्विक' कोई वस्तु नही हो सकती। सात्त्विक द्रव्य अन्य राजस् और तामस् द्रव्य से अधिक सात्त्विक है—यह समझना चाहिये। जैसे 'ज्ञान' मे प्रकाशगुण अधिक होने से उसे सात्त्विक कहा जाता है क्योकि वह 'कर्म' की अपेक्षा 'अधिक' सात्त्विक होता है। राजस और तामस के सम्वन्ध मे भी ऐसा ही नियम है। इस प्रकार प्रत्येक गुण प्रत्येक द्रव्य मे न्यूनाधिक रहता है।

यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात् जिस प्रकार भूतभाव या पृथिव्यादि सूक्ष्म-स्थूलरूप मे परिणत होते हैं उसी प्रकार इन्द्रियभाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप मे परिणत होते हैं। इस प्रकार भूत और इन्द्रियरूप से परिणत सत्त्वादिगुणरूप विकृति का नाम 'दृश्य' है ॥१८॥

अगले सूत्र मे सृष्टि के प्रयोजन का कथन करते हैं—

तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य ॥१९॥

और वह पुरुष (जीव) के भोग और अपवर्ग के लिये है।

'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्त प्रवर्त्तन्ते' साधारण मनुष्य भी विना प्रयोजन के किसी कार्य मे प्रवृत्त नहीं होता। अत. सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म द्वारा सृष्टिरचना का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये। 'स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च' (श्वेत ६-८)—परमेश्वर मे अनन्त ज्ञान, वल और क्रिया है। सृष्टि रचना उसका स्वाभाविक गुण है। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने मे सफल है। किन्तु स्वभावत जगत् की रचना निष्प्रयोजन नहीं है। अद्वैतवादियो के मत मे तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है। इसलिये सृष्टि का निर्माण उसने अपने लिये ही किया होगा। परन्तु वह स्वय तो 'अकामो धीरो अमृत स्वयम्भू रसेन तृप्त न कुतश्चनोन.' (अथर्व १०-८-४४) है। वह पूर्ण, अकाम तथा आनन्दस्वरूप है। उसे अपने लिये कुछ नही चाहिये। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। जगत् की रचना मे ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। 'सहतपरार्थत्वात्' परप्रयोजनार्थ उसे मानना होगा। प्रकृति स्वय भोग्य और अचेतन है। इसलिये अचेतन भोग्य जगत् का भोक्ता कोई चेतन हो सकता है। 'तस्यातमानु-

ग्रहाभावे भूतानुग्रह प्रयोजनम्' (योगदर्शन १-२५ व्यासभाष्य) उसकी अपनी किसी भलाई के न होने पर प्राणियो की भलाई के लिये ब्रह्म सकल्पमात्र से अनादि उपादान तत्त्व प्रकृति से स्वभावत जगत् की रचना करता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति सर्वतोभावेन जीव के लिए प्रवृत्त रहती है। चेतन तत्त्व-जीव का प्रयोजन है--भोग और अपवर्ग। जीवो के पाप-पुण्यो का फल देने और मोक्ष प्राप्ति कराने के लिये ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। प्राकृत पदार्थों से आत्मा का भोग प्रत्यक्ष सम्पन्न होता है। अपवर्ग की सिद्धि समाधि-लाभ से आत्मसाक्षात्कार होने पर होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग से आत्मा समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्मा के अपवर्ग के लिये यही सृष्टि का उपयोग है। विवेकज्ञान हो जाने पर परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से उसके लिये सृष्टि का कोई प्रयोजन नही रहता। किन्तु ऐसा समय कोई नही आता जब भोक्ता आत्माओ का सर्वथा अभाव हो जाये (समस्त असख्य जीवो का एकसाथ मुक्त हो जाना सम्भव नही और मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर जीवो की मुक्ति से पुनरावृत्ति होने से समय-समय पर उनका प्रत्या-गमन होता रहता है)। जब तक भोक्ता आत्मा विद्यमान हैं तब तक सृष्टि की अपेक्षा बनी रहेगी। इस प्रकार नित्य जीवो के बन्ध-मोक्ष के कारण सृष्टि रचना का क्रम अनवरत सदा बना रहेगा ॥१९॥

यदि जीवात्माओ पर अनुग्रह की भावना से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो ससार मे दु ख और विषमता क्यो है? इस प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र मे दिया है—

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥२०॥

कर्मों की विविधता के कारण सृष्टि मे विविधता है।

प्राणियो के कर्मों की अपेक्षा से शुभाशुभ कर्मो के वैलक्षण्य से ससार मे विषमता है। नाना योनियो तथा देहादि की विभिन्नता उनकी अपनी कमाई है। नानाविध कर्मों के यथायोग्य उपभोग के लिये उन्ही के अनुसार जगत् की विविधता प्रगट होती और उपभोग मे आती है। जगत् की रचना प्राणियो के लिए है, इसलिये यह उनके अनुकूल होनी चाहिये। इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मों के आधार पर होता है। न्यायदर्शन (पूर्वकृतफलानुबन्धा-दुत्पत्ति ३-२-६०) के अनुसार शरीर आदि कार्यजगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप हुआ करती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३-२-१३) मे कहा—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन'--शुभकर्म से सुख और पाप-कर्म से दुख प्राप्त होता है। प्रश्नोपनिषद् (३-७) मे बताया--'पुण्येन पुण्य लोक नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्'—पुण्यकर्मो से जीवात्मा उच्च योनियो को प्राप्त होता है, पापकर्मो से नीच (कृमि, कीट, स्थावर आदि)

योनियो को तथा शुभाशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि को पाता है ॥२०॥

त्रिगुणेतरेतरोपाश्रयत्वाच्च ॥२१॥

और (सृष्टिरचना मे) त्रिगुणो (सत्त्व-रजस्-तमस्) के एक दूसरे मे मिथुनीभूत होने से (सृष्टि मे वैचित्र्य) है।

उपादान तत्वो की त्रिगुणात्मकता भी जगत् के वैषम्य का कारण है। पृथ्वी आदि समस्त विविध प्रकार के तत्वो तथा पदार्थों की विभिन्न रचना मूल उपादानतत्वो के विविध प्रकार के सम्मिश्रण पर आधारित होती है। सत्त्वादि सभी द्रव्य सहकारिभाव से सृष्टि करते है। सर्वत्र एक की प्रधानता और अन्य दोनो की सहकारिता रहती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियो के अनुकूल हो, इसलिये पृथिव्यादि भूतो, अन्य तत्त्वो, औषधि, वनस्पतियो आदि की रचना मे उनके कर्म सहयोगी रहते हैं। ब्रह्म केवल उनकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार ससार की विषमता एव विलक्षणता मे प्राणियो के नानाविध कर्मों के अतिरिक्त सत्त्व-रजस्-तमस् की विविध क्रियाओ का अर्थात् अन्योन्यमिथुनता का विविधरूपो मे उपस्थित होना भी कारण है। ये उपादानतत्त्व एक दूसरे के साथ जितने रूपो मे मिथुनीभूत होते हैं उनकी गणना नही हो सकती। उन अनन्त प्रकार के मिथुन के आधार पर जो कार्य उभार मे आते है वे अनन्त-रूप होंगे। तीनो गुणो के भिन्न-भिन्न अनुपात से मिलकर बनने के कारण पदार्थों मे वैविध्य अनिवार्य है ॥२१॥

उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण मे विद्यमान रहता है—सत्कार्य-वाद के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए अगला सूत्र कहा गया—

कार्यात् नियतप्राग्वृत्ति कारणम् ॥२२॥

कार्य से कारण नियमपूर्वक पहले विद्यमान रहता है।

प्रत्येक उत्पद्यमान कार्य के लिये उसके उपादान कारण के विषय मे एक नियम है। किसी कार्य के लिए किसी विशेष कारण का उपादान किया जाता है। जैसे घडा बनाने के लिए मिट्टी का और वस्त्र बनाने के लिए सूत का। इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण मे विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न हो तो कार्य के समान रूप से सर्वत्र असत् होने से जिस किसी कारण से जिस किसी कार्य की चाहे उत्पत्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा नही होता। मिट्टी से घडा और सूत से वस्त्र ही बनता है, मिट्टी से वस्त्र और सूत से घडा कदापि नही बन सकता। इससे स्पष्ट है कि मिट्टी मे घडा और सूत मे वस्त्र किसी न किसी रूप मे पहले से विद्यमान हैं। जो सर्वथा असत् है यदि वह अस्तित्व मे आ जाये तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी जो मूलत सर्वथा असभव है। इसलिये जिस वस्तु के

सम्बन्ध मे हम उत्पन्न होना कहते है वह अपनी उत्पत्ति से पूर्व सर्वथा असत् हो, ऐसा नही हो सकता। उसका अस्तित्व अपने कारण मे अदृश्य रूप मे—जैसे बीज मे वृक्ष का--सदा विद्यमान रहता है। हा, वहा वह अव्यक्तावस्था मे रहता है। जिस प्रकार 'नाश कारणलय'—कारण मे लय हो जाना नाश कहाता है उसी प्रकार कारण से (न कि अभाव से) कार्यरूप मे आ जाना अथवा अव्यक्त से व्यक्त हो जाना उत्पत्ति कहाता है। यही 'सत्कार्यवाद' है।

कार्यावस्था मे वस्तु की जिन क्रियाओ व गुणो का व्यवहार किया जाता है, कारणदशा मे उनका अभाव अवश्य रहता है। मिट्टी से घडा और सूत से वस्त्र बनता है सही। किन्तु मिट्टी से घडे का या सूत से वस्त्र का काम नही लिया जा सकता। इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण मे कारणरूप से विद्यमान होते हुए भी कार्यरूप मे असत् होता है। यही 'असत्कार्यवाद' है।

इस प्रकार देखा जाये तो पता चलेगा कि सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्यवाद' मे तत्त्वत परस्पर कोई विरोध नही है ॥२२॥

यदि कारण के बिना कोई वस्तु अस्तित्व मे नही आती, तो कारण का भी कारण मानना चाहिये। इस शका का समाधान प्रस्तुत करते है—

अमूल मूलकारणम् ॥२३॥

मूल कारण का कारण नही होता।

जो केवल कारणरूप है वह किसी का कार्य नही होता। जो किसी का कारण हो और स्वय किसी का कार्य हो वह मूल कारण नही कहाता। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। वही जगत् का आदि कारण है। समस्त चराचर अचेतन जगत् के मूलतत्त्व यही सत्त्व-रजस्-तमस् है। अखिल विश्व इनका परिणाम है, परन्तु ये किसी के परिणाम नही है। यदि इनका भी कोई उपादानकरण माना जायेगा तो आगे उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण परम्परा का कही अन्त न होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। अत सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति जगत् का मूल उपादान होने से उसका कोई कारण नही है क्योकि सब कार्यो का मूल कारण अकारण होता है ॥२३॥

नास्तिक शका करता है कि—

शून्यं तत्त्व भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥२४॥

केवल शून्य तत्त्व है। जो भाव अर्थात् वर्त्तमान है उसका नाश हो जाता है। क्योकि विनाश हो जाना वस्तुमात्र का धर्म है।

जिसे यह कहा जाता है कि 'यह है' वह सब विनाश होने वाला है। आज जो वस्तु है वह कल नही रहेगी, होने से पहले भी नही थी। इसी प्रकार जो

आज नही है, वह कल होगी और वह भी आगे न रहेगी। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अभाव से होकर अभाव मे लीन हो जाती है। अत अभाव या शून्य ही एकमात्र तत्त्व है।

अब इस शका का समाधान करते हैं—

नादृश्यतयावस्थानत्वात् ॥२५॥

अदृश्य रूप मे रहने से (विनाश) नही।

जब कोई वस्तु अपने वर्त्तमान रूप का परित्याग करती है तो या तो वह कोई दूसरा रूप धारण कर लेती है या अपने कारण मे लय होकर अदृश्य हो जाती है। वस्तुत नाश किसी वस्तु का नही होता। कारण मे लय होने को ही साधारणतया नाश समझ लिया जाता है और यह सावयव पदार्थों का होता है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नही होती। निरवयव प्रकृत्ति से सावयव पदार्थों का आविर्भाव होता है। अवयवरहित तत्त्व शून्य है। शून्य का अर्थ प्रकाश, अवकाश और विन्दु भी हैं। इन सबका अस्तित्व है। आकाश मे सब पदार्थ अदृश्य होकर रहते है। विन्दु से रेखा और रेखा से वर्त्तुलाकार होकर अनेकानेक वस्तुओ का निर्माण होता है। इसलिए सब पदार्थों को विनाशी और इस कारण केवल शून्य को एकमात्र तत्त्व नही माना जा सकता ॥२५॥

इसमे एक अन्य हेतु देते हैं—

न हि शून्याधिगन्तृ शून्यम् ॥२६॥

शून्य का जानने वाला शून्य नही होता।

यदि शून्य को जाना जा सकता है तो वह शून्य कैसे हुआ? शून्यमात्र तत्त्व है तो यदि इसकी सिद्धि के लिए प्रमाण उपस्थित किया जाता है तो स्वतः शून्यवाद का खण्डन हो जाता हैं, क्योकि उसमे जो प्रमाण साधक है, वह शून्य नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि शून्य का अर्थ अभाव है तो शून्य को जानने वाला शून्य नही हो सकता। उसका अस्तित्व तो स्वत सिद्ध है ॥२६॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥२७॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, जैसे (कारण—बीज का) मर्दन किये विना (अकुर) उत्पन्न नही होता।

जब तक बीज अपनी स्थिति मे रहता है तब तक उससे अकुर उत्पन्न नहीं होता। जब वह मिट्टी मे मिलकर अपने स्वरूप को छोडकर गलकर नष्ट हो जाता है तभी अकुर फूटता है। नाश का ही नाम अभाव है। बीज को तोड

कर देखें तो उसमें अकुर कही नही दीख पडता। इसलिये अकुर का कारण वीज नही, बीजाभाव है। इस प्रकार अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है ॥२७॥

इस युक्ति का खण्डन करने के लिए बताया—

न बीजे तदुपमर्दनकर्त्रुपलब्धे ॥२८॥

बीज मे उसके उपमर्दनकर्त्ता के (पहले ही) विद्यमान होने से (अभाव से भाव की उत्पत्ति) नही।

यदि उपमर्दन के अनन्तर अकुर उत्पन्न होता है तो उपमर्दन करने वाले का उपमर्दन काल मे विद्यमान होना आवश्यक है। वह वहा न हो तो उपमर्दन कौन करेगा ? और यदि वह वहा पहले से ही है तो उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नही उठता। जिस (अकुर) का प्रादुर्भाव होना है वह अभी है नही। तो जो स्वय ही नही वह किसी का उपमर्दन कैसे करेगा ? ॥२८॥

इसी विषय मे एक अन्य हेतु देते हैं—

विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेश्च ॥२९॥

नष्ट बीज से उत्पत्ति न होने से भी (नही, अभाव से उत्पत्ति)।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है तो उत्पन्न होने के लिए बीज की आवश्यकता ही क्या है ? बीज का गल कर नष्ट हो जाना या न होना दोनो अवस्थाओ मे बीज का अभाव समान है। तब विना बीज के अथवा सडे गले, घुने हुए या जले हुए बीज से भी अकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए। इतना ही नही, एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की--आम की गुठली से जामुन की उत्पत्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नही। लोकोक्ति प्रसिद्ध है— 'बोये पेड बबूल के आम कहा से खाय।' वस्तुत नष्ट बीज से अकुर की उत्पत्ति नही होती। बीज का गलना नष्ट होना नही, अकुर की उत्पत्ति के लिये अवस्थान्तर को प्राप्त होना मात्र है। इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति सभव नही। यदि उपमर्दकाल मे सहयोगी कारणान्तरो की उपस्थिति को आवश्यक माना जाता है तो अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त उखड जाता है क्योकि उपमर्दके सहयोगी कारणान्तर-मिट्टी, नमी, गरमी(ऊष्मा) आदि सभी भावरूप हैं। वस्तुत बीज और बीज के सहयोगी वे भावरूप कारण, भावरूप अकुर के उत्पादक होते हैं ॥२९॥

पदार्थों के कार्य-कारण भाव के विषय मे पूर्वपक्ष के रूप मे एक तर्क उपस्थित किया जाता है —

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३०॥

मनुष्य के कर्मों की विफलता देखे जाने से ईश्वर कारण है।

मनुष्य के कितने ही कर्म निष्फल दीख पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के कर्म करने से ही उनका फल प्राप्त नहीं होता। ईश्वरेच्छा के बिना मनुष्य के कितने ही कर्म व्यर्थ रहते हैं। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहता है, देता है और जिसका नहीं देना चाहता, नहीं देता। इससे कर्मफल सर्वथा ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। इसलिये 'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्' के होते हुए भी जिस ईश्वर के अधीन फलसिद्धि है उसी को कार्यमात्र का कारण मानना चाहिये ॥३०॥

इस शंका का निराकरण करने के लिये सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तेः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥३१॥

ईश्वर के अधीन कर्मों के अनुसार फल निष्पन्न होने से उक्त कथन युक्त नहीं।

यदि मात्र ईश्वर की इच्छा के अधीन कर्मफल हो तो ईश्वर को 'कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' मानकर बिना कर्म किये फलप्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होने लगे तो अकृताभ्यागम दोष होगा--शास्त्रमर्यादा के विपरीत बिना कर्म किये मनमाने फल का प्राप्त होना। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की फलप्राप्ति में न्यूनाधिक्य और वैविध्य होने से परमेश्वर पर स्वेच्छाचारिता-अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होगा। वस्तुतः जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते और उनका कर्त्ता पुरुष अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से न तो स्वकृत कर्मों की सफलता के लिए पृथ्वी आदि भूतों तथा भोग्य पदार्थों का सम्पादन कर सकता है, न उनका लेखा जोखा करके समुचित व्यवस्था कर सकता है और न पापकर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले दुःख को स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार न ईश्वर बिना कर्मों के फल दे सकता है और न कर्म बिना ईश्वर के फल दे सकते हैं। इसलिए ईश्वर जो जैसा करता है उसे वैसा फल देता है ॥३१॥

प्रत्येक कार्य बिना कारण के हो जाता है--इस स्थापना के निमित्त एक लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥३२॥

कांटों की तीक्ष्णता आदि के देखे जाने से बिना निमित्त भाव--कार्योत्पत्ति (संभव है)

कांटों की तीक्ष्णता, पर्वतों में होने वाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि का कोई निमित्त नहीं दीखता। इसलिए जैसे बिना निमित्त के इन पदार्थों की रचना हो जाती है वैसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी बिना किसी ईश्वर या कर्मफल आदि के निमित्त के स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥३२॥

इस वाद का प्रत्याख्यान करते है—

न कण्टकानुपपत्ते कण्टकिवृक्षमन्तरेण ॥५३॥

कण्टकी वृक्ष के विना काटो की उत्पत्ति न होने से (विना निमित्त के कार्योत्पत्ति) नही।

जो उपादान होता है वही उत्पन्न कार्य का निमित्त है। यदि विना निमित्त (कारण) के उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाये तो बबूल से ही क्यो, आम के पेड से भी काटे उत्पन्न हो जाने चाहियें और जामुन के पेड पर आम, खजूर आदि लग जाने चाहिये। बवूल मे काटे, आम से आम और जामुन से जामुन उत्पन्न होने मे स्पष्ट है कि इन सब के अपने-अपने निमित्त विशेष हैं। इसलिये विना निमित्त के कार्योत्पत्ति सभव नही ॥३३॥

अव पूर्वपक्ष के रूप मे अनित्यवाद का अतिपादन करते हैं—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥३४॥

उत्पत्ति और विनाश-धर्मक होने से सव अनित्य है।

जो वस्तु होकर न रहे वह अनित्य कहाती है। जो उत्पत्ति से पूर्व न हो और नाश के पश्चात् न रहे वह अनित्य है। उत्पत्ति से पहले पदार्थ नही होता और कालान्तर मे उसका विनाश हुए विना नही रहता। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय सृष्टि मे सर्वत्र व्याप्त नियम है। इस प्रकार जो कभी हो और कभी न हो वह अनित्य कहाता है। ससार मे शरीरादि कुछ पदार्थ भौतिक है और बुद्धि-सुख-दुख आदि अभौतिक। ये दोनो ही प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति और विनाश वाले होने से अनित्य हैं ॥३४॥

न सर्वगनित्यमनित्यतानित्यत्वात् ॥३५॥

अनित्यता के नित्य होने से सव अनित्य नही है।

यदि सब अनित्य है तो भी सबकी अनित्यता तो नित्य हो गई। यदि अनित्यता नित्य है तो सव अनित्य नही रहा। और यदि अनित्यता को अनित्य मान लिया जाये तो अपने आप नित्यता सिद्ध हो जायेगी ॥३५॥

इस पर प्रतिवादी अपने पक्ष की पुष्टि मे कहता है—

अनित्यताऽप्यनित्या काष्ठाग्नेर्निदर्शनात् ॥३६॥

काष्ठाग्नि के समान अनित्यता भी अनित्य है।

जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि को नष्ट करके स्वय भी नष्ट हो जाती है वैसे ही अनित्यता भी सवको नष्ट कर--अनित्य वनाकर स्वय नष्ट होजाती है। इस प्रकार सबकी अनित्यता के साथ स्वय अनित्यता भी अनित्य वनी रहती है ॥३६॥

इसका समाधान करते हुए कहा—

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥३७॥

उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होने से नित्य का प्रत्याख्यान नही किया जा सकता ।

जिसकी जैसी उपलब्धि होती है उसी के अनुसार नित्य-अनित्य की व्यवस्था की जानी चाहिये । जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान मे अभाव नही माना जा सकता । इसी प्रकार परम सूक्ष्म कारण को अनित्य नही कहा जा सकता । इसलिये जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्ति-विनाश धर्मक उपलब्ध होता है उसे अनित्य मानना चाहिये । इसके विपरीत परम सूक्ष्म परमाणुरूप मे पृथ्वी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये सव द्रव्य और इनमे समवाय सम्वन्ध से रहने वाले गुण किसी प्रमाण से विनाशधर्म वाले सिद्ध न होने से अनित्य नही माने जा सकते ॥३७॥

सर्वनित्यत्ववादी का कथन है—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥३८॥

पञ्चभूतो के नित्य होने से सब नित्य हैं ।

कारणरूप मे पचभूत नित्य हैं । किमी प्रमाण से इनका नाश सिद्ध नही होता । समस्त जगत् इन्ही पाँच भूतो से मिल कर वना है । जव पचभूतरूप कारण नित्य है तो फिर उसके कार्य अनित्य कैसे हो सकते हैं ? अत सभी पदार्थ नित्य हैं ॥३८॥

इमकी समीक्षा करते हुए कहा—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेर्घटादिवत् ॥३९॥

घटादि की भाति उत्पत्ति और विनाश का कारण उपलब्ध होने से सव नित्य नही ।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति–विनाश का कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणो से उपलब्ध है वे स्पष्टत अनित्य हैं । सव स्थूल जगत्–शरीर, घटपटादि को उत्पन्न और नष्ट होते प्रत्यक्ष देखा जाता है जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध है । अत सभी पदार्थों को नित्य नही माना जा सकता ॥३९॥

शास्त्रो मे भौतिक जगत् को कही 'सत्' और कही 'असत्' कहा गया है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए वताया—

सापेक्षिकत्वात्सदसत् ॥४०॥

'सत्' और 'असत्' दोनो सापेक्षिक हैं ।

शरीर तथा ससार दोनो 'सत्' है। इसलिये न शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए, न ससार की। परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न ससार। इसलिये न शरीर को सब कुछ माना जा सकता है, न ससार को। उपनिषदो के ऋषियो ने शरीर को 'सत्' माना परन्तु आत्मा की दृष्टि से और आत्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने ससार को 'सत्' माना किन्तु विश्वात्मा की दृष्टि से और विश्वात्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। नचिकेता ने सासारिक ऐश्वर्यों को 'श्वोभाव'--आज हैं, कल नही--कह कर ठुकरा दिया। जो मार्ग नचिकेता ने अपनाया उसी का अनुसरण मैत्रेयी ने किया। जब याज्ञवलक्य ने मैत्रेयी के सम्मुख भौतिक सुख सामग्री देने का प्रस्ताव रक्खा तो उसने पूछा--"यन्नु इय पृथ्वी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथ तेनाहममृता स्याम्"--अगर सारी पृथ्वी सुवर्ण तथा धनधान्य से भरपूर होकर मुझे मिल जाये तो क्या मैं अमर हो जाऊगी ? याज्ञवलक्यने उत्तर दिया--"यथैवोपकरणवता जीवित तथैव ते जीवित स्यात्"--जैसे साधन सम्पन्न व्यक्तियो का जीवन होता है वैसा ही तेरा होगा। यह सुन कर मैत्रेयी ने कहा "येनाह नामृता स्याम् किमह तेन कुर्याम्" जिसे पाकर मैं अमर नही हो सकती उसे लेकर मैं क्या करुगी ? (बृ उप २-४) 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' का उद्घोष करने वाले की मूल भावना कुछ ऐसी ही रही होगी कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की अपेक्षा से सत् स्वरूप जगत् मात्र मिथ्या प्रतीत होता है। वस्तुत ऐसा नही। यही समझना चाहिये ॥४०॥

इस विषय से सम्बन्धित एक अन्य वाद प्रस्तुत करते है—

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥४१॥

भाव लक्षणो के पृथक् होने से सब पदार्थ पृथक् और अनेक हैं।

जगत् के सब पदार्थ नानारूप हैं--पृथक्-पृथक् और अनेक। व्यवहार मे आने वाली किसी वस्तु की एक सत्ता नही क्योकि भाव के लक्षण पृथक् पृथक् है। कोई पदार्थ एकमात्र इकाई नही हैं, वह अनेक अवयवो का समुदायमात्र है। जैसे कुम्भ--यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, ग्रीवा, बुघ्न (तली) आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से सबका वाचक है, किसी एक वस्तु का नहीं। इसलिये जाति, आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नही। तात्पर्य यह कि गुणो या अवयवो से अतिरिक्त कोई गुणी या अवयवी नही है।

अब इस वाद का निराकरण करते हैं—

न स्वरूपत पृथग्भावेष्वप्येकभावनिष्पत्ते ॥४२॥

स्वरूप से पृथक् पृथक् पदार्थों मे भी पदार्थ की एकता निष्पन्न होने से उक्त कथन ठीक नही।

अनेक अवयवो तथा विभिन्न पदवाच्य साधनरूप अर्थो से एक घट उत्पन्न

होता है। यह घट नानारूप न होकर एक इकाई है। वह केवल परमाणुसमूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। भाव का लक्षण जो सत्ता है उसका नियम एक अवयवी मे देखा जाता है। अनेक लक्षणो से एक भाव की सिद्धि होती है। अनेक गुण और भिन्न-भिन्न अवयव मिल कर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। अवयवी मे जो काम सिद्ध होता है वह उसके अवयवो मे नही हो सकता। घडे मे पानी भरा जा सकता है, मिट्टी के परमाणुओं मे नही। इससे सिद्ध है कि अनेक लक्षणो से युक्त एक भाव, अनेक गुणो से सबद्ध एक गुणी और अनेक अवयवो से एक अवयवी सिद्ध होता है। यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है तो जिन तत्त्वो से घट का निर्माण होता है उनके लिये 'अवयव' पद का प्रयोग असगत होगा। अवयव किसी अवयवी के ही कारणतत्त्वो को कहा जा सकता है। यदि अवयवी एक इकाई नहीं तो वे कारणतत्त्व किसके अवयव कहायेंगे? 'अवयव समूह' कह कर अवयवी की इकाई का निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिये स्वरूप से पृथक् पृथक् पदार्थों मे एक पदार्थ अवगत होता है ॥४२॥

अगले सूत्र मे एक अन्य वाद को प्रस्तुत किया गया—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥४३॥

भावो मे अन्योन्याभाव की सिद्धि से सब अभाव है।

प्रत्येक भाव का उसके अतिरिक्त समस्त भावो मे अभाव रहता है। जैसे घडे मे वस्त्रादि का, वस्त्र मे घडे आदि का अभाव है। गौ का अश्वादि समस्त पदार्थो मे और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ मे अभाव है। जब भावो मे एक दूसरे का अभाव सिद्ध है तो सबका अभाव क्यो न मान लिया जाये? ॥४३॥

अब इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं—

नाभावेऽप्येतरेतराभावानुपपत्तेः ॥४४॥

(सब पदार्थों का) अभाव होने पर इतरेतराभाव उपपन्न न होने से (सर्वमभाव) कथन युक्त नही।

यदि सब पदार्थों का अभाव है अर्थात् यदि कुछ है ही नही तो इतरेतराभाव—एक मे दूसरे के अभाव की बात ही कैसे कही जा सकती है? जब न गाय कोई पदार्थ है और न घोडा तो 'गाय घोडा नहीं' या 'घोडा गाय नहीं'—यह प्रयोग कैसे हो सकता है? वस्तुत 'सर्व' पद अनेक भाव पदार्थों की सम्पूर्णता का वाचक है और 'अभाव' भावरूप पदार्थ के प्रतिषेध को कहता है। ये दोनो पद परस्पर विरोधी अर्थ का निर्देश करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी होने से वह प्रतिज्ञा वाक्य ही असगत है।

इसके अतिरिक्त इसमे प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है जो तर्कशास्त्र सम्मत न होने से अशुद्ध है। 'सर्वमभाव' इस प्रतिज्ञा वाक्य मे भावरूप का प्रतिषेध किया गया है। इसके अनुसार यदि 'सब अभाव' है तो हेतु मे 'भावेषु' पद का प्रयोग निराधार हो जाता है। 'भाव कुछ है नही तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर ? यदि हेतुपद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व माना जाता है तो 'सर्वमभाव' यह प्रतिज्ञा मिथ्या हो जाती है। इस प्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर विरुद्ध होने से त्याज्य है। इसलिये सबको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है ॥४४॥

इस निमित्त एक अन्य हेतु देते हैं—

स्वरूपसिद्धेश्च ॥४५॥

और स्वरूप की सिद्धि होने से (सर्वमभाव नही)।

ससार मे जितने पदार्थ हैं वे सब अपने भाव से वर्तमान हैं। उनमे अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उनके अपने भाव का निषेधक न होकर साधक है। यदि सबका अभाव है तो गाय मे गाय का और घोडे मे घोडे का अभाव क्यो नही कहा जाता ? जब वादी गौ को गवात्मना सत् और अश्वात्मना असत् कहता है तो गौ का स्वभाव–स्वरूप से अर्थात् गवातमरूप से अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अतएव सब पदार्थों मे अपना रूप होने से अभाव किसी का नही हो सकता ॥४५॥

निमित्त कारण के बिना स्वभाव से ही सृष्टयुत्पत्ति होना सभव है–इस वाद को प्रस्तुत करते हैं—

स्वभावादुत्पत्तिविनाशौ ॥४६॥

स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति और विनाश होता है।

जैसे अन्न-जल एकत्र हो सडने से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, पृथ्वी, बीज और जल के मिलने से घास वृक्षादि उत्पन्न हो जाते हैं और हल्दी, चूना व नीबू से रोली बन जाती है वसे ही परमाणुओ (तत्त्वो) के स्वाभाविक गुणो मे मिलकर सब जगत् उत्पन्न हुआ है। इसके बनाने वाला कोई नही ॥४६॥

अगले सूत्रो मे इस मत की समीक्षा प्रस्तुत करते है—

न स्वभावादुत्पत्तौ विनाशस्याभावात् ॥४७॥

स्वभाव से उत्पत्ति होने पर विनाश का अभाव होने से (स्वभाव से उत्पत्ति-विनाश) नही।

स्वभाव सदा एक सा रहता है। यदि परमाणुओ का स्वभाव सयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर सदा उत्पत्ति ही होगी, विनाश कभी नही

होगा। किन्तु पदार्थों को विनष्ट होते देखा जाता है ॥४७॥

विनाशे सत्युत्पत्तेरभावात् ॥४८॥

विनाश होने पर कभी उत्पत्ति न होने से उक्त कथन ठीक (नहीं)।

यदि परमाणुओ का स्वभाव विकर्षण का है तो स्वभाव मे विनाश होने पर उत्पत्ति कभी न होगी। किन्तु पदार्थों को उत्पन्न होते देखा जाता है ॥४८॥

स्वभावादेव चेदुत्पत्तिविनाशौ न युगपदेवोत्पत्ति-विनाशसम्भव. ॥४९॥

यदि परमाणुओ मे कुछ का स्वाभाव सयोग का और कुछ का वियोग का माना जाये तो यदि सयोग-स्वाभाव वाले परमाणुओ की सख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति ही उत्पत्ति होगी और यदि वियोग गुण वाले परमाणु अधिक होंगे तो सदा विनाश ही विनाश होगा। और दोनो की शक्ति समान होगी तो न उत्पत्ति हो सकेगी, न विनाश। यदि प्रत्येक परमाणु मे दोनो स्वभाव युगपत् माने जायें (यद्यपि एक मे विरुद्ध धर्म एक ही काल मे सम्भव नही) तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी। क्योकि एक ही समय मे उत्पत्ति और विनाश दोनो का प्रत्यक्ष होता है ॥४९॥

निमित्तसद्भावेनोत्पत्तिविनाशौ चेत् पृथक् निमित्तोपपत्तिः ॥५०॥

यदि निमित्त के होने मे उत्पत्ति और विनाश हो तो (उत्पद्यमान और विनश्यमान द्रव्यो से) निमित्त को पृथक् मानना होगा । ऐसी अवस्था मे भी केवल स्वभाव से उत्पत्ति और विनाश सम्भव न होगा ॥५०॥

न निमित्ताद्विना सयोगवियोगौ ॥५१॥

निमित्त के विना मयोग और वियोग नही होता।

निमित्त कारण परमेश्वर के विना मूलतत्वो की स्वाभाविक क्रिया से ही सृष्टि की रचना सम्भव नही। जैसे हल्दी चूना और नीवू का रस दूर-दूर देश से आकर आप ही आप नही मिल जाते अपितु किसी के मिलाये से मिलते हैं और वह भी उपयुक्त परिमाण मे, वैसे ही प्रकृति के परमाणुओ को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये विना जड पदार्थ स्वय ही सृष्टि रचना मे समर्थ नही हो सकते। इसलिए स्वभाव से ही न सृष्टि की रचना हो सकती है, न उसका विनाश। क्योकि कर्त्ता के विना क्रिया सम्भव नहीं ॥५१॥

अब बौद्धो के सृष्टि विषयक सिद्धान्तो की समीक्षा करते हैं—

माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः बौद्धाश्चतुर्विधा ॥५२॥

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक--चार प्रकार के बौद्ध है ॥५२॥

सृष्टि विषयक इन सबकी अपनी-अपनी मान्यतायें है—

सर्वशून्यमिति माध्यमिकाः ॥५३॥

माध्यमिको के मतानुसार सब शून्य है ।

बौद्धो का माध्यमिक सम्प्रदाय 'सर्वशून्य' मानता है। जितने पदार्थ हैं वे आदि मे नही होते और अन्त मे नही रहते। मध्य मे जो प्रतीत होते हैं वह केवल भ्रान्त प्रतीति है। दीखते ही शून्य हो जाते हैं। जैसे उत्पत्ति से पूर्व घट नही था, प्रध्वस के पश्चात् नही रहेगा। घट ज्ञान समय मे भासता है किन्तु पदार्थान्तर मे ज्ञान जाते ही घटज्ञान नही रहता ।

नागार्जुन की मान्यता है कि किसी पदार्थ की प्रतीति हमे उसके गुणो के माध्यम से अर्थात् उसके गुणो का ज्ञान होने पर होती है। किन्तु गुणाधान से पूर्व पदार्थ का अस्तित्व नही होता। तब फिर वे गुण कहा रहते हैं ? न वे अपने आप मे रहते हैं। और न गुण रहित पदार्थ मे रह सकते हैं। पदार्थ भी बिना गुणो के नही रह सकता—कमसे कम हमे उसका अनुभव नही हो सकता। गुणो को द्रव्य और द्रव्य को गुण भी नही कहा जा सकता। इस प्रकार शून्य ही एक तत्व है ॥५३॥

अब इसकी समीक्षा करते हैं—

न शून्यावगन्तृशून्ययोरूपपत्ते. ॥५४॥

शून्य का ज्ञाता और शून्य (ज्ञेय) के उत्पन्न होने से (सर्वशून्य) नही ।

यदि सभी शून्य है तो उसका जानने वाला भी शून्य है। जब दोनो शून्य हैं तो किसी ने किसी को नही जाना अथवा शून्य को शून्य ने जाना। किन्तु शून्य को शून्य नही जान सकता। इससे शून्यत्व की सिद्धि कैसे हुई ? जब सब शून्य है तो किसी का 'सब शून्य है' जानना भी शून्य है। किन्तु यह जानना भी एक तत्त्व है। इस प्रकार भी शून्य की सिद्धि नही होती। इस लिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥५४॥

बाह्यार्थशून्यत्वमिति योगाचारा. ॥५५॥

योगाचार बाह्य को शून्य मानते हैं ।

योगाचार विज्ञानवादी है। उसके मत मे बाह्य जगत् की कोई सत्ता नही है। जो कुछ है भीतर ही है। बाह्य जगत् कल्पनामात्र है। यदि कुछ है भी तो उसे जाना नही जा सकता। वास्तव मे कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, ज्ञानमात्र

मे उसकी स्थिति है। घटनाज्ञान आत्मा मे होता है। तभी मनुष्य कहता है कि 'यह घट है।' भीतर ज्ञान न हो तो नही कहेगा ॥५५॥

अब इसकी समीक्षा प्रस्तुत करते है—

न गिरिनिभोऽवकाशाभावाद् हृदये ॥५६॥

हृदय मे पर्वत के तुल्य अवकाश न होने से (वाह्यार्थशून्यत्व) नही।

वाह्यार्थशून्य होने पर भीतर ज्ञान हो ही नही सकता। वाहर घट न होने पर कोई नही कहता कि 'यह घट है।' यदि पदार्थ का अस्तित्व भीतर ही हो तो उनमे तथाकथित वाह्य पदार्थ के सभी गुण होने चाहिये। एक विशालकाय पर्वत छोटे से हृदय देश मे कैसे समा सकता है? व्याप्य से व्यापक का सूक्ष्म होना अनिवार्य है। वाहर स्थित अग्नि के सम्पर्क मे आने पर तो शरीर भस्म हो जाता है। यदि वास्तव मे अग्नि का अस्तित्व भीतर ही है तो शरीर को क्यो नही जला डालती? वाहर से लेकर जिह्वा पर रखे बिना हृदय मे अव-स्थित शक्कर के ज्ञानमात्र से हमारी वासना की तृप्ति क्यो नही होती? यदि सब कुछ भीतर ही हो तो सासारिक पदार्थो की उत्पत्ति और प्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ किये बिना ही सकल्पमात्र से मनुष्य की सब आवश्यकताये पूरी हो जाया करें। वस्तुत पर्वत, अग्नि और शक्कर आदि पदार्थ तो वाहर ही है, केवल उनका ज्ञान आत्मा मे रहता है। पदार्थो का अस्तित्व वाह्य जगत् मे न हो तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से आत्मा मे उनके ज्ञान का प्रश्न ही पैदा न हो। ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान हो ही नही सकता ॥५६॥

वाह्यार्थानुमेयत्वमिति सौत्रान्तिका ॥५७॥

सौत्रान्तिक अर्थ का अनुमान मानते है।

वाह्य जगत की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी सौत्रान्तिकों के मत मे किसी पदार्थ का सागोपाग प्रत्यक्ष नही होता। किन्तु उनके एकदेश का प्रत्यक्ष होने पर शेष का अनुमान कर लिया जाता है। वाहर पदार्थ का अस्तित्व न होता तो उसके एकदेश का भी प्रत्यक्ष न होता और न शेष का अनुमान ही हो पाता ॥५७॥

अब इसकी समीक्षा करते हुए कहा—

प्रत्यक्षमूलत्वादनुमानस्य न वाह्यार्थस्यानुमेयत्वम् ॥५८॥

अनुमान के प्रत्यक्षमूलक होने से वाह्यार्थ का अनुमेयत्व नही होता।

न्याय का सिद्धान्त है—'प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानम्—' प्रत्यक्ष होने पर अनुमान होता है। आग और धुए का अथवा वादल और वर्षा का एक साथ प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर मे एक को देख कर दूसरे का अनुमान होता है। यदि प्रत्यक्ष

केवल एकदेशी होता है तो सौत्रान्तिक और उसके मत के भी केवल एकदेश का प्रत्यक्ष होने और शेष का अनुमान होने से उसकी वास्तविकता सन्दिग्ध हो जायेगी। सब अवयवो मे अवयवी एक है। अवयवो के प्रत्यक्ष होने से अवयवी का और अवयवी का प्रत्यक्ष होने से अवयवो का प्रत्यक्ष होता है। सावयव घट प्रत्यक्ष होता है। इसलिये हम 'अय घटैकदेश' न कह कर 'अय घट' कहते हैं। प्रत्येक अवयव भी अपने आप मे एक अवयवी है क्योकि उसे भी उससे छोटे अनेक अवयवो (परमाणुओ तक) मे विभक्त किया जा सकता है। हाथ शरीर का एक अवयव है किन्तु स्वय वह अगुलियो, हड्डियो, नसनाडियो आदि कितने ही अवयवो से युक्त अवयवी है। इसलिये यदि हम छोटे-छोटे अवयवो से वने एक अवयवी का प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो उस वडे अवयवी का प्रत्यक्ष क्यो नही कर सकते जिसका यह अवयवी स्वय अवयव है ॥५८॥

बाह्यार्थप्रत्यक्षत्वमिति वैभाषिका: ॥५९॥

वैभाषिको के मत मे पदार्थ का वाह्य प्रत्यक्ष होता है।

जब हम 'अय नीलो घट' कहते है। तो नीले रग महित घडा आत्मा के वाहर जगत् मे विद्यमान होता है। सारा जगत् प्रत्यक्ष का विषय है और सभी दृश्य पदार्थ आत्मा से वाहर है ॥५९॥

इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहा—

न बहिर्विद्यमानत्वेऽपितज्ज्ञानस्यात्मन्येव वर्त्तमानत्वात् ॥६०॥

पदार्थ के वाहर विद्यमान होने पर भी उसका ज्ञान आत्मा मे होने से उक्त कथन ठीक नही।

यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय बाहर होता है किन्तु उसका ज्ञान आत्मा मे होने से वाह्यार्थ प्रत्यक्ष का सिद्धान्त मान्य नही हो सकता। प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जव ज्ञाता और ज्ञान दोनो एकत्र हो। यह आत्मा मे ही सभव है। इसलिये पदार्थ के वाहर होने पर भी तदाकार ज्ञान आत्मा मे ही होता है ॥६०॥

अव आगे वौद्धमत मे मान्य भावनाओ का उल्लेख कर उनकी समीक्षा करते हैं—

सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, दु खं दु.खम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम् शून्य शून्यमिति बुद्धोपदिष्ट भावनाचतुष्टयम् ॥६१॥

क्षण-क्षणमे वुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्णक्षण मे ज्ञात था वह दूसरे क्षण मे नही रहता। इसलिये सव क्षणिक है।

सव प्रवृत्ति दु खरूप है क्योकि प्राप्ति से कोई सन्तुष्ट नही होता। सव पदार्थ अपने-अपने लक्षणो से लक्षित होते है। जैसे गाय के चिन्हो से गाय को और

घोडे के चिन्हो मे घोडे को जाना जाता है वैसे ही लक्षण सदा लक्ष्य मे रहते हैं।
शून्य ही एक पदार्थ है।
ये बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार भावनायें हैं ॥६१॥

न क्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञानात् ॥६२॥

प्रत्यभिज्ञान होने से क्षणिकत्व नही।

यदि विश्व क्षणभगुर हो तो पूर्वदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभगुर होता है वह पदार्थ ही नही रहता। फिर स्मरण किसका हो। परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है। इसलिये क्षणिकवाद ठीक नही ॥६२॥

नैकतरस्याभावेऽपर सद्भावः निशिवासरयोरिव ॥६३॥

एक के अभाव मे दूसरे की सिद्धि नहीं होती, दिन-रात के समान।

जैसे दिन की अपेक्षा से रात्रि और रात्रि की अपेक्षा से दिन होता है वैसे ही सुख की अपेक्षा से दु ख और दु.ख की अपेक्षा से सुख होता है। यदि सुख न हो तो दु ख की और दु ख न हो तो सुख की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः ससार मे सुख-दु ख दोनो का अस्तित्व है ॥६३॥

लक्ष्यलक्षणयोर्भिन्नाभिन्नत्वं उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरुभयोरपि-दृष्टत्वात् ॥६४॥

दोनो प्रकार के उदाहरण देखे जाने से लक्ष्य और लक्षण भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

यदि स्वलक्षण ही मानें तो नेत्रग्राह्यत्व रूप का लक्षण है और रूप लक्ष्य है। जैसा घट का रूप लक्ष्य चक्षुर्ग्राह्यत्व लक्षण से भिन्न है और गन्ध पृथ्वी से अभिन्न है। इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षण को भिन्नाभिन्न मानना चाहिये ॥६४॥

शून्यावगन्तु. शून्यस्य चोपपत्ते न सर्वशून्यत्वम् ॥६५॥

शून्य को जानने वाले तथा (ज्ञेय) शून्य के उत्पन्न होने से सर्वशून्य नहीं।

'सर्व' जिसे शून्य कहा जा रहा है और 'वह' जो उसे शून्य कह रहा है-दोनो का अस्तित्व स्वत सिद्ध है। इस लिये 'सब शून्य है' नही कहा जा सकता ॥६५॥

अनेक धार्मिक सम्प्रदायो द्वारा ससार के दु खरूप होने का कथन पूर्वपक्ष के रूप मे सूत्रित किया—

दु.खायतनं जगत्सर्वम् ॥६६॥

समस्त ससार दुःखों का घर है।

वौद्धमत मे विश्व के आधारभूत पाचस्कन्ध स्वीकार्य हैं–सज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और सस्कार। इनमे 'गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसवित्प्रवाह सज्ञास्कन्ध'— गौ, अश्व, मनुष्यादि देहरूप नाम का सम्बन्ध मानना 'संज्ञास्कन्ध,' 'सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्ध'–इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण किया जाना 'रूपस्कन्ध', 'आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः'–आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान दोनो 'विज्ञानस्कन्ध', सुखदु खादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्ध'–रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध दोनो से उत्पन्न सुख दु ख आदि का अनुभव 'वेदनास्कन्ध' और 'वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादय क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्ध'-वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादिक्लेश और क्षुधातृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान तथा धर्माधर्म रूप व्यवहार 'सस्कारस्कन्ध' कहाते हैं। ये पाचो स्कन्ध दुःखात्मक है। वौद्धो की भाति अन्य अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक ससार को दु खरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते है ॥६३॥

अव इस मत की समीक्षा करते है—

न जीवात्मनस्तत्र प्रवर्त्तनात् ॥६७॥

जीवात्मा की (ससार मे) प्रवृत्ति होने से (ससार दु खरूप) नही।

प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमे प्रवृत्त होता और दु ख जानकर उससे निवृत्त होता है। ससार मे जीवो की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पडती है। यदि ससार मे दु.ख ही दु ख होता तो उसमे किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक ससार के पदार्थों का उपभोग करने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को वढाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री को जुटाने के लिये आवश्यक साधनोपायो के चिन्तन मे सदा प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जैसे-तैसे कुछ काल और यहा वने रहने के लिये हाथ-पैर मारता है। 'जीवेम शरद शतम्' से सन्तुष्ट न होकर 'भूयश्च शरद शतात्'–सौ वर्ष से भी अधिक जीते रहने की कामना करता है ॥६७॥

इस विषय मे एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

दु खापेक्षया सुखस्याधिक्याच्च ॥६८॥

दु'ख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होने से भी ससार (दुःखरूप नही)।

'अकाम न कुतश्चनोत' परमेश्वर ने अपने लिये नही, जीव के कल्याण के लिये–उसके 'भोगापवर्ग' के लिये सृष्टि की रचना की है। आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची हुई सृष्टि मे दु ख ही दु ख हो–आनन्द कही हो ही नही–यह कैसे सम्भव है ? दु ख को नकारा नही जा सकता। किन्तु दु ख को सहते हुए भी

मनुष्य मौत को भगाकर यहा जीना चाहता है। ऐसा क्यो है ? इसलिये कि ससार मे दु ख की तुलना मे सुख कही अधिक है। वस्तुत ससार मे सुख-दु ख दोनो है। दोनो सापेक्ष हैं। सुख, भोग मे भी है और अपवर्ग मे भी। भोगरूप सुख मे दु.ख का अश है जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है। अत. अपवर्ग–मोक्ष की अपेक्षा से भोग हेय है और भोग की अपेक्षा से अपवर्ग श्रेयस्कर है। ऐसा जानकर और 'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधनमात्र के रूप मे अपनाकर ससार मे रहने वाले के लिए संसार दुःखरूप नही रह जाता। दु ख की अत्यन्त निवृत्ति 'हान' है जो मोक्ष का अपर नाम है। इसका उपाय है–विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। इस प्रकार दु ख का कारण ससार नही अपितु उसके *यथार्थ स्वरूप को न समझना है ॥६८॥*

अब सृष्टि रचना के क्रम का निरूपण करते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥६९॥

सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है।

प्रकृति की विभिन्न विशेषताओ के आधार पर उसके अनेक नामो का उल्लेख मिलता है, जैसे प्रकृति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त, प्रजा, तमस्, परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, अक्षर, शक्ति, क्षेत्र, ब्रह्म, माया, अविद्या आदि। तथापि मुख्यत 'प्रकृति' और 'प्रधान' इन दो नामो का प्रयोग किया जाता है। 'प्रधान' पद मुख्य रूप से जगत् की प्रलयावस्था की ओर सकेत करता है–'प्रकर्षेण अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिस्तत्'। जिसमे सब जगत् सर्वथा लीन हो जाता है वह 'प्रधान' है। क्योकि जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिये सर्वाधिक प्रचलित यही नाम है। धातु एव प्रत्यय के आधार पर 'प्रकृति' पद का अर्थ होगा–'प्रकर्षेण क्रियते जगदनया इति प्रकृति' अर्थात् जिस साधन से सब जगत् की रचना होती है वह 'प्रकृति' है।

सत्त्व, रजस्, और तमस्–ये तीन मूल तत्त्व हैं जिनकी साम्यावस्था अर्थात् समान रूप से रहने का नाम प्रकृति है। जो अन्य पदार्थों का उपादान कारण हो अर्थात् जिससे पदार्थों की उत्पत्ति हो उसे प्रकृति कहते है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूल स्थिति प्रकृति है अर्थात् जब तक सत्त्व-रजस्-तमस् कार्यरूप मे परिणत नही होते प्रत्युत मूलरूप मे अवस्थित रहते हैं तब तक प्रकृति कहाते हैं। इस प्रकार समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है ॥६९॥

प्रकृतेः स्थूलं महत्तत्वम् ॥७०॥

प्रकृति से कुछ स्थूल महत्तत्व है।

जब यह कार्यरूप सृष्टि उत्पन्न नही हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का उपादान कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विद्यमान थी। अव्यक्तावस्था मे होने अर्थात् व्यवहार का अभाव होने से वह अदृश्य थी। सृष्टि रचना के निमित्त जब परमेश्वर ने ईक्षण किया तब उसकी प्रेरणा से प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न हुआ और तब ये तत्त्व कार्योन्मुख होने अर्थात् कार्यरूप मे परिणत हो सृष्टि का निर्माण करने मे तत्पर हुए। तब उनकी अवस्था साम्य से वैषम्य की ओर अग्रसर हुई। प्रकृति से विकृति की अवस्था मे आने पर उसका प्रथम विकार अथवा परिणाम 'महत्' कहाया। इसी को विश्वबुद्धि या प्रकृति मे सर्वत्र व्याप्त विश्वान्त करण कह सकते है।

ततोऽप्यहंकारः ॥७१॥

उस (महत्) से अहकार की उत्पत्ति हुई।

अहकार भेद का सिद्धान्त है। अत उससे प्रकृति मे पृथक्ता का भाव उत्पन्न हुआ ॥७२॥

अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियञ्च ॥७२॥

अहकार से पचतन्मात्र तथा दोनो प्रकार की इन्द्रियो की उत्पत्ति हुई।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये पाच तन्मात्र हैं। इन्हे तन्मात्र इसलिये कहते हैं कि ये अन्य किसी भी तत्त्व से अमिश्रित रहते हैं। इसीलिये इनको 'अविशेष' नाम भी दिया गया है क्योकि इनमे किसी प्रकार की बाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नही रहती। इनके गध, रस, आदि नाम उन-उन कार्यो के उत्पादक होने के कारण व्यवहार के लिये रख लिये गये हैं। उपादान तत्त्वो की तन्मात्र नामक वह स्थिति है जहाँ अभी तक पृथिवी, जल, सुवर्ण आदि किसी प्रकार की विशेषता का प्रादुर्भाव नही हो पाया। तन्मात्र भी सत्त्व-रजस्-तमस् नामक मूलतत्त्वो के विकार हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—ये पाच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय है। ये दसो बाह्येन्द्रिय हैं, आन्तरिन्द्रिय केवल एक मन है।

इन्द्रिया, मन व स्थूलभूत केवल विकृति हैं। अत ये किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नही करते। महत्तत्व, अहकार तथा सूक्ष्म अवयवो के रूप मे तन्मात्र प्रकृति के कार्य हैं परन्तु महत्तत्व अहकार का अहकार इन्द्रियो व तन्मात्र का, तन्मात्र सूक्ष्म भूतो का कारण होने से प्रकृति भी है। अत ये प्रकृति-विकृति दोनो है ॥७२॥

तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम् ॥७३॥

पृथिवी आदि स्थूल भूतो का कारण सूक्ष्मभूत की रचना द्वारा तन्मात्र हैं।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्र से क्रमश आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म तत्वो का ग्रहण इन्द्रियो से नही होता किन्तु पृथिवी आदि स्थूल तत्व इन्द्रियगोचर हैं। इसलिये इनके अस्तित्व से उनके उपादान तन्मात्र तत्वो के अस्तित्व का अनुमान होता है।

तन्मात्र क्या हैं ? उनके स्वरूप को समझने के लिये सुवर्ण के एक कण का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा। उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण मे जब तक उसके सुवर्ण होने की प्रतीति होगी तब तक वह परमाणुसंज्ञक होगा। जब विश्लेषण करते-करते वह कण उस अवस्था मे पहुच जायेगा जहा उसके अवयवो मे सुवर्ण की प्रतीति नही रहेगी तब उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त समझी जायेगी। तत्त्व की वह अवस्था अविशेष अथवा तन्मात्र है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ मूलत इसी प्रकार के सूक्ष्म अवयवो से परिणत होकर स्थूल अवस्था मे आता है ॥७३॥

स्थूलभूतानामाद्यस्थिति परमाणुः ॥७४॥

स्थूलभूतो की आद्यस्थिति परमाणु है।

परमेश्वर के ईक्षण द्वारा क्षोभ उत्पन्न होने पर जब प्रकृति की साम्यावस्था भग हो जाती है और वह व्यक्तावस्था की ओर अग्रसर होती है तो सबसे पहले महत् की और तदनन्तर अहकार की उत्पत्ति होती है। अहकार से प्रकृति मे पृथक्ता का भाव उत्पन्न होकर तत्व तन्मात्र के सूक्ष्मतम अवयवो के रूप मे आता है। मूलत सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण परमाणु प्रकृति का परिणाम अथवा कार्य हैं। प्रकृति की कार्यावस्था मे परमाणु सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्य सृष्टि की रचना सम्भव नही। इस प्रकार कार्यावस्था मे प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार जगत् की उत्पत्ति मे कारण होने से द्रव्य की परमाणु अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है। वास्तव मे तन्मात्र के रूप मे उद्भूत होने से स्वय प्रकृति का कार्य और साथ ही स्थूलाकार जगत् का (उपादान) कारण होने से परमाणु (तन्मात्र तत्त्व) प्रकृति-विकृति की अवस्था मे आ जाते हैं।

गुणो (सत्त्व-रजस्-तमस्) मे उत्पन्न होने के कारण परमाणु नित्य नही कहाता। न्याय-वैशेपिक ने प्राकृत तन्मात्रो से परिणत सूक्ष्मभूत की अवस्था तक विचार प्रस्तुत किया, जबकि साख्य ने प्रकृति की मूल अवस्था तक विवरण प्रस्तुत किया। अर्थात् जहा से साख्य मूल जड तत्त्व की खोज मे सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया, वही से न्याय वैशेपिक ने स्थूलसृष्टि का

क्रम दिखाया। उनमे परस्पर विरोध न होकर सभी एक दूसरे के पूरक बन कर चले हैं ॥७४॥

अव परमाणु का स्वरूप कथन करते हैं—

कार्यावस्थायां विभागानर्हं पृथिव्यादि परमाणुसञ्ज्ञकम् ॥७५॥

कार्यावस्था मे जो अविभाज्य है उसकी पृथ्वी परमाणु आदि सज्ञा है।

किसी पदार्थ का छोटे से छोटा अवयव जिसके आगे टुकडे न हो सकें परमाणु कहाता है। पृथ्वी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विश्लेषण या विभाग करते-करते जब हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण पर पहुच जाते हैं जिसमे पृथ्वीत्व बना रहता है वह पृथ्वी का मूल परमाणु है। परमाणु मे परिधि और व्यास होता है और जिसमे परिधि और व्यास है वह अन्तिम तत्त्व नही है। उसका आगे और भी विघटन हो सकता है। जब तक वह एकमात्र नही हो जाता, तब तक ज्ञान से बराबर कटता चला जाता है। फिर भी उसे अविभाज्य इसलिए कहा जाता है कि उस अवस्था मे अर्थात् कार्यावस्था को खोये बिना उसके और टुकडे नही किये जा सकते। पृथ्वी के परमाणु का और आगे विश्लेषण अथवा विखण्डन तो किया जा सकता है, किन्तु तब उसमे पृथ्वीत्त्व नही रहेगा, प्रत्युत वह अपने मूल कारणो के रूप मे बिखर जायेगा। पृथ्वीत्त्व की प्रतीति न रहने पर उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त हो जायेगी। तब उसकी सज्ञा 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हो जायेगी जो अन्तत सत्त्व-रजस्-तमस् के रूप मे एकमात्र हो मूल कारणावस्था को प्राप्त हो जायेगा। जलादि के परमाणुओ के विषय मे भी यही स्थिति है। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए उसका जो अन्तिम खण्ड या कण है दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही उसका परमाणु है और प्रारम्भिक या आदि कण होने से अविभाज्य मूलतत्त्व है। किन्तु मूलत वह सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति का कार्य है ॥७५॥

अव परमाणुओ से सृष्टि रचना का निरूपण करते हैं—

पृथिव्यादिपरमाणूनां सयोगविशेषात्स्थूलभूतसृष्टिः ॥७६॥

पृथ्वी आदि परमाणुओ के सयोग विशेष से स्थूल भूत सृष्टि का निर्माण होता है।

इन्ही परमाणुओ के विभिन्न अनुपात तथा रूपो मे सयुक्त होने से स्थूलाकार विविध जगत् की रचना होती है ॥७६॥

पृथिवी आदि स्थूल भूतो के गुणो का उल्लेख करते हे—

स्पर्शवान् वायुः ॥७७॥

वायु स्पर्श गुण वाला है।

यद्यपि वायु का गुण केवल स्पर्श है तथापि शीत और उष्ण स्पर्श वायु का स्वाभाविक गुण नही। जब वायु का जल से ससर्ग होता है तो वह ठण्डी हो जाती है और जब अग्नि के अश से होता है तो वह गरम हो जाती है। उसका अपना गुण सरदी-गरमी से पृथक् केवल स्पर्श है, अर्थात् अनुष्ण-अशीत स्पर्श ॥७७॥

त्वग्ग्राह्यो गुण. स्पर्श ॥७८॥

त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिसका प्रत्यक्ष होता है वह 'स्पर्श' गुण है ॥७८॥

तेजो रुपस्पर्शवत् ॥७९॥

रूप और स्पर्श गुण वाला अग्नि है।

जहां वायु मे केवल एक गुण–स्पर्श है वहाँ तेज–अग्नि मे दो गुण हैं–रूप और स्पर्श। इनमे रूप स्वाभाविक तथा स्पर्श वायु के योग से है। तेज चार प्रकार का है। एक–जहा रूप और स्पर्श दोनो रहते हैं। जैसे सौर तेज तथा अग्नि। दूसरे–जहा रूप का प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श का नही। जैसे–चन्द्रमा। तीसरे–जहां स्पर्श उद्भूत रहता है, रूप अनुद्भूत। जैसे गरम रेत या पत्थर। चौथे–जहाँ रूप और स्पर्श दोनो ही अनुद्भूत रहते हैं। जैसे मानव आदि का चक्षु-तेज। स्पर्श के नैमित्तिक होने के कारण ही चादी-सोने मे तेज-रूप होते हुए भी स्पर्श मे उष्णता नही होती ॥७९॥

चक्षुर्ग्राह्यो गुणो रुपम् ॥८०॥

नेत्रो से जिसका ग्रहण हो वह 'रूप' गुण है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवा. स्निग्धाः ॥८१॥

रूप, रस और स्पर्श द्रवत्व और स्नेह गुण वाले जल हैं।

वायु मे एक, अग्नि मे दो किन्तु जल हे तीन गुण होते हैं–रूप, रस, और स्पर्श। इनमे रस जल का स्वाभाविक गुण है तथा रूप व स्पर्श क्रमश अग्नि और वायु के योग से हैं ॥८१॥

रसनग्राह्यो गुणो रस ॥८२॥

रसना से ग्रहण होने वाले मधुर, तिक्त आदि को रस कहते है।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥८३॥

पृथिवी मे चार गुण रहतें है रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ।

इनमे 'गन्ध' पृथिवी का विशेष गुण है। इसलिये 'गन्धवती पृथ्वी' यह लक्षण पूरी तरह अन्य निरपेक्ष है। पृथ्वी का स्वाभाविक गुण होने से वह अन्य किसी द्रव्य मे नही रहता। रूप अग्नि के सयोग से तथा स्पर्श वायु के सयोग से है ॥८३॥

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्ध ॥८४॥

नासिका से जिसका ग्रहण होता है वह गन्ध है ॥८४॥

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥८५॥

निष्क्रमण (भीतर से बाहर आना) तथा प्रवेशन (बाहर से भीतर जाना) क्रियाओ का सम्भव होना आकाश के अस्तित्व का लिंग है।

ठोस से ठोस पदार्थ मे भी आकाश की विद्यमानता है। इसी से पदार्थों का सिकुडना आदि सम्भव होता है। इसी कारण लोहे आदि मे भी अग्नि के सूक्ष्म परमाणु प्रवेश कर जाते हैं। आकाश मे सब और सबमे आकाश व्याप्त रहता है ॥८५॥

शब्दो लिङ्गमाकाशस्य ॥८६॥

शब्द आकाश का लिङ्ग (गुण) है।

शब्द एक बाह्येन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रिया गुण के अतिरिक्त किसी द्रव्य का ग्रहण नही करती। अत शब्द गुण है। किन्तु गुण किसी द्रव्य के आश्रय के विना नही रह सकता। पृथ्वी आदि आठ द्रव्य शब्द के आश्रय नही। इसलिये शब्द शेष नवम द्रव्य आकाश का गुण है। ध्वनि उत्पादक साधनो से जहा जितना अधिक आकाश आवेष्टित होगा उतना ही तुमुल शब्द वहाँ होगा ॥८६॥

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्द ॥८७॥

श्रोत्र से ग्रहण होने वाला गुण 'शब्द' है ॥८७॥

दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति का स्वरूप निर्धारण करते हैं—

त्रसरेणो द्विरावृत्ततया पृथिव्यादयो दृश्यपदार्थाः ॥८८॥

त्रसरेणु के दुगुना होने से पृथ्वी आदि दृश्य पदार्थ होते है।

एक अणु=६० परमाणु, द्वयणुक २×६०=१२० परमाणु, त्रसरेणु=

३ × १२० = ३६० परमाणु, त्रसरेणु का दुगुना = २ × ३६० = ७२० परमाणु। इस प्रकार किसी द्रव्य पदार्थ के दृश्य रूप मे आने के लिये सर्वप्रथम न्यूनातिन्यून ७२० परमाणुओ का सघात अनिवार्य है। फिर उनके सयोग विशेष से प्रथमतः कोई तत्त्व बनकर सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम बनता जाता है।

जो पचभूत हमे दृष्टिगत होते हैं वे सब सयुक्त हैं। उनमे जो स्थूल हैं उनमे सूक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथ्वी सबसे स्थूल है इसलिये उसमे सब भूतो के रहने से उन सबके गुणो का पृथ्वी मे प्रत्यक्ष होता है। (जो जिससे सूक्ष्म है उसमे अपने से स्थूल के समान गुणो की प्रतीति नही होती) पंचभूतो मे सूक्ष्मतम आकाश है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। वह विभु एव नित्य है। फिर भी 'जब आकाश सम्भूत' कहा जाता है तो उसका अभिप्राय इतना ही होता है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश—अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैला हुआ था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा दीखता है ॥८८॥

अब सृष्टिरचना के क्रम का निर्देश करते हैं—

स्थूलभूतपञ्चकादोषधिवृक्षादयः ॥८९॥

क्रमश: अनेक स्थूलावस्थाओ को प्राप्त होते हुए पाच स्थूलभूतो के सयोग विशेष से पहले नाना प्रकार की औषधियां वृक्षादि उत्पन्न होते हैं ॥८९॥

तेभ्योऽन्नम् ॥९०॥

औषधि वृक्षादि से अन्न = खाद्य पदार्थों की उपलब्धि होती है ॥९०॥

भोग्यानन्तर भोक्ता ॥९१॥

भोग्य (पदार्थों) के पश्चात् भोक्ता होता है।

जैवी सृष्टि से पूर्व जीव के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक है। प्यास लगने पर कुआ खोदना बुद्धिमत्ता नही। इस व्यवस्था के अनुसार पहले वनस्पति, फिर पशु (कृमि से हाथी पर्यन्त) और अन्त मे मनुष्य उत्पन्न हुए। प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल, आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था। यजुर्वेद (३१-६) के अनुसार "सभृत पृपदाज्यम् पशूस्ताश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये" अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु मे गमन करने वाले पक्षियो, सिंह व्याघ्रादि बनैले पशुओ और नगरो एव गावो मे रहने वाले गाय, घोडे आदि पशुओ को उत्पन्न किया। इस प्रकार जड जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की ओर चेतन मे भी क्रमश सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियो की सृष्टि हुई ॥९१॥

अब सृष्टि रचना की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं—

अमैथुन्यादिसृष्टिः ॥६२॥

आदि सृष्टि अमैथुनी होती है।

सृष्टि के आदिकाल मे समस्त सृष्टि अमैथुनी होती है—अर्थात् नर-नारी के परस्पर सयोग के बिना ही जीव देह धारण करते हैं। इस प्रकार की देह रचना ही 'अयोनिज' कहाती है क्योकि गर्भाशय से बाहर निकलने के योनि नामक मार्ग का इसमे उपयोग नही होता। इसी को ऐश्वरी सृष्टि भी कहते हैं क्योकि उस समय सृष्टि के निमित्त कारण के रूप मे केवल ईश्वर विद्यमान होता है। प्राकृत व्यवस्थाओ के अनुसार रज-वीर्य के मूल तत्त्व किसी विशिष्ट खोल आदि के साथ सकलित हो जाते हैं और उनसे शरीर रचना प्रारम्भ हो जाती है। कालान्तर मे देह के परिपुष्ट हो जाने पर वे खोल फट जाते हैं और बने बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं। सृष्टि के आदि मे मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानव शरीर धारण करने वाले जीवो, उत्कृष्ट धर्म विशेष का पालन करने वाले ऋषि मुनियो, तथा अन्य समस्त प्राणियो के देह की उत्पत्ति इसी प्रकार अयोनिज शरीरो के रूप मे होती है।

अयोनिज शरीरो की रचना मे प्रवृत्त होने वाले परमाणुओ के दिग्देश गर्भाशय तथा रजवीर्यसयोग आदि के रूप मे निमित्त नही रहते। ईश्वर के नियम से चेष्टा पाकर प्रत्येक देश और दिशा मे वर्तमान वे परमाणु द्वयणुकादि परम्परा सरचना के विशिष्ट स्तरो को पार करते हुए अयोनिज शरीरो की उत्पत्ति मे समर्थ होते हैं।

इस प्रक्रिया को एक वृक्ष के उदाहरण से समझना आसान होगा। बिना बीज के वृक्ष नही उगता—इसे सभी स्वीकार करते हैं। बीज पेड पर उत्पन्न होते हैं और आगे होने वाले वृक्षो को उत्पन्न करते हैं। परन्तु सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न सबसे पहले पेड का बीज कहा से आया? वस्तुत जिन तत्त्वो से बीज का निर्माण होता है वे प्रकृति मे सदा विद्यमान हैं। वे भौतिक तत्त्व एक खोल के भीतर प्रकृति-गर्भ मे सकलित होकर पोषण पाते रहे और पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो अनुकूल अवसर आने पर अकुर के रूप मे प्रस्फुटित हुए। इस प्रकार सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाले किसी भी वृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ मे ईश्वर द्वारा निर्धारित नियम व व्यवस्थाओ के अनुसार स्वत हुआ। यही अयोनिज अथवा अमैथुनी सृष्टि की प्रक्रिया है। ईश्वरीय व्यवस्था मे तत्त्वो द्वारा निर्मित्त बीज की बनावट वैसी रही होगी जैसी हमे उस वृक्ष विशेष से उत्पन्न होने वाले बीजो की आज दीख पडती है।

मैथुनी सृष्टि मे नर-मादा का सयोग प्राणी के प्रजनन की जिस स्थिति को आज प्रस्तुत करता है वही स्थिति अमैथुनी सृष्टि मे प्राकृत नियमो व व्य-

वस्थाओ के अनुसार प्रकृति के गर्भ मे प्रस्तुत हो जाती है। वर्तमान वैज्ञानिको द्वारा ट्यूब मे मानव शरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है।

सृष्टि चाहे अमैथुनी हो या मैथुनी-प्रणियो के शरीरो की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता के द्वारा करता है। दोनो मे अन्तर केवल इतना है कि आदि सृष्टि मे माता, जननी यह भूमि होती है और वीर्य सस्थापक सूर्य। ऋग्वेद (१-१६४-३३) मे कहा है–'द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्'। अर्थात् सृष्टि के आदिकाल मे प्राणियो के शरीरो का उत्पादक पिता रूप मे सूर्य था और माता के रूप मे यह विशाल पृथ्वी। परमात्मा ने सूर्य और पृथ्वी–दोनो के रज–वीर्य के सम्मिश्रण से प्राणियो के शरीरो को बनाया। जैसे इस समय बालक माता के गर्भ जरायु मे पड़ा माता के आहार मे से रस लेकर बनता और विकसित होता है वैसे ही आदि सृष्टि मे पृथ्वी रूपी माता के गर्भ मे बनता रहता है। जैसे-जैसे गर्भ बढता है वैसे-वैसे भूमि की मिट्टी सकुचित होकर उसे अधिकाधिक स्थान देती रहती है।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन के अपने भाष्य मे लिखा–'तत्रायोनिजमनपेक्षितं-शुक्रशोणित देवर्षीणा शरीर धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'। अर्थात् देवो और ऋषियो के शरीर शुक्रशोणित के बिना ही परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं। रज-वीर्य भी तो अन्तत परमाणुओ एव मूलत सत्त्व-रजस्-तमस् का ही विकार है। यजुर्वेद मे भी लिखा है–'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये' (३१-६) अर्थात् आदि सृष्टि मे परमात्मा से देव, ऋषि और साध्य आप ही आप उत्पन्न हुए।

यदि माता-पिता के सयोग से ही सृष्टि मानी जाये तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। स्वेदज और ऊष्मज प्राणियो की सृष्टि का अयोनिज अर्थात् माता पिता के सयोग के बिना होना आज भी प्रत्यक्ष है ॥९२॥

आदावीश्वराधीनं तदनु जीवाधीन देहनिर्माणम् ॥९३॥

देह निर्माण (सृष्टि के) आदि मे ईश्वर के अधीन, तदनन्तर जीव के अधीन है।

जीव के सभी प्रयत्न व भोग आदि शरीर के द्वारा सभव हैं। इसलिए सृष्टि के क्रम को आरम्भ करने के लिये पूर्व सृष्टि से कर्मफल को भोगने वाले जीवो के पास देहो का होना नितान्त आवश्यक है। अशरीर अवस्था मे जीव स्वय उनका निर्माण करने में असमर्थ है। इसीलिये 'योनिज' तथा 'अयोनिज' दो प्रकार के शरीरो की व्यवस्था की गई हैं। सर्ग का चालू काल ईश्वरीय व्यवस्थाओ के अनुसार सचालित होता है और अयोनिज शरीरो का निर्माण होता है। तदनन्तर सजातीय प्रजनन का नियम चालू होता है। जो कार्य पहले

प्राकृतिक व्यवस्थाओ के अनुसार जीव से अतिरिक्त सत्ता के द्वारा होता था वह अब नर-मादा के सयोग से होकर योनिज शरीरो की सृष्टि के रूप मे स्वय प्राणियो द्वारा होने लगता है। आरम्भ मे साचा बनाना कष्टसाध्य होता है। साचा तैयार होने पर उसके अनुरूप वस्तुओ का निर्माण करने मे विशेष कठिनाई नही होती। आदि सृष्टि मे अनेकानेक शरीरो के रूप मे सांचे बनाना ईश्वर का काम था। तदनन्तर उन साचो मे ढाल-ढालकर नित नये शरीर बनाते रहना जीव का काम है ॥९३॥

सृष्टि रचना मे ईश्वर के अतिरिक्त जीव भी निमित्त कारण है क्योकि—

ऐश्वरिसृष्टेरुत्पादक परमेश्वर न तु जैवसर्गस्य ॥९४॥

परमात्मा ऐश्वरी सृष्टि का कर्त्ता है, जैवी सृष्टि का नही।

सृष्टि की मूल कारण से उत्पत्ति करने, उसे धारण करने और यथासमय प्रलय करने तथा स्थिति काल मे समस्त चराचर जगत् की समुचित व्यवस्था करने वाला परमेश्वर सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण है। किन्तु उसकी बनाई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर कर अपने काम मे लेना जीव का कर्त्तव्य है। 'अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम। दास मलूका कह गये मवके दाताराम' की रट लगाकर निष्क्रिय हो बैठना निरे आलसी लोगो का काम है। सृष्टि के आदि मे वृक्ष, फल, औषधि, वनस्पति, अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न कर दिये। किन्तु कृषि कर्म के द्वारा इन पदार्थों को बनाये रखना तथा आवश्यकतानुसार उनका विकास और वृद्धि करते रहना मनुष्य का काम है। हाथ पर हाथ धरे न बैठकर परिश्रम द्वारा उन्हे अपने खाने योग्य बनाना भी उसी का काम है। सृष्टि के आदि मे वेद का ज्ञान देना ईश्वरीय व्यवस्था थी। किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा उसे अविच्छिन्न रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। ईश्वर सब कुछ नही करता—अपना काम करता है और जीव को समर्थ बनाकर उससे अपने कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा रखता है।९४॥

विविध योनिया एक ही देह से प्रारम्भ होकर उसी के विभिन्न रूप हैं अथवा आदि काल से ही वे सब अपने वर्तमान रूप मे चली आ रही है—

इस विषय मे स्वमत का प्रतिपादन करते हैं—

स्वमूलोद्भूता· सर्वयोनय· ॥९५॥

सब योनियाँ अपने-अपने मूल से प्रादुर्भूत हैं।

परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक हैं। उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियो की सृष्टि की है। आज जो लाखो प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई पडते हैं—कृमि से लेकर हाथी और मनुष्य पर्यन्त सब सृष्टि के आदि काल से इसी रूप मे चले आ रहे हैं। सभी की स्वतन्त्र सत्ता है। मूल मे

किसी एक योनि की शाखा प्रशाखा नही हैं। यजुर्वेद (३१-८) मे स्पष्ट लिखा है—

तस्मादश्वाऽजायत ये के चोभायदतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽजावय ॥

अर्थात् घोडे आदि दो जवाडो वाले, गौ आदि एक जवाडे वाले, वकरी भेड आदि सब पशु उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। इससे पूर्व इसी अध्याय के छठे मन्त्र मे 'पशूस्ताश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये' कहकर वायु मे विचरण करने वाले तथा नगरो और वनो मे रहने वाले पशुओ को उत्पन्न करने वाला भी परमेश्वर को वताया गया। आगे नवें मन्त्र मे मनुष्यो (साध्याश्च ऋषयश्च) की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा हुई कही गई। इस तरह प्रकारान्तर से सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि मे ही विभिन्न योनियो मे एक-दूसरे की अपेक्षा रहित प्राणिमात्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

इसके विपरीत आधुनिक विद्वानो के अनुसार सव प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजो से सन्तति उपसन्तति द्वारा उत्पन्न हैं। इसके वर्तमान रूप परिस्थितिजन्य हैं। इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एककोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उसी के विलक्षण विकास के परिणाम-स्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहो का प्रादुर्भाव होता गया। सभी प्राणी अपने से पूर्व अवनत रूपो का उन्नत रूप अथवा सशोधित सस्करण है। जव जीवन की विकृत दशाओ के कारण किसी व्यक्ति का कोई अंग निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक निर्वचन और निकम्मापन दोनो मिलकर उसके नष्ट होने अथवा चिन्हमात्र रह जाने का कारण वन जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके नये अगो के विकास तथा परिवर्तन का कारण वनती हैं। भोजन के लिये प्रयास, शत्रुओ से रक्षा और प्रकृति के अनुकूल अपने आपको ढालने के प्रयत्न के परिणामस्वरूप शरीरो मे परिवर्तन होता गया और इस प्रकार विभिन्न योनियों के रूप मे प्राणी वट गया। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास मे उसकी आव-श्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने का चिरकालीन अभ्यास आकृति परिवर्तन का मूल कारण है।

किन्तु एक कोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ—इस समस्या का समा-धान विज्ञान आज तक नही कर पाया। वस्तुत सृष्टि के आदि मे जिस प्रकार एक कोश के देह की रचना हो जाती है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहो की रचना भी सम्भव है। सभी विशिष्ट देहो की रचना अपनी नियत इकाइयो अर्थात् उपादान कारणो से स्वतन्त्र रूप मे होती है। कार्यकारण भाव मे अमीवा के एक कोश के देह से अनेक कोशयुक्त देह की रचना का कोई सम्वन्ध नही है। जैसे अमीवा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों के

प्राणियो की सृष्टि भी अमैथुनी है। आगे सजातीय प्रजनन के नियमो के अनुसार ही सृष्टि चलती है।

क्रमिक विकास मे प्राणी की आवश्यकताजन्य इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ किये गये अभ्यास के कारण होने वाले आकृति परिवर्तन के सन्दर्भ मे जिराफ का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। अफ्रीका मे वहुत लम्वी गर्दन वाला जिराफ नामक एक पशु पाया जाता है। कहते हैं कि पहले उसकी गर्दन इतनी लम्वी नही होती थी। ऊँचे वृक्षो पर लगे पत्तो तक पहुचने के लिये अपनी गर्दन को ऊँचा उठाते रहने के कारण कालान्तर मे उसकी गर्दन लम्वी हो गई। दस-वीस या सौ-पचास वर्षों के अभ्यास से तो यह सभव नही। लाखो करोडो वर्ष लगने चाहिये। इतनी लम्बी अवधि मे तो भौतिक परिस्थितियो मे बहुत उलट-फेर हो जाता है। प्राणी की आवश्यकता और उसकी स्थिति भी लाखो वर्षों तक वैसी ही वनी रहे—यह भी सभव नही दीखता। फिर, वृक्षो पर लगे पत्तों को खाने वाले और भी प्राणी हैं। उन सवकी गर्दनें लम्बी क्यो नही हो गईं। हम देखते हैं कि बकरी पहले नीचे लगे पत्तो को चुगती है और फिर पेड के तनो व टहनियो पर अगले पैर टिकाकर जहाँ तक मुह पहुंच जाता है वहा के पत्ते कुतर लेती है। इसी तरह वह लाखो करोडो वर्षों से अपना पेट भरती आ रही है। जहां तक वह चुग सकती है उसके ऊपर भी पत्ते रहते हैं। सभवत वह उन्हें भी चुगना चाहती हो। पर न उसकी गर्दन बढी, न उसका अगला भाग लम्वा हुआ और न उसके लिए चारे की कमी हुई, जवकि बकरियो की सख्या जिराफ की तुलना मे कही अधिक है। अपनी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ अभ्यास करना ही अभीष्ट था तो जिराफ ने बन्दर की तरह पेंड पर चढने का अभ्यास क्यो नही किया। यह अपेक्षाकृत आसान रास्ता था और बहुत जल्दी—दो चार वर्ष मे ही काम वन जाता। फलत. जिराफ की गर्दन के लम्बा होने की कहानी कल्पना से अधिक कुछ नही।

यदि प्रकृति पूर्वकाल मे एक व्यक्ति को विकृत करने योग्य थी तो उसने अव यह काम करना क्यो वन्द कर दिया? क्रमिक विकास का सिलसिला मनुष्य पर आकर क्यो ठहर गया और मनुष्य से आगे उसका और कुछ क्यो नही वना?

यदि यन्त्र के विकास जैसे सिद्धान्त पर प्राणियो का विकास हुआ तो जैसे निचले स्तर के घटिया यन्त्रो का निर्माण वन्द होकर (मोटर, साइकल आदि) केवल अन्तिम विकसित नमूने के ही बनाये जाते हैं वैसे ही विकास की अन्तिम सीढी पर पहुचे हुए केवल मनुष्य ही सृष्टि मे रह जाने चाहिये थे।

जीवन सग्राम मे यदि योग्यतम ही बचे रह जाते हैं तो क्या कारण है कि मछली से रूपान्तर होते-होते योग्यतम और श्रेष्ठतम प्राणी—मनुष्य के वन जाने पर भी जितने छोटे कीडे हैं सख्या मे अधिक हैं और योग्यतम माने जाने वाले

मनुष्य से तो प्राय. (शेर, हाथी जैसे कुछ प्राणियो को छोडकर) सभी प्राणी अधिक हैं। निर्वल होने के कारण मनुष्य से नीचे की तो सभी जातियाँ कभी की स्वत समाप्त हो जानी चाहिये थी। मनुष्य को वल मे हाथी, शेर और घोडे ने परास्त कर दिया। आयु मे कछुए और साँप ने पछाड दिया। कारीगरी, परिश्रम, सचय और वन्दोवस्त मे शहद की मक्खी अपने से उत्तरोत्तर प्राणियो से कही श्रेष्ठ है। वौद्धिक स्तर पर विद्वानो की अपेक्षा मूर्खों की सख्या कहीं अधिक है।

आज भी मछली से मछली, वन्दर से वन्दर, चिडिया से चिडिया ही पैदा होती है। ये अपने पूर्वजो की भाति मनुष्य क्यो नही वन गये ? न कभी वन्दर से मनुष्य का जन्म देखा सुना गया और न छिपकली के अण्डे से गिलहरी निकलती देखी गई। मनुष्य और वनमानुष के सयोग से भी मनुष्य पैदा न हो सका।

स्वाभाविक निर्वचन के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वभावत अपने आपको योग्यतम वनाने का प्रयत्न करता रहता है। फिर क्यो माता-पिता अपनी सतान की तथा राजा अपनी प्रजा की शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था करते हैं। पहाडो और जगलो मे रहने वाले लोग—यहा तक कि पढे-लिखे माता-पिता के वच्चे विना स्कूल कालिज मे गये विद्वान् क्यो नही वन जाते ? सरकस मे काम करने के लिये स्वय सीखे-सिखाये पशु क्यो नही मिल जाते ?

प्रत्यक्ष मे जहा उन्नति का नियम काम करता है वहा साथ ही साथ अवनति का नियम भी काम करता है। मूर्खो की सन्तान विद्वान् और विद्वानों की सन्तान मूर्ख देखी जाती है। इसी प्रकार पापियो की सन्तान धर्मात्मा और धर्मात्माओ की सन्तान पापी देखी जाती है। यदि सन्तति अनुक्रम का सिद्धान्त ठीक होता तो उत्तरोत्तर अधिक वुद्धिमान् और धर्मात्मा ही वनते जाने चाहिये थे। जो जातिया कभी उन्नत और सभ्यता के शिखर पर थी और ससार के विशाल भू-भाग पर शासन करती थी वे आज अवनत और पद-दलित एवं परमुखापेक्षी हैं।

यदि योग्यतम की ही विजय होती है तो परिवार मे सवसे निर्वल शिशु का पालन-पोषण क्यो किया जाता है ? जीने मे समर्थ होगा तो जी जायेगा—ऐसा सोचकर उसे अपने हाल पर क्यो नही छोड दिया जाता ? पशु-पक्षी तक भी अपने वच्चो का पालन पोषण क्यो करते है ?

यदि परिस्थिति के अनुरूप शरीर का निर्माण होता है तो एक ही परिस्थिति मे जन्म लेने वाले भाई-वहन मे वहन के मुह पर दाढी मूछ क्यो नही होती ? हाथी और हथिनी मे हथिनी के मुह मे वाहर निकले दात क्यो नही होते ? मोर और मुर्गे की भाति मोरनी और मुर्गी के सुन्दर पर और कलगी क्यो नही होते जवकि वे मादा हैं जिनमे सौन्दर्य विशेष अपेक्षित है।

यदि यह माना जाये कि किन्ही पशुओ में सीगो की उत्पत्ति इसलिये हुई

जिससे वे सघर्ष के समय बचाव के लिए हथियार की तरह उनका उपयोग कर सकें तो सभी पशुओ के सीग क्यो नही निकले ? मनुष्य के भी रहते तो अच्छा था। उसे अपने बचाव के लिये लाठी आदि की व्यवस्था न करनी पडती ? यदि रक्षार्थ सीगो का विकास हुआ तो हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक जगली पशुओ मे केवल नर ही के सीग क्यो हुए ? क्या मादा को अपना बचाव नही करना था ?

शीतप्रधान प्रदेशो मे प्राणियो मे रोम बढना तथा उष्ण देशो मे रोमो का न होना विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार आकृति परिवर्तन प्रसग मे प्राणियो की आवश्यकता के कारण है। परन्तु हम देखते हैं कि अनादि काल से उत्तरी ध्रुव और ग्रीनलैण्ड जैसे शीत प्रधान प्रदेशो मे बसने वाले मनुष्य के शरीरो पर भी रीछ या भेड जैसे बाल उत्पन्न न हो सके। जैसे बाल राजस्थान की भेड के होते हैं लगभग वैसे ही हिमालय मे रहने वाली भेडो के होते हैं। अफ्रीका के मरुस्थल मे लम्बे बालो वाला रीछ और बिना बालो वाला गैण्डा एक साथ रहते हैं।

नाना स्थलो पर जन्तु विशेषो का पाया जाना भी जातियो की स्वतन्त्र उत्पत्ति को दर्शाता है। हाथी, सिंह व मोर भारत मे होते हैं, इग्लैण्ड मे नही। जिराफ अफ्रीका में ही पाया जाता है। आस्ट्रेलिया का जलवायु अनुकूल होने पर भी पहले वहाँ खरगोश नही होते थे। जब यूरोप वाले ले गये तो होने लग गये। यदि अमीबा से ही सबकी उत्पत्ति होती तो सब स्थानो पर सब प्रकार के पशु-पक्षी हो जाने चाहिये थे।

मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं उनमे किसी के भी बालो मे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। गाय, घोडा, हाथी आदि जिस रग के पैदा होते हैं आजीवन उसी रग के रहते हैं। मनुष्य के निकटतम पूर्वज माने जाने वाले बन्दर और वनमानुष भी सदा एक ही रग के रहते है। परन्तु मनुष्य अपने जीवन काल मे प्राय ३-४ बार रग बदलता है। किस परिस्थिति के कारण अथवा किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा होता है ? उसका बस चले तो कभी अपने बालो को श्वेत या पिंगल न होने दे।

घ्राण शक्ति कितने काम की है। प्राणिमात्र के लिये उसकी उपयोगिता है। घ्राण शक्ति की उपयोगिता के कारण मनुष्य अपनी सहायता के लिये कुत्तो पर आश्रित है। विकासक्रम मे उसने अपनी इस शक्ति को क्यो गवा दिया ?

राजस्थान मे पीने के पानी की बडी विकट समस्या है। वहा रहने वाली भैंसो को तैरने का अभ्यास कराने के लिये नदी सरोवर कहा मिलेंगे। फिर भी वहा रहने वाली भैंस तैरना नही भूली। पानी मे गिरते ही तैरने लगेगी।

चूहो की दुम काट २ कर बिना दुम के चूहे पैदा करने का प्रयत्न किया

गया। किन्तु अनेक पीढियो तक परिश्रम करने पर भी सफलता नही मिली। हिन्दुओ मे लाखो वर्षों से लडके लडकियो के नाक कान छिदते चले आ रहे हैं, यहूदियो और मुसलमानो मे ३ हजार वर्ष से खतना कराते आ रहे हैं, और न जाने कबसे चीन की स्त्रिया अपने पाव छोटे करने लिये प्रयत्नशील रही। किन्तु न आज तक हिन्दुओ मे कोई बालक छिदे छिदाये कानो के साथ पैदा हुआ, न मुसलमानो और यहूदियो मे खतना के साथ और न चीन मे कोई स्त्री छोटे पैरो वाली पैदा हुई।

यदि आवश्यकता के पूर्त्यर्थ ही प्राणी अपने अगो का विकास करता तथा तदनुसार आकृति ग्रहण करता है तो नरो के स्तन क्यो हैं? क्या कभी वे भी गर्भ धारण करते तथा बच्चो को दूध पिलाते थे? इसी प्रकार अजा के गल स्तनो और मनुष्य की छटी उगली का क्या प्रयोजन है? भेडे के सीग क्यो आ जाते हैं? इन सब बातो से विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अगो की कल्पना मिथ्या सिद्ध हो जाती है।

चीटी के प्रथम तो मस्तिष्क होता नही। होता भी होगा तो मनुष्य तो क्या अनेकानेक अन्य पशु पक्षियो की तुलना मे कितना होगा? किन्तु विकास के अत्यधिक निम्नतर स्तर का प्राणी होने पर भी उसके बुद्धि कौशल और दूरदर्शिता को देख कर दातो तले उगली दबानी पड़ती है। चीटी को आसन्न भविष्य मे होने वाली वर्षा का तथा कुत्ते को सभावित भूकम्प आदि का आभास कैसे हो जाता है?

यदि भिन्न २ जातियों के प्राणी एक दूसरे से समागम करके सन्तान उत्पन्न करते हैं तो वह संतान बाझ होती है। जैसे गधे और घोड़े के सयोग से उत्पन्न खच्चर। जिन दो भिन्न जातियो के मिश्रण से वंश चलता है वह दो जातिया न होकर एक ही जाति के विभक्त प्राणी होते हैं। व्याघ्र और सिह के सयोग से सन्तति होती है क्योकि उन दोनो का उद्गम स्थान एक ही है। किन्तु आगे चलकर यह मिश्र योनिज जाति मूल जाति के रूप की हो जाती है। अर्थात् धीरे २ वह व्याघ्र की अथवा सिह की शक्ल की हो जाती है।

प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की विकासवादी कल्पना रोचक होते हुए भी उसकी प्रक्रिया मानव मस्तिष्क को सतुष्ट करने मे समर्थ नहीं है। इस प्रक्रिया से अभिभूत होकर आधुनिक विद्वानो ने मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नरसिंहावतार आदि के रूप मे पौराणिक अवतारवाद के माध्यम से अपनी कल्पना को सतुलित करने का प्रयास किया है। इस मान्यता के उत्तर मे इतना कहना पर्याप्त होगा कि जिस काल मे प्रथम मत्स्यावतार के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है उससे बहुत पहले से मानव की तथा अन्य प्राणियो की विद्यमानता सिद्ध है। अवतारवाद मे प्राणिसृष्टि के क्रमिक विकास को नही ढूढा जा सकता। वस्तुत जो योनिया इस समय जिस रूप मे हैं सृष्टि के आदिकाल से वह उसी

रूप मे चली आ रही हैं। आवश्यकता, तज्जन्य इच्छा, अभ्यास एव परिस्थिति के कारण उसमे कभी कोई परिवर्तन नही होता। प्रतिकूल स्थितियो मे कोई जाति नष्ट भले ही हो जाये, पर उसमे ऐसा असाधारण परिवर्तन नही आ सकता जो उसकी नैसर्गिक जाति को बदल कर उसे कुछ का कुछ बना दे ॥६५॥

सर्गादौ प्राणिनां सृष्टियौवनसंपन्ना ॥६६॥

सृष्टि के आदि मे प्राणी युवावस्था मे उत्पन्न हुए।

वालक उत्पन्न होते तो उनके पालन पोषण के लिये अन्य समर्थ प्राणियो की अपेक्षा होती। किन्तु अमैथुनी सृष्टि मे सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न ही नही उठता। दस मास माता के गर्भ मे सर्वाधित होकर जन्म लेने के वाद भी मानवशिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वत' अपना पालन पोषण एव मरक्षण करने मे असमर्थ होता है। यह समस्या अन्य प्राणियो के लिये भी वहुत कुछ ऐसी ही है। यदि वृद्धावस्था मे प्राणी का जन्म हो तो वह आगे मैथुनी सृष्टि मे सजातीय प्रजनन मे असमर्थ होगा। अत. आदि सृष्टि मे प्राणी का प्रादुर्भाव देह की ऐसी स्थिति मे मभव है जव वह अपने पोपण-सरक्षण के लिये परापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि के नियमानुसार साजात्यप्रजनन मे समर्थ हो। जहा तक मानव की उत्पत्ति का संबन्ध है यह अवस्था २०-२२ वर्ष की आयु के आस पास के समान होनी चाहिये। आज के वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानते है। वोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इस्टीट्यूट के जीवविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० क्लार्क के अनुसार पहले मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति मे हुआ जव "Man appeared able to think, walk and defend himself' वह चल सकता था, सोच सकता था और अपनी रक्षा कर सकता था ॥६६॥

सव मनुष्य एक ही माता-पिता की सतान नही हैं क्योकि—

सृष्ट्यादावनेकमानवोत्पत्तिः ॥६७॥

सृष्टि के आरम्भ मे अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए।

जिन जीवो के कर्म ऐश्वरी अमैथुनी सृष्टि मे उत्पन्न होने के थे वे सभी सृष्टि के आदि मे हुए। सृष्टि मे देखने से भी यह निश्चय होता है कि मनुष्य अनेक मा वाप की सतान है। अन्य प्रणियो के सम्वन्ध मे भी यही नियम है। मुण्डकोपनिषद् (२-१-७) मे पाठ है—"तस्माच्च देवा वहुधा सम्प्रसूता साध्या मनुष्या पशवो वयासि।" अर्थात् परमात्मा ने वहुत से देव, ज्ञानी, साध्य, मनुष्य तथा पशु-पक्षी उत्पन्न किये। यजुर्वेद (३१-६,८,६) मे भी इसी प्रकार का उल्लेख है। यहा सभी के साथ वहुवचन का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि सभी प्राणियो के अनेक जोडे सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न हुए। इसी कारण सृष्टि मे इतना

वैविध्य दीख पडता है। उपनिषद् के उपर्युक्त सदर्भ मे पशु-पक्षियो के अतिरिक्त तीन कोटि के उच्च जीव अभिप्रेत है । जो पिछले जन्म मे साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणो को पाकर उत्पन्न हुए वे 'देव' कहाये । जिन्होने साधना द्वारा इस जन्म मे दिव्य गुण प्राप्त किये वे 'साध्य' तथा जो साधारण गुणो वाले हैं वे 'मनुष्य' कहाये । ये मनुष्यो की ही तीन श्रेणिया है । निश्चय ही इनमे से प्रत्येक की पर्याप्त सख्या रही होगी ॥६७॥

वर्त्तमान सृष्टि का आदि भी है और एक दिन अन्त भी होगा क्योकि—

नानादित्वं संयुक्तस्य ॥६८॥

सयोग मे उत्पन्न होने वाला अनादि नही होता ।

जो सयोग से वनता है, वह सयोग से पूर्व नही होता और वियोग के पश्चात् नही रहता । अत जो सयोगज है वह अनादि और-अनन्त नही हो सकता । ससार मे पदार्थों का वनते विगडते रहना प्रत्यक्ष हैं । कठोर से कठोर पाषाण, हीरा या फौलाद को तोडने, गलाने या भस्म कर देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ये सव परमाणुओ के सयोग से वने हैं । जो सयुक्त हैं वे समय पाकर पृथक् २ भी अवश्य होगे । जिन पृथ्वी आदि पदार्थों की रचना सयोग विशेष से हुई है वे अनादि कभी नही हो सकते और जो अनादि नही वे अनन्त भी नही हो सकते । अत सयोगजन्य होने से इस सृष्टि का कभी न कभी वनना निश्चित है और समय आने पर इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है ॥६६॥

किन्तु जैसे वर्त्तमान ससार सदा वना नही रह सकता वैसे ही सदा के लिये इसका उच्छेद भी नही हो सकता । सृष्टि का प्रवाह निरन्तर वना रहता है । क्योकि—

सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिसहारा प्रवाहेणानादय. ॥६६॥

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं ।

प्रकृति का विकार होने से ससार परिणामी है । इस कारण यह वनता भी है और विगडता भी है । इस रूप मे इसकी दो स्थितिया हैं—सर्ग और प्रलय । ये एक दूसरे के अनन्तर आवर्त्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नही होता । ससार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह सत् है तो 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ' के सिद्धान्तानुसार वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा । परन्तु उसका सदा अपने वर्त्तमान रूप मे वना रहना आवश्यक नही । इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है । ससार का अत्यन्त उच्छेद हो जाय तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणो का अभाव हो जाये । इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके अपने २ गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्वादि, जीव का कर्म

फलभोक्तृत्वादि) अनादि हैं वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि है ॥९९॥

सृष्टि और प्रलय के क्रम को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

दिनक्षपयोराद्यन्ताविव प्रारम्भावसानौ सृष्टे ॥१००॥

दिन और रात के आदि और अन्त के समान (सृष्टि का) प्रारम्भ और अन्त (सर्ग और प्रलय) होते हैं।

प्रत्येक दिन और रात्रि का आदि और अन्त देखने मे आता है। किन्तु दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न तो आदि है और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के वाद सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न अन्त होगा।

जैसे ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का कभी आरम्भ और अन्त नही वैसे ही उसके सृष्टिकर्तृत्वादि कर्त्तव्य-कर्मो का भी आरम्भ और अन्त नही ॥१००॥

जब-जव नई सृष्टि वनती है तव क्या उसमे कुछ विलक्षणता होती है–इसका समाधान करते हैं—

समानैव सृष्टि. प्रतिकल्पम् ॥१०१॥

प्रत्येक कल्प मे एक जैसी सृष्टि होती है।

जैसी सृष्टि अब है वैसी ही पहले होती थी और वैसी ही आगे होगी। जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान मे न्यूनाधिक्य होता रहता है उसी के काम मे भूल चूक होने से उसे उसमें सशोधन-परिवर्धन करना पडता है। परमेश्वर के निर्भ्रान्त तथा पूर्ण होने से उसके सभी कार्य पूर्ण तथा निर्दोष होते है। अत वे सदा एक जैसे होते हैं।

ऋग्वेद (१०-१९०-३) मे स्पष्ट लिखा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

परमेश्वर ने जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, विद्युत्, अन्तरिक्ष आदि पूर्व कल्प मे वनाये थे वैसे ही अव बनाये हैं और आगे भी वनायेगा। यजुर्वेद (४०-८) मे भी ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना के सन्दर्भ मे कहा है कि वह 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' सब पदार्थो का ठीक-ठीक विधान करता है ॥१०१॥

अव कुछ ग्रहोपग्रहो की गत्यादि का विवरण देते हैं—

स्वस्वकक्षायां परिभ्रमन्ति लोका ॥१०२॥

सब लोक लोकान्तर अपनी-अपनी कक्षा मे घूमते हैं ॥१०२॥

सूर्यं परितो भूमि ॥१०३॥

पृथिवी सूर्य के चारो ओर घूमती है ॥१०३॥

भूमि परितश्चन्द्रलोकः ॥१०४॥

चन्द्रमा पृथिवी के चारो ओर घूमता है ॥१०४॥

सत्येनोत्तभिता भूम्यादयः ॥१०५॥

पृथिव्यादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने धारण कर रक्खा है ।

वेदादि ग्रन्थो मे अनेकत्र और अनेक प्रकार से पृथिव्यादि लोको के धारक के रूप मे परमेश्वर का उल्लेख है। 'स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्' (यजु १३-४) 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभित येन नाक' (यजु ३२-६) 'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति' (ऋग् १०-३१-८) 'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्' (अथर्व ४-११-१) जैसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहाँ 'उक्षा' और 'अनड्वान्' पदों को देखकर मूर्खो ने बैल के कन्धो पर पृथिवी को बिठा दिया। वस्तुत वर्षा द्वारा भूगोल का सेचन करने से यहां 'उक्षा' पद सूर्य का पर्याय है। सूर्य ने अपने आकर्षण मे पृथिवी को धारण किया है और सूर्य को धारण करने वाला परमेश्वर है। इसी प्रकार 'शेषाधारा पृथिवी' मे 'शेष' पद शेषनाग सर्प का वाचक न होकर ईश्वर का वाचक है। प्रलय काल मे जब सब नष्ट (नाश कारणलय) हो जाता है तब भी बचे रह जाने से परमेश्वर ही 'शेष' कहाता है ॥१०५॥

क्या सूर्यादि नक्षत्रो मे भी सृष्टि है ?

सूर्यचन्द्रादिष्वपि प्रजासद्भाव वसुत्वात्तेषाम् ॥१०६॥

सूर्य, चन्द्रमा आदि मे भी प्राणी रहते हैं, उनके वसु होने से ।

निवास करने के स्थान को 'वसु' कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि 'वसु' है। अत वहा मनुष्यादि की सृष्टि अवश्य होनी चाहिये ॥१०६॥

तो क्या वहा भी हमारे जैसे प्राणी होंगे ?—

आकृतिषु भेदः सम्भाव्य ॥१०७॥

आकृति मे भेद होना संभव है ।

जैसे इस पृथिवी पर ही दूरस्थ देशो के मनुष्य तथा अन्य प्राणियो के रूप

रग मे भेद पाया जाता है वैसे ही अन्य ग्रहोपग्रहो के प्राणियो के आकारादि की रचना भी भिन्न हो सकती है। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस लोक मे है वैसी ही अन्य लोको मे भी होगी ॥१०७॥

विरोध का लक्षण कथन करते हैं—

एकस्मिन्नेव विषये भूयसां मिथोऽन्यथा कथन विरोधः ॥१०८॥

एक ही विषय मे अनेको के परस्पर अन्यथा कथन को विरोध कहते है।

विभिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न विषयो मे कही हुई बातो को परस्पर विरोधी नही कहा जा सकता। यदि एक विषय के भिन्न-भिन्न अगो को लेकर अनेक व्यक्ति उन पर चिन्तन करे तो वे एक-दूसरे के पूरक होगे, विरोधी नही ॥१०८॥

इस आधार पर—

षड्दर्शनेषु मिथोऽविरोधः सृष्टिविद्याया पृथग्भूतावयवानां पृथक् पृथक् शास्त्रेषु प्रतिपादनात् ॥१०९॥

छह दर्शनो (साख्य, वैशेषिक, योग, न्याय, वेदान्त व मीमासा) मे परस्पर विरोध नही है, क्योकि सृष्टि विषयक भिन्न-भिन्न विषयो मे से एक-एक विषय का एक एक दर्शन मे प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक ने अपने-अपने विषय मे अपनी-अपनी बात कही है। 'साख्य' दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के विवेकपूर्वक जड और चेतन तत्त्वो का विवेचन किया है। 'वैशेषिक' मे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव–इन पदार्थों का विचार प्रस्तुत किया है। 'योग' मे अष्टाङ्गो के अनुष्ठान द्वारा सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति के सोपान तक पहुचने की विधि वर्णित है। 'न्याय' मे प्रमाण और प्रमेय के विवेचन द्वारा प्रमाण-मीमासा और आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति की मीमासा की गई है। 'मीमासा' मे ब्राह्मण ग्रन्थो पर आधारित वेदोक्त धर्म का विवेचन हुआ है। 'वेदान्त' अद्वितीय ब्रह्म का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इन दार्शनिक विचारको ने अपनी-अपनी बात कही है। एक-दूसरे का खण्डन कही नही किया ॥१०९॥

इन दर्शनो मे परस्पर विरोध न होने मे एक अन्य युक्ति देते है—

श्रुतिप्रामाण्याच्च सर्वत्र ॥११०॥

सर्वत्र वेद का प्रामाण्य होने से।

वेद स्वतः प्रमाण हैं और वेदो का प्रामाण्य सभी दर्शनो को मान्य है। अत सबके वेदमूलक होने से उनके परस्पर विरोधी होने का प्रश्न ही नही उठता ॥११०॥

इस पर शका करते हुए कपिलाचार्य के नास्तिक होने मे प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

ईश्वरासिद्धे' इत्यादिभि· कपिलस्यानीश्वरवादित्वमारोपितम् ॥१११॥

'ईश्वरासिद्धे' इत्यादि सूत्रो से कपिल मुनि का अनीश्वरवादी होना कहा जाता है ।

निर्विवाद रूप से महर्षि कपिल साख्य के प्रवक्ता थे । उनके अनन्तर सांख्य परम्परा मे अनेक विद्वान् हुए । उनमे से कुछ ने कपिल से अपना मतभेद भी व्यक्त किया है । उनमे मुख्य थे आचार्य वार्षगण्य । वह प्रकृति की प्रवृत्ति मे चेतन प्रेरणा की अपेक्षा नही मानते । उनकी यह मान्यता जगत् से ईश्वर के नियन्त्रण को हटा देती है । भारतीय साहित्य पर साख्य के प्रभाव का लाभ उठाने की भावना से अनीश्वरवादी बौद्धो ने साख्य के नाम पर वार्षगण्य की इन मान्यता का प्रचार किया । कालान्तर मे साख्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह मान्यता कपिल पर आरोपित हो गई । इसी मान्यता के कारण साख्य के 'ईश्वरासिद्धे' (१-५७) इस सूत्र का अनर्थ करके कपिल को अनीश्वरवादी मान लिया गया।

इस सूत्र का वास्तविक अभिप्राय अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है—

नेश्वरस्योत्पादनकारणत्वेन प्रत्यक्षत्वम् ॥११२॥

सृष्टि के उपादान कारण के रूप मे ईश्वर का प्रत्यक्ष नही है, यही अर्थ है (ईश्वरासिद्धे का) । पूर्वापर सन्दर्भ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र मे, प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व के जगत् का उपादान न होने के कारण, जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया गया है । सर्व-जगन्नियन्ता ईश्वर का निषेध नही किया गया ॥११२॥

इस पक्ष के समर्थन मे साख्य मे ही स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं । वही कहा है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥११३॥

वह (ईश्वर) सर्वान्तिर्यामी तथा सर्वस्रष्टा है ।

साख्य (३-५६) के अन्तर्गत इस सूत्र के अनुसार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणो तक मे व्याप्त होकर समस्त जगत् की रचना करके उसका नियन्त्रण करने वाला परमेश्वर है । जगत् के उपादानभूत ईश्वर मे विश्वास न करके उसके निमित्त कारण के रूप मे जगत् के नियन्ता एव अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व को कपिल आचार्य स्वीकार करते हुए कहते हैं—

ईदृशेश्वरसिद्धि· सिद्धा ॥११४॥

इस प्रकार के (जगत् के निमित्त कारण के रूप मे) ईश्वर की सिद्धि निश्चित है ॥११४॥

सप्तम अध्याय

तीन अनादि

सदकारणवन्नित्यम् ।।१।।

कारण रहित भावरूप पदार्थ नित्य है ।

जो वस्तु विद्यमान है किन्तु अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नही रखती वह नित्य कहाती है । जो पदार्थ उत्पत्तिरहित, निरवयव तथा त्रिकालवर्ती हो वही नित्य होता है । लोकलोकान्तर मे जितने पदार्थ दृष्टि-गोचर होते है वे विद्यमान तो हैं किन्तु सभी किसी का परिणाम हैं अर्थात् कभी न कभी, कही न नही, और किसी न किसी कारण से उत्पन्न हैं । जो वस्तु अपने अवयवो मे मिलकर बनती है वह सावयव होने से विकारी एव अनित्य होगी । इसलिए जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नही, वही नित्य कहाता है ।।१।।

ऐसे नित्य पदार्थों का उल्लेख अगले सूत्र मे किया है—

ईश्वरो जीव· प्रकृतिश्चैतत्त्रयमनादि स्वरूपत ।।२।।

ईश्वर, जीव और प्रकृति–ये तीन तत्त्व स्वरूप से अनादि है ।

जो अनादि-अनुत्पन्न है वह अनिवार्यत अनन्त भी है । और जो अनादि एव अनन्त है वही नित्य है । नित्य होने से उसका कोई कारण नही होता ।।२।।

तीन का होना क्यो आवश्यक है–इसका विवेचन अगले सूत्र मे किया गया है—

एकस्मिन्नसम्भवात् ।।३।।

एक मे सम्भव न होने से ।

किसी भी कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है । 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' के अनुसार यह ससार भोग और अपवर्ग का साधन है । यदि भोग्य है तो उस का भोक्ता होना आवश्यक है । भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने तथा दोनो का नियमन करने वाला भी कोई अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है । ऋग्वेद की एक ऋचा (१-१६४-२०) मे इन तीनो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

चैतन्यादि गुणो मे सदृश, व्याप्य-व्यापक भाव से सयुक्त, परस्पर सहयोगी दो सत्तायें, अनादि मूलरूप कारण और शाखा रूप कार्य वृक्ष अर्थात् प्रकृति से सम्बन्धित हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव इस वृक्ष रूप ससार मे पाप-पुण्य रूप फलो को अच्छी तरह भोगता है और दूसरा परमात्मा 'क्लेशकर्मविकाशयैरपरामृष्ट' होने से फलो को न भोगता हुआ सब ओर प्रकाशित हो रहा है।

परमात्मा प्रकृति का केवल नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१-१२) मे यही बात 'भोक्ता भोग्य प्रेरितारञ्च' कहकर स्पष्ट की गई है। ईश्वर के पूर्ण होने से सृष्टि मे उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई सत्ता अवश्य होनी चाहिये। अन्यथा सृष्टि रचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी विना प्रयोजन के किसी कार्य मे प्रवृत्त नही होता—'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्त प्रवर्त्तन्ते'। खाने वाला कोई न हो तो कौन भोजन वनाने वैठेगा? इस भोक्ता की सज्ञा 'जीव' है। चेतन तत्त्व किसी पदार्थ का उपादान कारण नही हो सकता। वह केवल उसका कर्त्ता, नियन्ता अथवा भोक्ता हो सकता है। उपादान कारण केवल जड हो सकता है। वही 'प्रकृति' है। कर्त्ता के विना क्रिया का होना असम्भव है। अचेतन तत्त्व स्वय कार्यरूप मे परिणत नही हो सकता। उसे गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् पुरुष विशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही 'ईश्वर' कहाता है। इसी प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, पालक, पालित, पालनसाधन, अध्यापक, अध्येता, अध्ययन, व्याख्याता, व्याख्यान, श्रोता, क्रेता, विक्रेता, क्रययोग्य वस्तु आदि जव तक तीन तीन न हो तव तक सासारिक व्यापार सम्भव नही। इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर से सच्चित्स्वरूप जीव तथा सत्स्वरूपा प्रकृति, जीव से ईश्वर तथा प्रकृति और प्रकृति से ईश्वर तथा जीव, सर्वथा भिन्न तथा अनाद्यनन्त होने से नित्य हैं।

नासदीय सूक्त (ऋ १०-१२९) मे सत् असत् आदि के निषेध-विशेषत दूसरे मन्त्र के अन्तर्गत 'तस्माद्धान्यन्नपर किं चनास' शब्दो से यह प्रतीत होता है कि यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से उत्पन्न हुआ है क्योकि सृष्टि से पूर्व और कुछ था ही नही। वस्तुत यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। इस सारे सूक्त मे जगत् की उत्पत्ति मे प्रधान कारणो मे से परब्रह्मरूप निमित्त कारण की प्रधानता दर्शाई गई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे आये 'इय विसृष्टिर्यत आवभूव' शब्दो से स्पष्ट है। मीमासादर्शन (१-४-१२) के 'प्रशसा' सूत्र मे 'अयज्ञो वा एष असामा' 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्य, पशवो गोऽश्वाः' आदि वाक्यो पर विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि विधेय सामयुक्त यज्ञ की प्रशसा के लिए सामरहित यज्ञ की निन्दा—हीनता दर्शाई है। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त मे 'नासदासीन्नोसदासीत्'

इत्यादि मे सत् असत् के अभाव का निर्देश परब्रह्म की जगद् उत्पादक शक्ति की प्रशसा का प्रधानत्व द्योतन के लिये है, न कि सत् प्रकृति एव अन्य अर्थ आदि के सर्वथा निषेध के लिये। मीमासको का न्याय है–'न हि निन्दा निन्दितु प्रवर्त्तते-ऽपितु विधेय स्तोतुम्'। इसी प्रकार यहा भी समझें–'न हि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धु प्रवृत्त अपितु परब्रह्म प्रशसयितुम्, तस्य प्रधानत्व द्योतयितु वा।'

सृष्टि की रचना मे ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनो कारण हैं। इनमे से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव न होगा। इस सन्दर्भ मे तीसरे मन्त्र के अन्तर्गत 'तपसस्तन्महिना जायतैकम्' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि ईश्वर न होता तो तपस् का प्रेरक कौन होता ? तपस् के अभाव मे प्रकृति अव्यक्त ही रहती। यदि प्रकृति न होती तो तपस् की क्रिया कहा होती ? और यदि जीव न होता तो सृष्टि की रचना के निमित्त तपस् की क्रिया किसके लिए होती ? ऋग्वेद मे अन्यत्र (१०-१२१-१) 'हिरण्यगर्भ. समवर्त्तताग्रे' इत्यादि मन्त्र मे आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द बडा अर्थपूर्ण है। यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति दोनो के लिये सयुक्त शब्द है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि 'हिरण्य (प्रकृति) को अपने गर्भ मे धारण करने वाला ईश्वर पहले से विद्यमान था'। हा, व्यवहार न होने से, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति अव्यक्त दशा मे थी। इससे प्रकृति का निषेध न होकर उसका और ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है ॥३॥

अब जीव के ईश्वर से भिन्न होने का प्रतिपादन करते है—

नित्यौ मिथो भिन्नौ ब्रह्मजीवौ ॥४॥

ब्रह्म तथा जीव दोनो नित्य तथा एक दूसरे से भिन्न हैं।

जीव एकदेशी तथा अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक-सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है और जीव शुद्ध चेतन-अपरिणामी रहता हुआ भी कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म के सर्वज्ञ-सर्वव्यापक होने से उसे भ्रम या अविद्या नही होती जबकि जीव कभी ज्ञानी तथा कभी अविद्याग्रस्त होता है। जीव कर्मफल भोगने के लिए बार-बार शरीर धारण करता है जबकि ब्रह्म जन्म-मरण के बन्धन मे न आकर क्षुधा-तृषा-रोग-भय आदि से सदा मुक्त रहता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म स्वरूप और वैधर्म्य से सदा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं ॥४॥

जीव और ब्रह्म के भिन्न होने मे हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सर्वज्ञत्वादे ॥५॥

सर्वज्ञत्वादि गुणो के कारण।

परमात्मा सर्वज्ञ है तो कुछ ज्ञेय भी होगा ही। 'सर्वं' न हो तो सर्वज्ञ कैसा ? बिना व्याप्य के व्यापक, बिना उपासक के उपास्य, बिना प्रजा के प्रजापति,

विना स्व के स्वामी आदि की कल्पना कैसे हो सकती है ? फिर, सर्वज्ञत्व आदि सापेक्ष गुण हैं। यदि कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा अनन्त है तो उससे भिन्न (क्योंकि परस्पर विरोधी गुण एकत्र नहीं रह सकते) कोई अल्पज्ञ, एकदेशी तथा अल्पशक्ति होना चाहिये। यदि वह सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्म' है तो कोई उससे छोटा भी होना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न जीव तथा जगत् का होना स्वतः सिद्ध है ॥५॥

इसी विषय मे अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

विधिनिषेधान्याञ्च ॥६॥

विधि-निषेध के कारण भी।

शास्त्रो मे अनेकत्र विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश किया गया है। 'सत्य वद, धर्म चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद, त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृध, ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत्' आदि शब्दो का लक्ष्य क्या ब्रह्म हो सकता है ? क्या सर्वज्ञ ब्रह्म को 'किं कर्म किमकर्म' का निर्देश करना आवश्यक है ? क्या ब्रह्म जुआ खेलने बैठेगा जो उसे 'अक्षैर्मादीव्य' का उपदेश दिया जाये ? ब्रह्म का अपने आप से 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' की प्रार्थना करना क्या उपहासास्पद नही होगा ? स्पष्ट है इस प्रकार के विधिनिषेधात्मक वाक्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म को लक्ष्य करके नही कहे जा सकते। निश्चय ही यह सब अल्पज्ञ जीव के लिये है जो ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है ॥६॥

भिन्न प्रतीत होते हुए भी जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र है—इसका खण्डन करते हुए कहा है—

न हि जीवो ब्रह्मण प्रतिबिम्बं निराकारत्वात्तस्य ॥७॥

ब्रह्म के निराकार होने से जीव उसका प्रतिबिम्ब नही है।

प्रतिबिम्ब साकार का साकार मे होता है। दर्पण और मुख दोनो आकार वाले हैं। इसलिये साकार दर्पण मे साकार मुख का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। ब्रह्म आकार रहित है। अतः उसका प्रतिबिम्ब कभी नही हो सकता ॥७॥

स्वच्छ जल मे निराकार आकाश का आभास होता है—इस भ्रान्ति का निवारण करते हुए कहते है—

न खलु निराकारस्य विभोर्नभस प्रतिबिम्बम् ॥८॥

निश्चय ही निराकार तथा सर्वव्यापक आकाश का प्रतिबिम्ब नही हो सकता।

सर्वव्यापक होने से आकाश निराकार है। इसलिये जल मे उसके प्रतिबिम्ब

का प्रश्न ही नही उठता। फिर निराकार होने से आकाश दृश्य भी नही। इसलिये वह आख से देखा भी नही जा सकता ॥८॥

जो नीला-नीला चन्दोआ सा ऊपर दिखाई देता है वह आकाश नही है। तो फिर वह क्या है—इसका स्पष्टीकरण करते है—

पृथिव्यप्तेजसां त्रसरेणुमात्रमाकाशाख्यं नीलम् ॥९॥

पृथ्वी, जल और अग्नि के त्रसरेणु ही आकाश नाम से जाने जाते है।

सामान्य जन जिसे आकाश समझते हैं वह वास्तव मे आकाश न होकर दूर तक फैले पृथ्वी, जल और अग्नि के त्रसरेणुओ का सघात मात्र है। जल मे उसी की छाया पडती है, आकाश की नही ॥९॥

ब्रह्म का प्रतिविम्व न होने मे एक और युक्ति देते हैं—

प्रतिबिम्बाधिष्ठान पृथगेव ॥१०॥

प्रतिविम्ब का अधिष्ठान उससे भिन्न होता है।

अध्यस्त से अधिष्ठान सदा भिन्न होता है। यदि दो पदार्थों मे दूरी न हो अर्थात् एक दूसरे से पृथक् न हो तो भी एक का दूसरे मे प्रतिबिम्ब नही पड सकता। जीव और ब्रह्म को एक मानने पर प्रतिविंवित पदार्थ ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ नही रहता। अत अधिष्ठान के अभाव मे प्रतिविम्व न हो सकने से ब्रह्म का प्रतिविम्वित होना सम्भव नही है ॥१०॥

वादी के प्रतिविम्ब विषयक एक अन्य दृष्टान्त को सूचित किया है—

अन्त करणेषु चिदाभासाख्यो जीवो ब्रह्मण. आभास जलकुण्डेषु मार्त्तण्डविम्बस्येव ॥११॥

अन्त करणो मे चिदाभास सज्ञक जीव ब्रह्म का आभास है, जलकुडो मे सूर्य के विम्ब के समान।

सूर्य एक है। किन्तु जल से भरे सहस्र कुण्डो मे उसका प्रतिविम्ब पडने पर सहस्र सूर्य दीख पडते हैं। कुण्डो के नष्ट हो जाने, जल के फैल जाने अथवा तरगित होने पर भी सूर्य का कुछ नही बिगडता। वैसे ही अन्त करणो मे ब्रह्म का आभास होता है जिसे चिदाभास कहते हैं। जब तक अन्त करण हैं तभी तक जीव की प्रतीति है। ज्ञान द्वारा अन्त करण के नष्ट हो जाने पर वह ब्रह्म स्वरूप है ॥११॥

उक्त दृष्टान्त से सम्बन्धित तर्क का खण्डन करते हैं—

आभासो देशांतर एव स्वदेशे साक्षात् सत्त्वात् ॥१२॥

आभास देशान्तर मे होता है, स्वस्थान मे साक्षात् होने से।

जो पदार्थ जहाँ स्वय उपस्थित है वहा उसका आभास नही हो सकता। आभास के लिए दूरी अपेक्षित है। 'ज्यो आँखन सब देखिहैं आख न देखी जाय' आख मे दूरस्थ पदार्थों की छाया पडती है किन्तु अपनी नही क्योकि वहा आख स्वय विद्यमान है। यदि आँख को देखना ही हो तो देशान्तर अर्थात् दर्पण अथवा जल मे देखा जा सकता है। वृक्षादि का प्रतिबिम्ब भी अपने मे दूर जल मे पडता है। इसी प्रकार—

सर्वव्यापित्वान्न तदाभास ॥१३॥

सर्वव्यापक होने से उसका (ब्रह्म का) आभास नही हो सकता।

सूर्य जलकुण्डो से और जलकुण्ड सूर्य से दूर हैं। जहा एक है वहा दूसरा नही। अत सूर्य का अपने से दूर देशान्तर मे स्थित कुण्डो मे आभास सम्भव है। परन्तु पूर्ण ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। कोई भी स्थान ऐसा नही जहा वह स्वय न हो। ब्रह्म मे अन्त करण और अन्त करण मे ब्रह्म है क्योकि 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत'। अत उसके लिए कहीं देशान्तर नही। देशान्तर न होने से, जलकुण्डो मे सूर्य की भाति, उसका आभास सम्भव नहीं। फिर, सूर्य और जल कुण्ड दोनो आकार वाले है। यदि निराकर होते तो प्रतिविम्ब कभी न पडता, क्योकि विना आकार के अभास नही होता। परमेश्वर के निराकार होने से उसका कही भी प्रतिविम्वित होना असम्भव है ॥१३॥

जैसे महदाकाश वास्तव मे एक होने पर भी उपाधि भेद ने घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप मे भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है वैसे ही अन्तकरणो की उपाधि से एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् जीवो के रूप मे प्रतीत होता है—इस शका का समाधान अगले सूत्र मे किया है—

न चान्त करणाऽकार ब्रह्म घटाद्याकाशवत् ॥१४॥

घटाकाश आदि की भाति ब्रह्म अन्त करण का आकार धारण नही करता।

घटाकाश आदि के महदाकाश से अनन्यत्व का दृष्टान्त ईश्वर के सम्बन्ध मे नही घट सकता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते है वैसे ब्रह्म के नही हो सकते। उपनिषदो मे भी जहा आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गई है वहा वह विभुत्व के सम्बन्ध मे है, न कि उपाधि के प्रसग मे। दूसरी बात यह है कि आकाश जड है। घटाकाश को स्वय यह ज्ञान नही कि मैं उपाधि के कारण अव तग या तग सा हो गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ लेते हैं। परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वय यह अनुभव क्यो नही होता कि मैं विभु हूँ और अन्त करण के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ। तीसरे, घडे की दीवारें अपने भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित नही कर पातीं। फिर अन्त.करण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणो—सर्वज्ञता,

पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर देती हैं। चौथे, घडे की दीवारें मच्ची होने पर भी आकाश के गुणो को दवाने मे असमर्थ हैं तो अन्त करण की मायावी उपाधियां ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं। जीव के अल्पज्ञ होने मे उसका शरीर की सीमाओ से प्रभावित हो जाना तो समझ मे आ सकता है किन्तु सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ मे नही आ मकती। वस्तुत आकाश भी कभी छिन्न भिन्न नही होता। व्यवहार मे भी हम 'घडा' तो कहते हैं किन्तु 'घडे का आकाश' नही कहते। इसी प्रकार हम 'अन्त'करण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं। किन्तु 'अन्त करण का ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ आदि की उपाधि से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भाति अन्त करण भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न प्रतीत होना माना जाये तो भी जैमे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न हैं वैसे ही ब्रह्म को अन्त करणो से और अन्त करणो को ब्रह्म से भिन्न मानना पडेगा। इस प्रकार व्याप्य व्यापक सम्वन्ध से भी दो स्वतन्त्र सत्तायें माननी होगी। जो व्याप्य है वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्त करणो मे व्यापक होते हुए भी ब्रह्म अन्त करणाऽकार न होकर उनसे सर्वथा पृथक् है ॥१४॥

जैसे अग्नि से लोहा गरम हो जाता है वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से अन्त करण स्वय जड होते हुए भी चेतन हो रहे हैं और इस प्रकार ब्रह्म मे जीव की प्रतीति हो रही है। इस शका का समाधान अगले सूत्र मे मिलता है—

नाचेतनान्त करणेषु चैतन्य परमात्मसत्तयातिप्रसक्ते सर्वज्ञत्वादि गुणानां तत्राभावात् ॥१५॥

जड अन्त करणो मे परमात्मा के व्याप्त होने से चैतन्य नही है, सर्वज्ञत्वादि गुणो के न पाये जाने से।

यदि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्त करणो मे प्रकाशमान होकर जीव बना होता तो परमेश्वर के समान प्रत्येक जीव मे भी सर्वज्ञत्वादि गुण होते। किन्तु देखने मे ऐमा नही आता। यदि कहा जाये कि अन्त करणो की भिन्नता के कारणो की भिन्नता के कारण सर्वज्ञता नही आती तो ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न हो जायेगा। अन्त करण स्वय जड हैं। उनमे ज्ञान नही हो सकता। यदि यह माना जाये कि केवल ब्रह्म को या केवल अन्त करण को ज्ञान नही होता अपितु अन्त -करणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है तो भी अन्त करण के द्वारा चेतन ही को ज्ञान की प्राप्ति होगी। यदि यह कहा जाये कि आवरण के कारण सर्वज्ञता नही रहती तो आवरण के कारण ब्रह्म खण्डित हो जायेगा, क्योकि आवरण सदा दो के वीच तीसरा होता है। इसलिये जव तक ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ न माना जाये अथवा ब्रह्म के कम से कम दो भाग न किये जाये तब तक वीच मे तीसरे अर्थात् आवरण के आने का प्रश्न ही नही उठता ॥१५॥ किन्तु—

अदितिर्ब्रह्म ॥१६॥

ब्रह्म अखण्ड है।

ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। उसके सर्वव्यापक होने से कोई ऐसा स्थान नहीं जो उससे रिक्त हो। तव आवरण को स्थान कहाँ मिलेगा? यदि ब्रह्म जीवरूप मे परिणत होगा तो वह सावयव सिद्ध होगा। सावयव पदार्थ स्वय विकारी होता है। तव वह न नित्य हो सकता है और न सर्वव्यापक। इस प्रकार ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही नष्ट हो जायेगा। इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म न कभी हुआ है और न होगा ॥१६॥

इस विषय मे प्रचलित कतिपय अन्य दृष्टान्तो का उल्लेख कर उनकी समीक्षा करते हैं—

नेश्वरांश. जीवोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् ॥१७॥

अग्नि की चिनगारियो के समान जीव ईश्वर का अश नही है।

यदि जीव ईश्वर का अश होता तो उसमे अशी के सभी गुण विद्यमान रहते। किन्तु जैसे ईश्वर सर्वज्ञत्वादि गुणो से युक्त है वैसा जीव देखने मे नहीं आता। स्वयं शकराचार्य लिखते हैं—'यथा जीव ससारदु खमनुभवति नैव ईश्वरोऽनुभवति' (शा भा २-३-४६) अर्थात् जैसे जीव ससार के दु ख का अनुभव करता है वैसे ईश्वर नही करता। तव ईश्वर और जीव मे अशाशिभाव कहा रहा? अश सदा अवयवी का होता है। ईश्वर अखण्ड अर्थात् निरवयव है। इसलिये उसके टुकडे नही हो सकते। दूसरी वात यह है कि अग्नि की चिनगारी अगारे से छिटककर रिक्त स्थान मे चली जाती है। परमेश्वर के विभु अर्थात् सर्व-व्यापक होने से कोई स्थान उससे रिक्त नही। तव वह अश (चिनगारी) जीव, अशी ईश्वर से अलग होकर कहाँ जायेगा। हा, अशत समान होने से जीव को ईश्वर का अश या उसकी छाया कह दिया जाये तो और वात है। किन्तु यह अशत्व अथवा आभासत्व सर्वथा औपचारिक होगा, वास्तविक नही। इसलिये स्वामी शकराचार्य ने भी 'अश इवाश'—अश के समान अश (शा भा २-३-४३) कहा है, वास्तविक अश नही ॥१७॥

न बुद्बुदादिवत् ॥१८॥

बुलबुलो-आदि की भाति नही।

जल मे उठने वाली लहरें और बुलबुले जल मे स्वत उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव मे वह जल ही हैं। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले जीव वास्तव मे ब्रह्म ही हैं। यह दृष्टान्त भी ठीक नही वैठता। यदि केवल जल होता तो लहरें या बुलबुले कभी न उठते। जल का यह विकार उससे भिन्न वायु आदि के कारण है। वायु आदि के प्रभाव से

ही जल मे चचलता आकर वह लहरो या बुलवुलो का रूप धारण करता है। किन्तु ब्रह्म तो 'तदेजति तन्नैजति' (यजु. ४०-५) दूसरो को गति देता है, स्वय गति नही करता। वह 'अनेजत्' (यजु. ४०-४) बिल्कुल नही हिलता। हिले कैसे ? हिलने के लिये रिक्त स्थान चाहिये। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से कोई स्थान उससे खाली नही है। कोई वस्तु उस स्थान पर गति नही कर सकती जहा वह है और उस स्थान पर भी गति नही कर मकती जहाँ वह नही है। गति एक स्थान से (जहा कोई वस्तु है) दूसरे स्थान को (जहा वह वस्तु नही है) हो सकती है। यह एकदेशी के लिए सम्भव है, सर्वव्यापक के लिए नही। फिर, जिस प्रकार जल को गति देने के लिए वायु आदि आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्म को गति देने के लिए उससे भिन्न कोई दूसरी समर्थ सत्ता का होना आवश्यक है। ऐसी कोई सत्ता है नही। और दुर्जनतोषन्याय से यदि ऐसी सत्ता को मान लिया जाये तो इसमे अद्वैत न रहकर द्वैत की ही सिद्धि होगी ॥१८॥

समस्त जीवो को एक ब्रह्म ही का रूप नही माना जा सकता—

एकदु खसद्भावे सर्वत्रदु खाभावात् ॥१६॥

एक के दु:खी होने पर सबके दु खी न होने से।

यदि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी मव जीव वास्तव मे एक ही ब्रह्म हैं तो एक के दु खी होने पर सबको दु खी होना चाहिये। एक को भूख-प्यास लगने पर सबको भूख-प्यास से पीडित होना चाहिये और एक के भोजन करने पर सबका पेट भर जाना चाहिये। इतना ही नही, एक प्राणी के मरने पर ही सबको मर जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कभी नही होता। इससे सिद्ध है कि सब अन्त करणो मे एक ही ब्रह्म जीव रूप में नही है अपितु समस्त जीवो की ब्रह्म से भिन्न अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसी कारण सब कर्म करने और फल भोगने मे एक-दूसरे से पृथक् हैं ॥१६॥

एकस्मिन्मुक्ते सर्वत्रमोक्षाभावाच्च ॥२०॥

एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति न होने से भी।

अविद्या का नाश ही मोक्ष है। ऐसी दशा मे एक की मुक्ति होते ही अविद्या के नाश के कारण सबकी मुक्ति हो जायेगी। सबकी मुक्ति न होने से सिद्ध है कि अविद्या रहेगी। तब एक की भी मुक्ति न हो सकेगी। यदि जीवो मे अलग-अलग अविद्या मानी जाये और यह कहा जाये कि जिसकी अविद्या नष्ट हो जायेगी वही मुक्त होगा तो जीव जीव मे भेद मानना होगा। इस पर प्रश्न उपस्थित होगा कि यह भेद स्वाभाविक है या अविद्याकल्पित ? स्वाभाविक माना जायेगा तो वह कभी नष्ट नही होगा और इस प्रकार जीव का नित्यत्व मानना होगा। यदि अविद्याकल्पित माना जायेगा तो प्रश्न होगा कि जीव के

भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म की है या जीव की। यदि ब्रह्म की है तो ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान हो गया। यदि जीव की है तो अविद्या जीव के आश्रित हो गई जबकि स्वय अविद्या की कल्पना ही जीव भेद दर्शन के लिए की गई थी। इससे अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा ॥२०॥

स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्ष ॥२१॥

मोक्ष का लक्षण होगा स्वरूप का नाश।

तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। जब तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या का नाश हो जायेगा तो जीव का नाश होगा या नही ? यदि नाश नही होगा तो जीव को अविद्याजन्य मानने पर भी अविद्या के नाश होने पर जीव का नाश न होने से 'कारणाऽभावात्कार्याभाव.' अर्थात् कारण के न रहने पर कार्य भी नही रहता, इस सिद्धान्त की हानि होगी। यदि नाश हो जायेगा तो मोक्ष सुख कौन भोगेगा ? इस प्रकार मोक्ष का अर्थ होगा—अपने स्वरूप का नाश। ऐसे मोक्ष की कामना करके आत्महत्या करना कौन चाहेगा ॥२१॥

अब अन्त करण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानने मे आपत्ति प्रस्तुत करते है —

अन्त.करणोपाधियोगाद् ब्रह्मैव जीव इति चेत् सार्वत्रिकं ब्रह्म-दूषणम् ॥२२॥

अन्त करण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव माना जायेगा तो सम्पूर्ण ब्रह्म दूषित हो जायेगा।

यदि ब्रह्म स्वरूप से अचल एव अखण्ड है और अन्त करण परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी होने से चलायमान तथा खण्ड-खण्ड है तो जैसे छाता जहाँ-जहाँ जाता है वहा-वहा आवरण होने से छाया और जहाँ-जहा से हटता जाता है वहाँ-वहाँ आवरण हट जाने से धूप होती रहती है वैसे ही जहाँ-जहाँ अन्त करण जायेगा वहा-वहा ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोडता जायेगा वहा-वहा का ज्ञानी होता रहेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म को अन्त करण निरन्तर बिगाड़ते रहेगे। अन्त करण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानने पर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्म दूषित हुए विना न रहेगा ॥२२॥

इस विषय मे दूसरी आपत्ति प्रस्तुत करते हैं—

प्रतिक्षणञ्च बन्धमोक्षौ ॥२३॥

प्रतिक्षण बन्ध और मोक्ष होगे।

'ज्ञानान्मुक्ति.' (साख्य ३-२३) तथा 'बन्धो विपर्ययात्' (सा ३-२४) के अनुसार ज्ञान से मुक्ति और अज्ञान से बन्ध होता है। जब अन्त करणोपाधि के

कारण अपने स्वरूप को भूलकर ब्रह्म कभी ज्ञानी और कभी अज्ञानी होगा तो जहा-जहा का ब्रह्म ज्ञानी होता जायेगा वहा-वहा का मुक्त और जहा-जहा का अज्ञानी होता रहेगा वहा-वहा का वद्ध होता जायेगा। इस प्रकार क्षण-क्षण मे ब्रह्म के ज्ञानी-अज्ञानी होते रहने से वन्ध और मोक्ष भी क्षणभगुर तथा एक-देशी हुआ करेगा, और एक ही ब्रह्म मे वन्ध और मोक्ष युगपत् होते रहेंगे, जो सर्वथा असम्भव है ॥२३॥

एक अन्य आपत्ति प्रस्तुत करते हैं—

न प्रत्यभिज्ञानम् ॥२४॥

न प्रत्यभिज्ञा होगी।

यदि अन्त करण की उपाधि के कारण ब्रह्म की स्थिति वदलती रहेगी, तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वदृष्टश्रुत का ज्ञान किसी को न होगा। 'क्योकि 'अन्यदृष्ट-मन्यो न स्मरति' के न्याय के अनुसार अन्य के देखे-सुने का अन्य को स्मरण नही होता। देश काल के अनुसार द्रष्टा वदलता रहेगा। जिस चिदाभास ने कल मथुरा मे देखा-सुना था वह चिदाभास आज काशी मे नही रहा और कल दिल्ली मे नही रहेगा, क्योकि जो मथुरास्थ अन्त करण का प्रकाशक था, वह काशीस्थ ब्रह्म नही है और जो काशीस्थ अन्त करण का प्रकाशक है वह दिल्ली का ब्रह्म नही होगा। यदि यह माना जाये कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक है इसलिये उसे स्मरण रहता है, तो एकदेश मे अज्ञान का दु ख होने पर सर्वत्र अज्ञान का दु ख होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखने मे नही आता ॥२४॥

सर्वज्ञ ब्रह्म किसी भी अवस्था मे अज्ञानी नही हो सकता क्योकि—

नह्युपाधियोगादन्यवस्तुनोऽन्यादृश स्वभावः ॥२५॥

उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नही हो सकता।

स्वभाव का कभी नाश नही होता। अग्नि को कभी ठण्डा नही किया जा सकता। हा, वायु को कभी ठण्डा, कभी गरम और कभी कम ठण्डा और कम गरम किया जा सकता है, क्योकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नही है। इसी प्रकार अल्पज्ञता के कारण जीव मे तो भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु स्वभाव से सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म मे भ्रान्ति का होना ऐसा ही होगा जैसे सूर्य मे अन्धकार का होना। यह असम्भव है ॥२५॥

इस प्रकार युक्तियो की एक श्रङ्खला है जो ब्रह्म को जीव मानने मे वाधक है। इस पर अद्वैतवादी कहता है कि यह तो जिज्ञासु को समस्त जगत् और उसके व्यवहार का वोध कराने के लिए अध्यारोप का आश्रय लिया गया है। वास्तव मे तो सव ब्रह्म है। इसे स्पष्ट करने के लिपे अध्यास का लक्षण किया है—

वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यास रज्ज्वां सर्पस्येव ॥२६॥

वस्तु मे अवस्तु का आरोप करना अध्यास है, रज्जु मे सर्प की भाति ।

'परत्र परावभास' अर्थात् जहा कोई वस्तु न हो वहा उसकी प्रतीति करना, अथवा 'अतस्मिस्तद्‌बुद्धि' अर्थात् किसी तत्त्व में वह धर्म वताना जो उसका न हो अध्यास कहाता है—जैसे रस्सी मे साप की, सीप मे चांदी की अथवा वालू मे जल की प्रतीति करना ॥२६॥

इस भ्रान्ति का निवारण अगले सूत्र मे किया है—

न सर्पोऽपदार्थो देशान्तरे तस्य विद्यमानत्वात् ॥२७॥

सर्प अपदार्थ नही है, देशान्तर मे उसका अस्तित्व होने से ।

भ्रम किसी को, किसी मे, किसी का, किसी कारण से होता है । जैसे मोहन को, रस्सी मे, साप की, झुटपुटे मे भ्रान्ति होती है । अद्वैतवादियो के मत मे व्रह्म के अतिरिक्त कोई और सत्ता है नहीं । इसलिये उनकी मान्यता के अनुसार तो व्रह्म को, व्रह्म मे, व्रह्म का भ्रम होगा । सर्वज्ञ व्रह्म अपने आप को न पहचान पाये इस वात पर कौन विश्वास करेगा ? किन्तु और कुछ है नहीं जिसमे किसी का भ्रम हो सके । फिर, भ्रम न प्रकाश मे हो सकता है जव सव कुछ ठीक-ठीक दीख पड़ता है और न अन्धकार मे जव विल्कुल दिखाई नहीं पडता । उसके लिए प्रकाश और अन्धकार का मेल अर्थात् झुटपुटा चाहिये । इसलिये स्वय प्रकाशस्वरूप व्रह्म भ्रम का आश्रय नही हो सकता । भ्रम न सर्वज्ञ को हो सकता है और न सर्वथा अज्ञ को । केवल अल्पज्ञ ही इसका शिकार हो सकता है ।

रस्सी मे साप का अभाव था । साप मन मे स्मृत था । परन्तु मन मे तो साप पैदा नही होते । फिर वहाँ कहाँ से आ गये ? वात यह है कि मन मे साप भले ही न हो परन्तु साप का सस्कार रहता है । रस्सी को देखकर उसकी स्मृति आ गई । यदि किसी ने कभी वास्तविक साप न देखा हो और न उसकी आकृति के संस्कार मन मे हों तो कभी रस्सी को साप न समझेगा । यदि अवस्तु की प्रतीति सम्भव होती तो रस्सी मे सांप की ही प्रतीति क्यो होती, गाय-भैंस की क्यो नही ?

शकराचार्य ने 'अध्यास' का लक्षण किया है "स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास" अध्यास के लिए तीन चीजें चाहियें—पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति और परत्र । हमने कभी वास्तविक साप प्रत्यक्ष देखा यह हमारा पूर्वदृष्ट है । हमारे भीतर उसका सस्कार रहा जो समय पर स्मृति वन कर आ गया । वर्तमान में प्रत्यक्ष रस्सी परत्र है जिसमे पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सांप का अध्यास हुआ । वर्तमान जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये आवश्यक है कि पहले कही न कही वास्तविक जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया जाये जिसे कभी न कभी प्रत्यक्ष किया गया हो । फिर उसकी स्मृति रही हो और वर्तमान मे उसका

परत्र भी हो। यदि कभी कही वास्तविक जगत् था ही नही तो न वह पूर्वदृष्ट रहा, न उसकी स्मृति और न स्मृति के अभाव मे परत्र मे पूर्वदृष्ट का आभास। इसलिये रस्सी मे साप का भ्रम तभी हो सकता है जब देखने वाले ने उस समय वहा न सही, कही न कही और कभी न कभी वास्तविक साप देख रक्खा हो। तब साप को अवस्तु नही कहा जा सकता।

सामान्यतया तो हम रस्सी को रस्सी, साप को साप, जल को जल और रेत को रेत ही के रूप मे देखते हैं। जीवन मे ऐसा अवसर तो कभी आता है, जब अपवादरूप मे हमने रस्सी को साप, सीप को चादी अथवा रेत को जल समझा हो। चाहिये तो यह था कि हम अपवाद की व्याख्या उत्सर्ग की सहायता से करते। परन्तु हम तो उल्टा उत्सर्ग का कारण अपवाद मे खोजने लगे और थोडी सी भ्रान्तियो के आधार पर समस्त जगत् को मिथ्या बताने लगे।

सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर पता चलेगा कि जो प्रत्यक्ष देखा जाता है वह सदा सत्य होता है, उसके कारण किया गया अनुमान भले ही मिथ्या हो। जब कोई किंचित् अन्धकार मे रस्सी को देखता है तो वह उसे साप जान पडती है। यदि उस समय साथ ही एक साप होता तो दोनो एक जैसे जान पडते। कारण ? इस देखने मे आधा प्रत्यक्ष है और आधा अनुमान। आख ने तो केवल कुण्डलिया देखी। कुण्डलिया रस्सी मे भी होती हैं और साप मे भी। प्रत्यक्ष के द्वारा केवल आकार का ज्ञान हुआ। आकार ही सब कुछ होता तो दोनो रस्सी भी हो सकते थे और साँप भी। प्रत्यक्ष मे कोई भूल नही। भूल तब होती है जब हम दोनो पदार्थों के केवल समान धर्मों का ग्रहण और विशेष धर्मों की उपेक्षा करके केवल आशिक प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान द्वारा रस्सी को साप या साप को रस्सी समझ बैठते हैं। मिथ्या ज्ञान के लिये दो भिन्न पदार्थों और उनके समान धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक बाह्य रूप मे किसी समान धर्म की सम्भावना न हो तब तक दो पदार्थों के विषय मे मिथ्या ज्ञान नही हो सकता। रस्सी का आकार और उसकी कुण्डलियो का भाव अथवा सीप में चमक सत्य न हो तो उनमे साप या चादी का आभास या अध्यास न हो सके। वस्तुत रस्सी और सीप भी सत्य हैं तथा साप और चादी भी सत्य हैं—एक प्रत्यक्ष मे और दूसरे देशान्तर मे। असत्य है केवल रज्जु मे सर्प की और सीप मे चादी की प्रतीति, जो किंचित् साधर्म्य के कारण है। ब्रह्म भी सत्य है और जगत् तथा जीव भी सत्य। किंचित् साधर्म्य तथा अधिकाश वैधर्म्य के होते हुए भी ब्रह्म मे जगत् और जीव का अथवा जगत् और जीव मे ब्रह्म का अध्यारोप करना मिथ्या है ॥२७॥

पदार्थों का अस्तित्व न होने पर भी वे स्वप्न मे प्रतीत होते हैं—इस शका का समाधान करने के लिए कहा—

स्वप्नोपलब्धस्यापि बाह्यार्थप्रत्यक्षम् ॥२८॥

स्वप्न मे देखे गये पदार्थों का भी बाहर प्रत्यक्ष होता है।

स्वप्न मे जिन पदार्थों का भान होता है उनका देशान्तर और कालान्तर मे अस्तित्व सिद्ध है। जागने पर स्वप्न मे हुई प्रतीति का नाश होता है, प्रतीत होने वाले पदार्थों का नही। वे सब अपनी-अपनी जगह बने रहते है। निद्रादोष के कारण वे स्वप्नावस्था मे अपने पास भासते हैं। 'परत्र परावभास' जो पदार्थ जहा नही है वहां प्रतीत होता है। इसका यह अर्थ नही कि वह कहीं और कभी नहीं था। जाग्रत अवस्था मे वे पदार्थ सदा सत्यरुप प्रतीत होते हैं। इसलिये स्वप्न मे भी अवस्तु मे वस्तु का आरोप सिद्ध नही होता ॥२८॥

अब स्वप्न का स्वरूप कथन करते हैं—

स्मृतिरूपं स्वप्नदर्शनम् ॥२९॥

स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है।

जगत् प्रत्ययो की स्मृति से ही स्वप्नो का निर्माण होता है। जाग्रत का चिन्तन और स्वप्न का ज्ञान दोनो स्मृतिरूप हैं। परन्तु जहां जाग्रतावस्था मे स्मृति का ज्ञान रहता है वहाँ स्वप्नावस्था मे स्मृत पदार्थ स्मृतिरूप मे न आकर अनुभवरूप मे भासते हैं। स्वप्न ज्ञान का यही मिथ्यात्व है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है और पदार्थों के देश, काल, दशा आदि मे उलट-फेर हो जाता है। शकराचार्य का मत है 'स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्' (शा० भा० २-२-२९) अर्थात् स्वप्न मे पदार्थों की स्मृति होती है और जाग्रत मे उनका प्रत्यक्ष होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यक्ष के बाद ही स्मृति होती है। जाग्रत प्रत्ययो की स्मृति से उत्पन्न होने के कारण स्वप्न प्रत्यय उनके सदृश प्रतीत होते है। स्पष्ट है कि जाग्रत प्रत्यय मुख्य हैं, स्वप्न प्रत्यय गौण। क्योकि उपमेय से उपमान बड़ा होता है। इसलिये जाग्रत प्रत्ययो को देखकर स्वप्न प्रत्ययो की परीक्षा करनी चाहिए, न कि स्वप्न प्रत्ययों को देखकर जाग्रत प्रत्ययों की। स्वप्न को तराजू मानकर जागत प्रत्ययो को उसमे तोलना और इस प्रकार पदार्थमात्र को असत् मान लेना न युक्तियुक्त है और न न्याय्य।

कभी-कभी स्वप्न मे बहुत समय पूर्व देखे, सुने या किये का साक्षात्कार होता है। तब स्मरण नहीं आता कि जो उस समय देखा, सुना या किया था वही इस समय दिखाई या सुनाई दे रहा है। किन्तु स्मरण न आने से उसका पूर्व-दृष्ट, पूर्वश्रुत अथवा पूर्वकृत न होना सिद्ध नही होता ॥२९॥

यदि स्वप्न का मूल स्मृति है तो स्मृति का मूल क्या है ?

न हि संस्कारं विना स्मृति ॥३०॥

सस्कार के विना स्मृति नही होती ।

स्वप्न मे विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है। उसका निमित्त तीव्र सस्कार हैं। सस्कार के सिवा और किसी निमित्त की कल्पना नही की जा सकती। अनुभव से जो सस्कार आत्मा मे बैठ जाते हैं स्वप्न दशा मे मन के सहयोग से वही सस्कार स्मृति बन कर आ जाते हैं। स्वप्न दशा की परिस्थितिया जागरित पर निर्भर करती हैं। क्योकि—

पूर्वानुभवजन्य सस्कार ॥३१॥

सस्कार पूर्व अनुभव जनित है।

जो कुछ हम देखते, सुनते या करते हैं उसकी जो छाप रह जाती है उसे 'सस्कार' कहते है। जिन सस्कारो से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों के विषय मे स्मृति, राग, द्वेप तथा सुख-दु ख उत्पन्न होते हैं उन्हे 'वासना' कहते हैं। स्मृति और सस्कार दोनो पहले अनुभव किये हुए पदार्थ के विषय मे होते है। वह केवल जागरित दशा मे ही सम्भव है। स्वप्न मे किसी वस्तु की सृष्टि नही होती। वृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-१४) मे कहा है 'यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्त' अर्थात् जाग्रत् अवस्था मे जिन वस्तुओ को देखता है, सोता हुआ उन्ही को देखता है। इसीलिये स्वप्न, जाग्रत अवस्था मे देखे-सुने-किये की स्मृतिमात्र है। जाग्रत, अवस्था मे अनुभव किया गया पदार्थ असत् नही हो सकता और न ही तद्विषयक प्रतीति को असद्विषयक प्रतीति कहा जासकता है।

'अतस्मिस्तद्वुद्धि' जो पदार्थ जैसा नही है उसे वैसा समझ लेना मिथ्या ज्ञान है। इस प्रकार मिथ्या की कसौटी सत्य है अर्थात् जब तक एक सत्य न हो तब तक दूसरे को मिथ्या नही कहा जा सकता। स्वप्न मे देखे हाथी घोडो को तभी मिथ्या कहा जा सकता है जब जाग्रत मे देखे हाथी घोडो को सत्य स्वीकार किया जाये। जाग्रत दशा का स्वतन्त्र अस्तित्व है जबकि स्वप्नावस्था जागरित के आश्रित है। इस पराश्रित के आधार पर वस्तुमात्र को मिथ्या घोषित नहीं किया जा सकता।

कभी-कभी स्वप्न मे ऐसी अटपटी बाते भी देखने मे आती है जो उस रूप मे जाग्रत अवस्था मे कभी नही घटती। यह सब पूर्वदृष्ट-श्रुत-कृत को उपादान रूप मान कर उसमे जोड-तोड करके सम्भव होता है। यह भी हो सकता है कि सस्कारो अर्थात् वासना रूप ज्ञान के आत्मा मे जन्मजन्मान्तर तक बने रहने से इस प्रकार के पदार्थ व घटनायें इस जन्म की न होकर किसी पूर्व जन्म मे अनुभूत हो ॥३१॥

विना देखे, सुने और अनुभव किये स्वप्न मे देखना, सुनना और अनुभव करना असम्भव है—इसमे प्रत्यक्ष प्रमाण है कि—

न जन्मान्धस्य स्वप्ने रूपदर्शनम् ॥३२॥

जन्मान्ध को स्वप्न मे रूप का दर्शन नही होता ।

स्वप्न मे ही नही जाग्रत अवस्था मे भी जन्मान्ध लाल-पीले का, सुन्दर-असुन्दर का अथवा गधे-घोडे का चिन्तन नही कर सकता क्योकि उसे पहले इनका अनुभव नही हुआ ॥३२॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि रस्सी मे साप का आरोप करने तथा स्वप्न मे तथाकथित अभाव पदार्थों का दर्शन करने की भांति ब्रह्म मे जगत् की कल्पना करने वाला कौन है ? अद्वैतवादी इसका उत्तर देता है—

ब्रह्मणि जगत्प्रत्यय अन्त करणावच्छिन्नचिदाभासस्य ॥३३॥

ब्रह्म मे जगत् का आभास अन्तःकरणावच्छिन्न चिदाभास को होता है।

अद्वैतवादी के मत मे ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता है ही नही । अतः उक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर सम्भव नही । अन्ततोगत्वा 'अन्त करणावच्छिन्न चेतन' अथवा 'चिदाभास' नाम से अभिहित होने वाली सत्ता ब्रह्म ही ठहरती है । इस प्रकार ब्रह्म में जगत् का मिथ्या ज्ञान ब्रह्म ही को होता है । परन्तु—

न हि मिथ्याकल्पकं मृषाभिधायि च ब्रह्म ॥३४॥

निश्चय ही मिथ्या कल्पना करने वाला और मिथ्यावादी ब्रह्म नही हो सकता ।

मिथ्या कल्पना करने वाला झूठा होता है । सत्यस्वरूप, सत्यकाम तथा सत्यसकल्प परमात्मा ऐसा कभी नही कर सकता । 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्'— जिनकी वस्तु के यथार्थरूप मे स्थिति न हो ऐसे मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय' है । शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार 'बन्धो विपर्ययात्' (सा० ३-२४) 'विपर्यय' अर्थात् मिथ्याज्ञान बन्ध का हेतु है । इस प्रकार ब्रह्म मे जगत् की मिथ्या कल्पना करके नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला परमात्मा स्वय बन्धन मे पड़ जायेगा । जब स्वय ईश्वर ही बन्धन मे आ गया तो और किसी की मुक्ति का तो प्रश्न ही नही उठता ॥३४॥

यदि दुर्जनतोषन्याय से स्वप्न-रज्जु-सर्पादिवत् जगत् को ब्रह्म की कल्पना ही मानें तो भी जगत् नित्य सिद्ध होता है । क्योकि—

कल्पयितुर्नित्यत्वे तत्कल्पनाया अपि नित्यत्वम् ॥३५॥

कल्पना के नित्य होने से उसकी कल्पना भी नित्य होगी ।

गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध है । एक के बिना दूसरा नही रह सकता । कल्पना गुण है किसी का और वह ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई नही है । गुणी

ब्रह्म नित्य है तो उसका गुण कल्पना भी नित्य होगी। इस प्रकार कल्पित होने पर भी जगत् नित्य सिद्ध होगा ॥३५॥

इस समस्त विवाद के मूल मे ब्रह्म का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही वह अपने स्वरूप को भूलकर अपने मे जीव और जगत् की कल्पना कर बैठता है। अत ब्रह्म मे अज्ञान कहा से आता है अथवा वह अपने को क्यो भूल जाता है—इसकी खोज करना आवश्यक है। अद्वैतवादी का उत्तर है—

ब्रह्मण्यज्ञानमविद्योपाधिना ॥३६॥

ब्रह्म मे अज्ञान अविद्या की उपाधि के कारण है।

यह अविद्या का सिद्धान्त अनेक दोषो का घर है। सबसे पहले प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो द्वैत सिद्ध हो गया। यदि गुण है तो उसका अधिष्ठान कोई द्रव्य होना चाहिये। क्योकि—

न गुणोत्पत्तिर्द्रव्यं विना आश्रयाश्रितभावात् ॥३७॥

द्रव्य के विना गुण की उत्पत्ति नही हो सकती, उनमे आश्रयाश्रित भाव होने से।

अविद्या गुण है, इसलिये वह किसी के आश्रित ही रह सकती है। ब्रह्म के अतिरिक्त, अद्वैतवादी के मत मे, दूसरा कोई चेतन तत्त्व है नही—जीव के स्वय अविद्याकल्पित होने से। तब केवल ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है। अव प्रश्न उठता है—अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी, अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि ? यदि ब्रह्म पहले अज्ञानी हुआ तो कहना होगा कि उपाधि के विना ही अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पूर्व ब्रह्म पूर्णज्ञानी तथा सर्वशक्तिमान् था तो उपाधि के वश मे कैसे आ गया ? न उपाधि के वश मे होता, न अज्ञानी होकर झझट मे पडता। यदि उपाधि चेत्तन है तो ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा चेतन तत्त्व सिद्ध हो गया। यदि जड है तो आश्चर्य है कि सर्व-शक्तिमान् चेतन ब्रह्म ने जड उपाधि के आगे हथियार डाल दिये।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी ? यदि यह माना जाये कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर मे किसी समय उपाधि लग गई—तो पहले वह कहा थी ? होगी तो कही न कही अवश्य। न होती तो कहा से आती ? क्योकि अभाव से तो भाव की उत्पत्ति हो नही हो सकती—'नासतो विद्यते भाव' (गीता)। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी ? क्योकि गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई न कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवादी ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और द्रव्य मानते नही। स्पष्टत. उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामत. जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी भी अनादि सत्ता

हुई। अनादि होने से वह अनन्त भी हो गई और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधि के नित्य और ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामत अज्ञानी रहेगा। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त न होगा और अविद्या के कारण सदा जन्म-मरण के वन्धन मे रहेगा। ऐसे ब्रह्म से तो जीव अच्छा जो कभी न कभी तो मुक्त होने की आशा कर सकता है।

एक ओर ब्रह्म को देश, काल आदि से परे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वताना और दूसरी ओर उस पर सव प्रकार के दोप लाद देना कहाँ का न्याय है? इसी प्रकार ब्रह्म को अभौतिक तथा अपरिणामी मानते हुए उने सृष्टि का उपादान कारण वताने मे कौन सी तुक है ॥३७॥

'अविद्या' वास्तव मे जिसका गुण है उसका कथन करते हैं—

अविद्या गुणोऽल्पज्ञस्य ॥३८॥

'अविद्या' अल्पज्ञ का गुण है।

अविद्या न सर्वज्ञ परमात्मा का गुण है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति का। वह तो केवल जीव का गुण है जो ईश्वर के समान चेतन तो है किन्तु सर्वज्ञ नही। यहा 'अविद्या' शब्द विद्या के अभाव का द्योतक नही है। ऐसा होता तो जीव चेतन न रह कर प्रकृति के समान जड हो जाता। इसलिये यहा अविद्या से तात्पर्य है विपरीत ज्ञान। 'अविद्या' शब्द मे दो समास हैं—नञ् तत्पुरुप और वहुव्रीहि। प्रस्तुत सन्दर्भ मे वहुव्रीहि समास अभिप्रेत है। इसलिये अविद्या का अर्थ है— 'नास्ति विद्या-यथार्थज्ञान यस्या सा' अर्थात् जिसमे यथार्थ ज्ञान नहीं है वह। वैशेषिक दर्शन मे 'इन्द्रियदोषात् सस्कारदोषाच्चाविद्या' (९-२-१०) कह कर 'तद्-दुष्ट ज्ञानम्' (९-२-११) के द्वारा 'अविद्या' का और 'अदुष्ट विद्या' (९-२-१२) के द्वारा विद्या का लक्षण कर दिया। अर्थात् विपरीत (दुष्ट) ज्ञान को अविद्या और यथार्थ (अदुष्ट) ज्ञान को विद्या कहते हैं। योगदर्शन (२-५) के निम्न सूत्र मे भी 'अविद्या' के इसी अर्थ को ग्रहण किया है—

'अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।'

अर्थात् विपरीत ज्ञान—अनित्य मे नित्य की, अपवित्र मे पवित्र की, दु ख मे सुख की और अनात्मा मे आत्मा की वुद्धि करना—अविद्या है। यही अविद्या जीव के वन्ध का कारण है ॥३८॥

जीव की स्वतन्त्र सत्ता का कथन करते हैं—

नन्वल्पज्ञश्चेतन ब्रह्मण पृथगेव ॥३९॥

निश्चय ही अल्पज्ञ चेतन (जीव) ब्रह्म से पृथक् है।

ब्रह्म से पृथक् जीव की अपनी सत्ता है। न वह ब्रह्म का अविद्या से उत्पन्न है

और न उसका प्रतिबिम्ब है। वह ब्रह्म से पृथक् और उसी के समान नित्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर भी उसकी सत्ता बनी रहती है ॥३९॥

किन्ही की मान्यता है कि—

जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात् ॥४०॥

चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।

समान धर्मी (दोनो के चेतन होने से) ब्रह्म और जीव एक है। निश्चलदास ने 'वृत्तिप्रभाकर (२-९) मे यह लिखकर अद्वैतवाद की स्थापना की। अगले सूत्र मे इस युक्ति का खण्डन किया गया है—

न किंचित्साधर्म्येणैकात्म्यम् ॥४१॥

किंचित् साधर्म्य से ऐकात्म्य नही होता।

थोडी सी समानता पाये जाने से पदार्थों मे अभिन्नता नही होती। पृथ्वी और जल दोनो जड भी हैं और दृश्य भी। इन दो गुणो की समानता होने पर भी वे एक नही माने जा सकते। मनुष्य और चीटी दोनो ही पैरो से चलते और मुह से खाते हैं। फिर भी मनुष्य को चीटी और चीटी को मनुष्य नही कहा जा सकता। चीनी और नमक दोनो सफेद है। इतने से ही कोई दूध मे चीनी के स्थान पर नमक डालने के लिये तैयार नही होगा। इसी प्रकार ब्रह्म और जीव के चेतन अथवा कुछ अन्य गुणो मे समान होते हुए भी दोनो एक नही हो सकते ॥४१॥

क्योकि—

वैधर्म्येण पार्थक्यम् ॥४२॥

वैधर्म्य से पृथकता होती है।

वैधर्म्य-भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों का होना एकता मे वाधक है।

पृथ्वी और जल मे जडत्व गुण समान होने पर भी पृथ्वी मे कठिनत्व एव गन्धवत्व तथा जल मे द्रवत्व एवं रसवत्व आदि की भिन्नता के कारण वे एक नही माने जा सकते। मनुष्य और चीटी मे पैरो से चलने और मुह से खाने की समानता होने पर भी आकृति, आकार, पैरो की सख्या तथा देह, मुह आदि के परिमाण आदि मे भेद होने के कारण वे दोनो भिन्न ही माने जायेंगे। चीनी और नमक के रग मे समानता होने पर भी चीनी का मिठास और नमक का खारापन चीनी की जगह नमक से काम लिये जाने मे वाधक होगा। इसी प्रकार दोनो के चेतन होने पर भी परमेश्वर के अनन्त, ज्ञान-वल-क्रिया-आनन्द, निर्भ्रान्तित्व तथा सर्वव्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पवल, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण परमेश्वर से भिन्न है। इसलिये किंचित् साधर्म्य होने पर भी वैधर्म्य के कारण जीव और ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न होंगे ॥४२॥

अब साधर्म्य-वैधर्म्य से अन्वय- व्यतिरेक का विवेचन करते हैं—

अन्वयव्यतिरेकभावतो व्याप्यव्यापकयोर्भिन्नाभिन्नत्वम् ।।४३।।

अन्वय-व्यतिरेक भाव से व्याप्य-व्यापक मे भिन्नता-अभिन्नता दोनो हैं। यदि दो पदार्थ वास्तव मे एक हो तो उनमे परस्पर व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नही घट सकता। अवकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य नही रह सकता। घर बनने से पूर्व लकडी, लोहा, आदि भिन्न भिन्न देश मे होते हुए भी आकाश मे रहते हैं। घर बन जाने पर भी आकाश मे स्थित होते हैं। कालान्तर मे घर के नष्ट हो जाने पर भी ये सब पदार्थ आकाश मे रहते हैं अर्थात् तीन काल मे आकाश से बाहर नही होते। इस प्रकार अन्वय भाव से देखने पर आकाश और मूर्त्त द्रव्य एक हैं। परन्तु आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप, अनन्त आदि गुण और मूर्त्त के परिच्छिन्न और दृश्यत्व आदि मे वैधर्म्य होने अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से व्यतिरेक भाव से आकाश और मूर्त द्रव्य एक दूसरे से पृथक् हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के आकाशवत् निराकार तथा सर्वव्यापक होने से जीव और पृथ्वी आदि द्रव्य तीनो काल मे उससे अभिन्न हैं। परन्तु स्वरूप से भिन्न होने के कारण एक नहीं हो सकते। अन्वय के साथ जब तक व्यतिरेक न रहे तब तक पदार्थो का यथार्थज्ञान नही हो सकता क्योकि ससार मे कोई भी पदार्थ ऐसा नही जिसमें सगुणनिर्गुणता, अन्वयव्यतिरेक, साधर्म्यवैधर्म्य तथा विशेष्यविशेषण भाव न हो ।।४३।।

ब्रह्म से अतिरिक्त जीव के होने मे एक और हेतु देते हैं—

सहतपरार्थत्वात् ।।४४।।

सघात के परार्थ होने से।

प्रकृति के अवयवो के मेल से त्रिगुणात्मक जगत् की रचना होती है। सहत अर्थात् सघात के रूप मे विद्यमान इस जगत् की प्रवृत्ति 'पर' के लिये है। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योग २-१८) इस सृष्टि की रचना निष्प्रयोजन न होकर किसी के भोग और अपवर्ग के लिये की गई है। भोग्य स्वय अपना भोक्ता नही हो सकता। जड़ होने से भी प्रकृति अपना उपभोग नही कर सकती। अचेतन भोग्य जगत् का भोक्ता कोई चेतन ही हो सकता है। अद्वैतवादियो के मत में एकमात्र चेतन सत्ता ब्रह्म है। उसके पूर्णकाम होने से उसके लिये भोग्य अनावश्यक है। नित्यमुक्त होने से उसके लिये अपवर्ग के साधन रूप मे भी किसी की अपेक्षा नही। अत इस सघात के भोक्ता के रूप मे ब्रह्म से भिन्न जीव का अस्तित्व सिद्ध है ।।४४।।

इसी विषय मे एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।४५।।

और मोक्ष के लिये प्रवृत्ति पाये जाने से।

त्रिविध दुःखो से छूट कर अनन्त सुख की प्राप्ति की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है। समस्त शास्त्र ईश्वर प्रप्ति के द्वारा मोक्ष साधन के निमित्त आवश्यक विधि-निषेधात्मक वाक्यो से भरे पडे हैं। जो बन्धन मे है वही छूटने के लिये छटपटाता और उमके लिये प्रयत्न करता है। ब्रह्म तो स्वात्मस्वरूप एव नित्यमुक्त है यदि सव ब्रह्म का ही रूप हैं तो पहले ही मुक्त है। फिर मुक्त होने की इच्छा कैसी ? वेद के अनुसार तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' परमात्मा के जानने पर ही मोक्ष मिलता है। तो क्या ब्रह्म को स्वय अपने को जानना पहचानना पडेगा ? उप-निषद् के अनुसार ब्रह्म को स्वय अपने को 'श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य' के रूप मे स्वीकारना होगा ? यह सव असगतिया तभी दूर हो सकती हैं जब नित्यमुक्त ब्रह्म से अतिरिक्त कभी वद्ध कभी मुक्त होने वाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाये ॥४५॥

जीव की स्वतन्त्र सत्ता का विवेचन करने के बाद अब जगत् के मिथ्या होने की समीक्षा करते हैं—

न जगद्रूप ब्रह्म ॥४६॥

जगत् के रूप मे ब्रह्म नही है।

जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि पूरा ब्रह्म जगद्रूप हो गया या उसका कोई भाग ? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप हो गया तो उसका ब्रह्मत्व ही जाता रहा। क्योकि ऐसा होते ही उसका सभी विल-क्षणताओ का लोप हो जायेगा। यदि माना जाये कि उसका कुछ भाग ही जगद्रूप मे परिणत हुआ तो परमात्मा की अखण्डता और सर्वव्यापकता सकट मे पड जायेगी। एक के दो ब्रह्म हो जायेंगे—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा जगज्जाल मे परिणत ब्रह्म। प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन के शब्दो मे "यह ऐसा ही होगा जैसे कोई आधी मुर्गी को तो मार कर खाजाये और आधी को अण्डे देते रहने के लिये छोड दे" (हिन्दू व्यू आफ लाइफ)। जगद्रूप मे परिणत होने वाला ब्रह्म कार्य होने से एकदेशी हो जायेगा। एकदेशी हो जाने पर सक्रिय होने से वह इधर उधर जाता रहेगा। तव वह 'अनेजत्' न हिलने वाला नही रहेगा। प्रकृति ब्रह्म के समान एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। इसलिये जगत् को प्रकृति का परि-णाम मानने पर यह दोष नही आता। जगत्सर्ग के लिये जिस रूप मे जितने तत्त्व अपेक्षित होते है सर्वज्ञ ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप मे परिणत कर देता है ॥४६॥

जगत् का अस्तित्व न होने पर भी वह माया के कारण ऐसा दिखाई देता है—इस भ्रम का निवारण करते हैं—

न मायोपाधिना ॥४७॥

माया की उपाधि से (ब्रह्म जगद्रूप) नही।

मायावाद के प्रवर्त्तक अथवा सबसे महान् प्रचारक स्वामी शङ्कराचार्य एक ओर तो माया को अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) मानते हैं और दूसरी ओर उसकी चर्चा करते नही अघाते यहा तक कि अपने अद्वैतवाद का सारा महल उसी की नीव पर खडा करते हैं। स्वय स्पष्ट न होते हुए भी उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते हैं। डा० प्रभुदत्त शास्त्री कृत 'Doctrine of Maya' के अनुसार विभिन्न रूपो मे 'माया' शब्द ऋग्वेद मे ७० वार और अथर्ववेद मे २७ वार आया है। यास्क, सायण और दयानन्द सभी इस विषय मे एक मत हैं कि वेद मे इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञानविशेष' के अर्थ मे हुआ है। उव्वट ने यजुर्वेद मे इसका अर्थ 'प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा' किया है। निघण्टु (३-९) मे भी इसका अर्थ 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञान' किया गया है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'वेद' में जगत् के मिथ्या होने का कही उल्लेख नही है। वहा माया शब्द "शक्ति' का वाचक है।" रामानुजाचार्य कहते हैं 'माया शब्दो ह्याश्चर्यवाची' अर्थात् 'माया' शब्द आश्चयवाची होने से स्वप्न की सृष्टि आश्चर्यमयी है। वेदान्त-दर्शन मे केवल एक स्थान (३-२-३) पर 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। शकर-स्वामी ने 'मायैव सन्ध्ये सृष्टि' कह कर यहा माया शब्द का प्रयोग 'काल्पनिक' के अर्थ मे किया है। दोनो अर्थों मे कोई विसगति नही है। यहा स्वप्न का प्रसङ्ग है। इससे पहले एक सूत्र मे पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए कहा गया था 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (३-२-१) निश्चय ही सन्ध्य मे सृष्टि कही जाती है। जागृत और सुषुप्ति की सन्धि होने से 'स्वप्न' की 'सन्ध्य' सज्ञा है। इसके उत्तर मे सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया 'मायामात्र तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' अर्थात् स्वप्न मे देखे जाने से वह विपरीत ज्ञान मात्र अथवा काल्पनिक सृष्टि है। कल्पना आश्चर्यमयी ही होती है। किन्तु जैसा हम इससे पूर्व अपने सूत्र २८ के अन्तर्गत स्पष्ट कर आये है, स्वप्न मे जो कुछ देखा सुना जाता है वह वहा उस समय स्वप्नद्रष्टा के भीतर भले ही न हो परन्तु वाहर भी उसका अस्तित्व कही भी और कभी भी न रहा हो, ऐसा नही हो सकता। प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत स्वप्न की सृष्टि को मायामात्र इसलिये वताया गया है कि वहा अर्थ की अभिव्य-ञ्जना पूर्णरूप से (कार्त्स्न्येन) नही हो पाती। 'कार्त्स्न्य' अथवा पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है किसी उचित देश और काल मे उचित निमित्तो से न होना। स्वप्न मे दीखने वाले पदार्थों मे यही होता है कि वे उचित देश और काल मे न देखे जाकर अन्यत्र देखे जाते हैं। इसी कारग वे मिथ्या होते हैं। उनका अत्य-न्ताभाव कभी नही होता। जव मायावी ऐन्द्रजालिक किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है तव भी उसका कोई न कोई आधार या निमित्त अवश्य रहता है। वह आधार या निमित्त अभावमात्र नही हो सकता। जव वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है तो उसी के सदृश रस्सी, लकडी या अन्य किसी लचीली वस्तु को निमित्त वना कर प्रदर्शन करता है। दर्शको को सर्प का आभास होता है।

वस्तुतः वह सर्प नही होता। अन्य वस्तु मे सर्पत्व का यह मिथ्याज्ञान भी उन्ही को होता है जिनको पहले से वास्तविक सर्प का ज्ञान होता है और वह भी सर्प-सदृश वस्तु को देख कर ही। इस प्रकार प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर किसी वस्तु-तत्त्व से होता है। इसलिये वस्तुमात्र का अभाव मे पर्यवसान नही माना जा सकता। इस सन्दर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐन्द्रजालिक प्रदर्शन मे भी इन तीन का होना अनिवार्य है—मिथ्याज्ञान कराने वाला, मिथ्याज्ञान का आश्रय दर्शक तथा मिथ्याज्ञान के आधार और आधेय पदार्थ। ऐन्द्रजालिक दर्शको को तो मिथ्याज्ञान कराता है परन्तु वह स्वय मिथ्या ज्ञान से अभिभूत कभी नही होता। इसी का नाम माया है। अल्पज्ञ जीव को भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म त्रिकाल मे माया अर्थात् मिथ्या ज्ञान से अभिभूत नही हो सकता। न वह अभाव से भाव की उत्पत्ति कर सकता है और न ऐन्द्रजालिको या मदारियो की भाति किसी को भ्रान्ति मे डालने का काम कर सकता है। 'रसो वै स' वह आनन्दस्वरूप है। अत उसे अपना मनोरजन करने के लिये भी इस प्रकार के खेल तमाशे करने की आवश्यकता नही है।

यदि अद्वैतवादियो मे प्रचलित अर्थों मे 'माया' पद का ग्रहण किया जाये तो एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते है। माया द्रव्य है या गुण ? यदि द्रव्य है तो द्वैतवाद सिद्ध हो गया। यदि गुण है तो किसका ? अद्वैतवादियो के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य नही। अनिवार्यतः ब्रह्म को ही माया का अधिष्ठान मानना पडेगा। तब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और माया का यह समवाय सम्बन्ध है या सयोग सम्बन्ध ? यदि समवाय सम्बन्ध है तो वह अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य होगा। तब, यदि माया की उपाधि से ही जगत् का आविर्भाव माना जाये तो भी ब्रह्म और उसकी माया के नित्य होने से यह जगत भी नित्य अथवा त्रिकाल मे सत्य हो गया। ब्रह्म भी सदा के लिये मायोपाधि से ग्रस्त होकर दूषित हो गया और इस प्रकार उसका शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव भी जाता रहा। यदि सयोग सम्बन्ध माना जाये तो प्रश्न उठता है—क्यो और कब से ? यदि ब्रह्म पहले शुद्ध था और कालान्तर मे कभी माया के वशीभूत हो गया तो प्रश्न होगा कि यह माया पहले कहा और किसके आश्रित थी ? कही न कही तो अवश्य होगी। न होती तो कहा से आती क्योकि 'नावस्तुनो सिद्धि'—अभाव से भाव की उत्पत्ति नही हो सकती। जब थी तो गुण होने मे किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होगी। द्रव्य ब्रह्म के सिवा दूसरा था नही। घूम फिर कर हम फिर वही आ गये। माया ब्रह्म के आश्रित अथवा उसका गुण हो गई। ब्रह्म अनादि है तो उसकी माया भी अनादि हो गई। एक और प्रश्न उपस्थित होता है—माया चेतन है या जड ? चेतन है तो अद्वत-वाद को चुनौती देने वाला दूसरा चेतन तत्त्व हो गया। यदि जड है तो सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म के जड माया के वशीभूत हो जाने की बात समझ मे नही आती।

वस्तुतः श्वेताश्वतरोपनिषद् (४-१०) मे 'माया तु प्रकृतिं विद्यात् मायिन तु महेश्वरम्' कह कर माया को स्पष्ट रूप से प्रकृतिवाचक बता दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिश्चान्यो मायया सनिरुद्धः' (४।९) इससे मायावी परमात्मा सृष्टि की रचना करता है जिसमे एक दूसरा (जीव) प्रकृति (सत्त्व, रजस् और तमस्) के चक्कर मे फसा पडा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह सारा प्रकरण त्रैतवाद की विस्तृत तथा काव्यात्मक व्याख्या है ॥४७॥

अगले सूत्रो मे दृश्यमान जगत् के मिथ्या होने की समीक्षा की गई है—

न व्यवहारपरमार्थयोर्भेदान्मिथ्यात्वम् ॥४८॥

व्यवहार और परमार्थ के भेद से जगत् मिथ्या नही है।

वस्तुत व्यवहार और परमार्थ दोनो ही सत्य हैं। व्याप्य-व्यापक भाव से ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति की अपनी-अपनी सत्ता है। व्यवहार और परमार्थ के प्रत्ययो मे इतना भेद है कि व्यवहार जगत् मे हमारा अनुभव ज्ञानेन्द्रियो पर आश्रित है जबकि भौतिक बन्धन से मुक्त योगी अपनी चित् शक्ति से ही बहुत कुछ जान लेता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि व्यवहार जगत् मे प्राप्त तब तक के उसके समस्त अनुभव मिथ्या थे। बड़ा होने पर बालक खिलौने से खेलना छोड़ देता है किन्तु इससे खिलौनो का अस्तित्व समाप्त नही हो जाता। वे तब भी अपनी जगह बने रहते हैं। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाला आत्मा यद्यपि भौतिक पदार्थो को तुच्छ समझने लगता है तो भी वे पदार्थ नष्ट नही हो जाते। इसी प्रकार कारण तथा कार्य दोनो ही अपनी अपनी जगह सत्य हैं। सोना और उससे बने आभूषण दोनो ही देखने मे आते हैं। कारण रूप होने से सोना सत्य और नामरूप पाने से उसका कार्य आभूषण मिथ्या नही हो जाता। सोने से आभूषण का मूल्य कुछ अधिक ही होता है। रूपान्तर होने से कोई अपना अस्तित्व नही खो बैठता। पानी भाप बन कर उड़ जाये तो भी वह जल रूप मे मिथ्या था या उसका अब अभाव हो गया—ऐसा नही माना जा सकता। कार्य, कारण का रूपान्तर मात्र है। अत वह उतना ही सत्य है जितना स्वय कारण ॥४८॥

न ब्रह्मणस्सत्यत्वेन तत्कार्यस्यासत्यत्वम् ॥४९॥

ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य नही हो सकता।

जो यथावत् उपलब्ध है उसका वर्तमान मे अभाव नही हो सकता। अद्वैत-वादियो के मतानुसार यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाये अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान कारण भी माना जाये तो भी जगत् मिथ्या

नही हो सकता । 'कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट' अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से कार्य मे वही गुण होते हैं जो उसके कारण मे । अत यदि 'ब्रह्म सत्यम्' है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् कभी मिथ्या नही हो सकता । अद्वैतवादियो के मतानुसार कारण का कार्य से अनन्यत्व है अर्थात् कार्य का व्यतिरेक से अभाव है तो कार्य को मिथ्या नही माना जा सकता। कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूपजगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जायेगा तो स्वय ब्रह्म ही मिथ्या हो जायेगा । उपनिषद् (छा. ६,१,२-६) मे इस सन्दर्भ मे 'नखकृन्तन' निहन्ने का दृष्टान्त दिया गया है । यदि निहन्ना मिथ्या है अर्थात् उसका अभाव है तो उसके उपादान लोहे का अभाव स्वत सिद्ध है । जब उगली मे अगूठी नही होगी तो वहा सोना कैसे होगा ? फिर सत्स्वरूप ब्रह्म असद्रूप जगत् का ऐन्द्रजालिक तमाशा क्यो और किसके लिये करेगा ? अद्वैतवाद मे तो देख सकने वाले जीव की सत्ता का भी निषेध है ॥४६॥

अब ब्रह्म के जगत् का उपादान कारण न होने मे युक्ति देते है—

नोपादानकारणं ब्रह्म सारूप्यादर्शनात् ॥५०॥

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नही, सारूप्य न देखे जाने से ।

'कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट' वैशेषिक दर्शन (२-१-२४) के इस सूत्र मे प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार उपादान कारण के गुण-कर्म-स्वभाव तत्त्वत उसके कार्य मे अवश्य होते हैं । हार आदि को मिट्टी का और घडे आदि को सोने का विकार नही माना जा सकता, क्योकि मिट्टी से बनी चीज मिट्टी जैसी और सोने से बनी चीज़ सोने जैसी होनी चाहिये । परस्पर विलक्षण वस्तुओ मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही हो सकता । ब्रह्म का कार्यरूप माना जाने वाला जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म दृश्यमान जगत् से विलक्षण दिखाई देता है । यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता अर्थात् ब्रह्म से ही जगत् बना होता तो उसकी भाति जगत् भी निराकार, अखण्ड, चेतन, अनुत्पन्न तथा सच्चिदानन्दस्वरूप होता । परन्तु इसके विपरीत जगत् दृश्य, खण्डरूप, अचेतन, उत्पन्न और आनन्द-रहित है । सुख-दु ख, मोह आदि से युक्त अचेतन जगत् नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्म का विवर्त्त कैसे हो सकता है ? यदि ब्रह्म और जगत् मे उपादानत्व के आधार पर कार्य-कारण भाव होता तो या तो पृथिव्यादि को ब्रह्म की भाति चेतन होना चाहिये था या ब्रह्म को पृथिव्यादि की भाँति जड । अत एकमात्र चेतन तत्त्व से जड जगत् की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है । फलत जगत् का उपादान कारण केवल जड तत्त्व होना चाहिये । वेद एव वैदिक साहित्य मे उसे त्रिधातु, स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि पदो से तथा दर्शन एव पुराण आदि मे त्रिगुण, प्रधान, प्रकृति, प्रजा आदि पदो से प्रस्तुत किया गया है । जिन आचार्यों ने यह कहा है कि ब्रह्म से जगत् ऐसे ही उत्पन्न होता है जैसे मिट्टी से घडा

वे अपने इस विचार को सर्वात्मना निर्बाध रूप से स्पष्ट करने मे असमर्थ रहे। तब उन्हे अपनी बात बनाये रखने के लिये जगत् के उपादानकारण रूप मे माया की कल्पना करनी पडी जो त्रिकाल मे ब्रह्म का स्वरूप नही है। फिर अपने इस आग्रह पर बने रहने के लिये 'विवर्त्त' की कल्पना की। इस पद तक का वेदान्त सूत्रो मे सर्वथा अभाव है। और जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, वेदान्त सूत्रो मे केवल एक स्थान (३-२-३) पर आये 'माया' शब्द का प्रयोग स्वप्न मे अनुभूत पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिये किया गया है। जाग्रत के पदार्थों का कारण माया को कही कथन नही किया गया।

ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने की धुन मे प्राय तैत्तिरीय उपनिषद् का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥३-१॥

उनका कहना है कि 'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु मे अपादान कारक अर्थात् पचमी विभक्ति होती है वह उपादान कारण होता है। परन्तु सभी आचार्य इस विषय मे एकमत नही है। उनके अनुसार कारणमात्र मे पचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। वेद और लोक मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। जैसे—'तस्मादश्वा अजायन्त', (यजु० २), 'आदित्याज्जायते वृष्टि' (मनु० ३-७६), 'सुधनाज्जायते सुखम्' (मनु), 'पुत्रात् जायते प्रमोद' इत्यादि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। निश्चय ही यज्ञ को घोडे आदि का, सूर्य को वर्षा का, धन को सुख का और पुत्र को हर्ष का उस रूप मे उपादान नही कहा जा सकता जिस रूप मे मिट्टी को घडे को। पचमी विभक्ति का प्रयोग होने पर भी ये केवल जायमान वस्तुओ के निमित्तमात्र हैं। अत उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ से ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण सिद्ध करने मे सहायता नही मिलती ॥५०॥

इसी विषय मे कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नापरिणामित्वादीश्वरस्य ॥५१॥

ईश्वर के अपरिणामी होने से नही।

यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होगा तो निश्चय ही वह परिणामी होगा। परिणाम और विकार के बिना उपादान हो ही नही सकता। अध्यास, विवर्त्त, अनिर्वचनीयख्याति सबका आश्रय लेकर भी उपादान के रूप मे निरवयव ब्रह्म मे सावयव जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नही हो सकती। स्वामी शकराचार्य भी ब्रह्म को स्वरूप से 'कूटस्थनित्य, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त तथा निरवयव' मानते हैं। ऐसा ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे हो सकता है? नित्य शुद्ध-बुद्ध एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म अशुद्ध, अचेतन तथा सुख-दु ख-मय जगत् के रूप मे परिणत होगा तो उसके स्वरूप की हानि होगी—वह ब्रह्म न रहेगा। जड प्रकृति

ही जगद्रूप मे परिणत होती है। ब्रह्म तो निर्विकार रहकर उसका नियन्त्रण एव सचालन करता है ॥५१॥

सर्वव्यापित्वात् ॥५२॥

मर्वव्यापक होने से।

किसी पदार्थ के उपादान तत्त्व उस पदार्थ के भीतर रहते हैं, बाहर नही। इसलिये कोई सर्वव्यापक तत्त्व किसी का उपादान नही हो सकता। 'तदन्तरस्य मर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत' (यजु ४०-४)—परमात्मा अन्तर्यामी रूप से व्याप्त होकर प्रत्येक वस्तु के वाहर और अन्दर विद्यमान है। सारा जगत् उसके भीतर है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'। किन्तु 'त्रिपाद अमृत दिवि' जितना वह जगत् के भीतर है उससे कही अधिक उसमे वाहर है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और वाहर परब्रह्म की व्यापकता इस वात का प्रमाण है कि वह उन पदार्थों का उपादान कारण नही है ॥५२॥

अव एक ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी—इसकी समीक्षा करते हैं—

नाभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् ॥५३॥

(ब्रह्म) अभिन्न निमित्तोपादान कारण नही है।

निमित्त और उपादान कारण का भिन्न-भिन्न न होना अभिन्ननिमित्तो-पादान कहाता है। निमित्त कारण स्वय अविकारी रहते हुए उपादान कारण मे विकृति उत्पन्न करके रचना करता है। अविकारी निमित्त तथा विकारी उपादान दोनो एक नही हो सकते। छान्दोग्य उपनिषद् (६-३-२) मे कहा—'मेय देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता नामरूपे व्याकरवाणि' उस महती देवता ने ईक्षण किया—इन तीन देवताओ (प्रकृतिरूप सत्त्व, रजस्, तमस्-त्रिगुणो) को नाम रूप करूँ। तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी कुछ ऐसा ही कहा—'सोऽकामयत वहुस्याम प्रजायेय' (२-६) उसने कामना की, मैं बहुत हो जाऊ—प्रजाओ को उत्पन्न करूँ। इन प्रसगो मे सर्गरचना के पूर्व अभिध्यान-सकल्प का कामना व ईक्षण के रूप मे उपदेश है। जव परमात्मा ईक्षण अर्थात् दर्शन, विचार, ज्ञान, ध्यान आदि मे परमात्मा प्रसिद्ध और स्थूल पदार्थों मे मह वर्तमान होता है। इस अभिध्या या इच्छा के लिए कर्त्ता और कर्म दोनो की अपेक्षा है। ये दोनो धर्म एक मे नही रह सकते। एक ही तत्त्व कर्त्ता और कर्म दोनो नही हो सकता। अभिध्यान के लिए जिस प्रकार अभि-ध्याता अपेक्षित है उसी प्रकार अभिध्यातव्य भी अर्थात् जैसे कोई सकल्प करने वाला चाहिये वैसे सकल्प का कोई विषय भी होना चाहिये। उपनिषद् मे अभिध्याता अर्थात् सकल्प करने वाला ब्रह्म स्पष्ट रूप मे कथित है। कर्म अथवा

विषय को जानना शेष रह जाता है। स्वामी हरिप्रसाद ने वेदान्त सूत्र वैदिक वृत्ति मे इस विषय का विवेचन करने के बाद कह दिया–'तत्र ब्रह्माभिध्यातृत्वान् निमित्तकारण प्रकृतिश्चाभिध्यातव्यत्वादुपादानकारणम्' अर्थात् अभिध्याता होने से ब्रह्म निमित्तकारण तथा अभिध्यातव्य होने से प्रकृति उपादान कारण है। ब्रह्म को ही सकल्प का विषय मानने पर उसे स्वय ही जगद्रूप मे परिणत होना पडेगा। उस अवस्था मे अपना स्वरूप खोकर वह ब्रह्म न रह सकेगा। अत ईक्षिता द्वारा प्रकृति ही बहुरूप की जाती है। वह स्वय अविकारी बना रहता है। छान्दोग्य (६-३-२) मे तीन देवता के रूप मे 'सत्त्व-रजस्-तमस्' का स्पष्ट निर्देश है जिनका उल्लेख इस सन्दर्भ मे यथाक्रम 'अप्-तेज-अन्न' पदो द्वारा किया गया है। इस विस्तृत एव विशद विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त तथा उपादान कारण नही है अपितु अभिध्याता ब्रह्म निमित्त कारण तथा विविध नामरूप मे परिणत होने वाली अभिध्यातव्य प्रकृति उसका उपादान कारण है ॥५३॥

ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध करने के लिए कतिपय लौकिक दृष्टान्तो का आश्रय लिया जाता है। अगले सूत्र के अन्तर्गत उनका विवेचन करके उन्हे असत्य सिद्ध किया गया है—

न लूतादिनिदर्शनात् ॥५४॥

लूता-मकडी आदि के दृष्टान्त से भी (ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होना) सिद्ध नही होता।

इस प्रसग मे मुण्डकोपनिषद् (१।१-७) का निम्न मन्त्र विवेच्य है—

"यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय सभवन्ति। यथा सत पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।"

अर्थात् जैसे मकडी तन्तुजाल का सर्जन करता और उसे समेट लेता है, जैसे पृथिवी मे औषधिया उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं वैसे ही अक्षर (ब्रह्म) से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है। यद्यपि देखने मे तत्काल यह मन्त्र परमात्मा के अभिन्ननिमित्तोपादानत्व का प्रतिपादक मालूम होता है। परन्तु तनिक सा विचार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुत यहा इन दृष्टान्तों द्वारा जगत् के निमित्त तथा उपादान कारणो का पृथक्-पृथक् होना ही बताया गया है। इस मन्त्र मे आये 'यथा' 'तथा' और सतः पुरुषात्' पदो पर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। मन्त्र मे कहा गया है कि 'जैसे मकडी तन्तुजाल को बनाती और सहारती है 'वैसे ही' अक्षर ब्रह्म से जगत् का प्रादुर्भाव होता है'। मकडी से तन्तुजाल कैसे बनता है? यह सिद्ध करने की आवश्यकता नही कि मकडी से तन्तुजाल तभी तक बनता है जब तक वह जीवित रहती है। न मृत शरीर से तन्तुजाल बनते देखा गया है और न शरीर

से निकलने के बाद शरीर रहित मकडी की आत्मा को कही जाल बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकडी की चेतना स्वय तन्तुजाल मे परिणत नही होती, चेतना के वहा रहते प्राकृत देह के अवयव ही तन्तुजाल मे परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार मकडी का जड रूप शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति मे उपादान कारण तथा उसमे व्याप्त जीवात्मा निमित्त कारण है। वैसे ही व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति और परमाणुओ से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल रूप की सृष्टि की रचना करता है। यह परमात्मा की विशेषता है कि जहा अन्य निमित्त कारण (मनुष्यादि) रचना करके अपनी रचना से पृथक् रहते है वहा परमात्मा अपनी रचना मे व्याप्य-व्यापक भाव से सदा वर्तमान रहता है। दूसरा दृष्टान्त पृथिवी से ओषधि आदि के उत्पन्न होने से सम्बन्धित है। यहा भी यह स्पष्ट है कि औषधि, वनस्पति आदि के उपादान तत्त्व उनके बीज होते हैं। पृथिवी का आश्रय पाकर ऊष्मा, जल आदि के निमित्त से ये बीज ही अकुरित होते है। न बिना बीज के वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती और न पृथिवी, जल आदि के बिना। तीसरा दृष्टान्त यह है—'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि' जैसे पुरुष के रहते केशलोमादि प्रकट होते हैं। देहावयव ही केश, नख आदि के रूप मे परिणत होने से ये सब देह के विकार हैं, देह मे बैठे जीवात्मा के नही। 'सत पुरुषात्' कहने से बिल्कुल स्पष्ट है कि देह से केशादि का प्रादुर्भाव तभी तक सम्भव है जब तक देह मे जीवात्मा अधिष्ठित है। मृत देह से कुछ नही निकलता।

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी रूप मे परिणत होता है और न चेतन तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड प्रकृति ही कार्यरूप मे परिणत होती है। हमारे इसी अर्थ का उपपादन इसी उपनिषद् के इससे पहले ही मन्त्र (१-१-६) मे किया गया है। वहा कहा गया है—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु.श्रोत्र तदपाणिपाद नित्य विभु सर्वगत सुसूक्ष्म तदव्यय यद्भूतयोनि परिपश्यन्ति धीरा ।" ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करने के लिये यहा जिन पदो का प्रयोग किया गया है उनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म अव्यय अपरिणामी, सर्वगत-सर्वान्तिर्यामी, नित्य तथा अदृश्य-इन्द्रियातीत होने से जगत् का उपादान कारण नही हो सकता। उपादान कारण अव्यय-अपरिणामी नही होता। कार्यरूप में आते ही वह दृश्य आदि धर्म वाला हो जाता है। प्रकृति मे ऐसा सम्भव होने से वही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म ऐसा कभी नही हो सकता। अत वह उपादान न होकर केवल निमित्त कारण है॥५४॥

उपनिषदों में उपलब्ध 'अह ब्रह्मास्मि' इत्यादि तथाकथित महावाक्यो से प्रतीयमान जीव और ब्रह्म के एकत्व का खण्डन करने के लिए इन वाक्यो के वास्तविक अर्थ का कथन करते हैं—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसीति औपचारिकत्वेनोक्तम् ॥५५॥

'सर्वं खल्विद ब्रह्म' आदि औपचारिक (आलकारिक) रूप से कहे गये वाक्य हैं।

दर्शन मे बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, काव्य मे रागात्मक तत्त्व। उपनिषदो मे रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होने मे उनकी शैली मे आलकारिकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामस्वरूप दर्शन और उपनिषदो मे वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तो को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। तर्क वहा पर मौन नही तो गौण अवश्य हो जाता है। इसलिये एक समाधिस्थ योगी जब अपना चरम लक्ष्य-ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है तो उस अवस्था मे उसका भावुक होजाना स्वाभाविक है। आनन्द की उस तीव्र अनुभूति मे उसका अपना अस्तित्व खो सा जाता है। तब सब कुछ भूलकर वह कह उठता है—'लाली मेरे लाल की जित देखू तित लाल'। परमात्मा के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नही। परमात्मा मे वह इस प्रकार लीन हो जाता है कि तादात्म्य का अनुभव करते हुए वह कह जाता है कि वे दोनो एक हैं। भावात्मक एकता के उन क्षणों मे यदि वह कह उठे कि वह ब्रह्म है तो उसे भावात्मक अभिव्यक्ति ही समझना चाहिये। ऐसे वाक्यो मे शब्द के शरीर से अधिक उसकी आत्मा पर ध्यान देना चाहिये। लौकिक व्यवहार मे हम आये दिन इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। पति के मरने पर एक स्त्री जब 'हाय! मैं मर गई' कहकर विलाप करती है तो यह पति के साथ उसके तादात्म्य की भावात्मक अभिव्यक्ति ही है। विवाह सस्कार के अवसर पर पति-पत्नी दोनो कहते हैं—'यदेतद् हृदय तव तदस्तु हृदयं मम यदेतद् हृदय मम तदस्तु हृदय तव'। यहा भौतिक हृदयो के प्रत्यारोपण का प्रसग नही है। यह दाम्पत्य सूत्र मे बधने वाले दो व्यक्तियो के परस्पर अत्यधिक प्रेम का परिचायक है। 'आत्मा वै जायते पुत्र' मे भी यही भाव हैं। उपनिषदो का अध्ययन भी अभिव्यक्ति की इस विशेषता को ध्यान मे रखते हुए ही करना चाहिये, क्योंकि वहा इस प्रकार के वाक्य यत्र-तत्र भरे पडे हैं। कही-कही तो बीच मे पडे एकाध शब्द से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। जैसे 'आत्मैवाभूद्विजानत' (ईश. ७) मे 'एव', 'एकत्वमनुपश्यत' (ईश) मे 'अनुपश्यत', 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु ३-२-९) मे 'एव' जैसे पदो से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा 'ब्रह्म जैसा हो सकता है, 'ब्रह्म' नही। किन्तु अन्यत्र कई स्थल ऐसे भी हैं जहा पूर्वापर प्रसग को भली प्रकार देखने पर ही यह स्पष्टीकरण हो पाता है। प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत उपनिषदो के कुछ ऐसे ही वाक्य हैं जो 'महावाक्य' कहाते हैं और जिनके आधार पर जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया जाता है। वास्तव मे वहा एकता का आभासमात्र है जैसा कि अगले सूत्रो को देखने से स्पष्ट हो जाता है ॥५५॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति व्यापित्वद्योतनार्थम् ॥५६॥

'सर्वं खल्विद ब्रह्म' ईश्वर की व्यापकता को प्रकट करने के लिए कहा गया है। जिस प्रकार शरीर के अग तभी तक सार्थक होते है जब तक वे शरीर के साथ जुडे होते हैं उसी प्रकार प्रकरणस्थ वाक्य ही ठीक अर्थ देने मे समर्थ होते हैं। प्रकरण से कट कर वे अनर्थ का कारण बन जाते हैं। अद्वैतवादी 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का अर्थ करते हैं कि यह सब जगत् ब्रह्म का ही रूप है। परन्तु प्रसगानुकूल न होने से यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। छान्दोग्योपनिषद् (३-१४-१) का यह प्रसग निम्न प्रकार है–

सर्वं खल्विद ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय· पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके भवति, प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत॥"

इसका सीधा अर्थ है–"यह सव ब्रह्म ही है (सर्वं खलु इद ब्रह्म)। तज्ज+तल्ल+तदन् (तज्जलान् इति) अर्थात् उसी (ईश्वर) से सव उत्पन्न होता, उसी मे लीन होता और उसी मे प्राण धारण करता है। ऐसा जानकर (शान्त उपासीत) शान्त होकर उसी की उपासना करे। (अथ खलु) अव निश्चय (क्रतुमय· पुरुष) मनुष्य वासनामय है अर्थात् जैसा वह विचार करता है वैसा ही बन जाता है (यथा क्रतु अस्मिन् लोके पुरुष भवति) जैसी वासना इस लोक मे होती है (तथा इत प्रेत्य भवति) वैसी ही यहा से मर कर (पश्चात् की योनि मे) होती है। (स· क्रतु कुर्वीत) इसलिये वह (उत्तम) कर्म करे।"

यहा स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है। किसी का स्वय अपनी उपासना करना कितना अटपटा लगता है। उपास्य और उपासक एक नही हो सकते। उपासक जीव को उपास्य ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहा जीव को वासनामय बता कर शान्त भाव से ब्रह्म की उपामना करने के लिए कहा गया है वहा ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण कहा गया है। तात्स्थ्योपाधि से 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का अर्थ है–यह सब जगत् 'ब्रह्म' अर्थात् 'ब्रह्मस्थ' है। साहचर्य तथा अगले पिछले प्रकरण और अभिप्राय को देखते हुए 'इदम्' शब्द का अन्वय 'सर्वम्' के साथ न होकर ब्रह्म के साथ ही हो सकता है। जैसे 'इद सर्व घृतम्' का अर्थ है–'यह सव घृत है अर्थात् इसमे किसी अन्य वस्तु का मिश्रण नही है' इसी प्रकार 'सर्व खल्विद ब्रह्म' का अर्थ है कि 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म–अर्थात् 'शुद्ध ब्रह्म' (शुद्धमपापविद्धम्) है। इस चेतन अखण्डैकरस ब्रह्म मे माया, अविद्या आदि कुछ नही है। 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि वह ब्रह्म अपने भीतर सूक्ष्म रूप मे स्थित कारण रूप प्रकृति से सर्ग काल मे सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थिति काल मे उसे धारण करता तथा प्रलय काल मे पूर्व की भाति समेट कर पुन अपने भीतर धारण कर लेता है। उपास्य के रूप मे ब्रह्म, उपासक के रूप मे जीव (पुरुष) तथा कार्यरूप जगत् तीनो का एक साथ उल्लेख होने से यह मन्त्र स्पष्ट ही त्रैतवाद का प्रतिपादक है ॥५६॥

तात्स्थ्योपाधित्वेनोक्तमहं ब्रह्मास्मीति ॥५७॥

तात्स्थ्योपाधि से 'अह ब्रह्मास्मि' कहा गया है।

प्राय सुना जाता है—'मञ्चा क्रोशन्ति' अर्थात् मच पुकारते है। मच तो जड है। उनमे पुकारने का सामर्थ्य कहाँ ? इसलिए 'मञ्च' का अर्थ यहा 'मञ्चस्था मनुष्या' है। जीव का ब्रह्म से साहचर्य तथा सयोग सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्राय एक साथ रहने और सहयोग करने वाले दो व्यक्तियो को लोग 'दो शरीर और एक आत्मा' अथवा 'ये दोनो तो एक ही हैं' कह देते हैं उसी प्रकार जब जीव परमेश्वर के से गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि दशा मे उसका प्रत्यक्ष करते हुए आनन्द मे आप्लावित होता है तो वह और ब्रह्म एक अर्थात् परस्पर अविरोधी हो जाते है। परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म वास्तव मे एक हैं अथवा ब्रह्म मे भिन्न जीव की अपनी कोई सत्ता नही है, युक्ति-युक्त नहीं होगा। इस प्रकार यह वाक्य जीव के ब्रह्म के साथ अत्यधिक सान्निध्य का ही द्योतक है ॥५७॥

अयमात्मा ब्रह्मेत्यपि तथैव ॥५८॥

'अयमात्मा ब्रह्म' भी उसी प्रकार (तात्स्थ्योपाधि से) कहा गया है।

समाधि दशा मे जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो वह आत्मविभोर होकर कह उठता है—'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणो मे कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। "जैसे इस शरीर मे व्यापक होने से मैं इसका आत्मा हू वैसे ही मेरे अन्दर व्यापक होने से यह ब्रह्म मेरा भी आत्मा है'। जिस प्रकार 'ओ ख ब्रह्म, का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर परमेश्वर 'आकाशवत् व्यापक' है उसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' का वास्तविक अर्थ 'यह आत्मा ब्रह्म है' न होकर 'यह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है' है। इस प्रकार यह वाक्य भी 'तात्स्थ्योपाधि' वा 'तत्सहचरितोपाधि' से कहा गया भक्ति भाव के अतिरेक का द्योतक है ॥५८॥

तत्त्वमसीति तादात्म्यभावेन ॥५९॥

'तत्त्वमसि' तादात्म्य की भावना से कही हुई उक्ति है।

पूर्वापर प्रकरण को छोडकर ही इस वाक्य को जीव और ब्रह्म की एकता की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६-८-७) का यह प्रकरण निम्न प्रकार है—

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँसर्वं तत्सत्यँस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।'

उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं—जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और

सब जगत् और जीवो का आत्मा है वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो ! तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि'—उसी अन्तर्यामी परमात्मा से तू युक्त है'।

बृहदारण्यक के छटे प्रपाठक के निम्न मन्त्र से इसी अर्थ की पुष्टि होती है—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीर य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत'।'

यहा बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि जीवात्मा मे रहता हुआ भी परमेश्वर उमसे भिन्न है। जिस प्रकार स्थूल शरीर मे जीवात्मा रहता है उसी प्रकार जीवरूपी शरीर मे परमात्मा रहता है जैसे शरीर से जीव भिन्न है वैसे ही जीव से परमेश्वर भिन्न है। जिस प्रकार घर आकाश से भिन्न नही तथा आकाश घर से भिन्न नही तथापि आकाश और घर एक भी नही उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक भाव से अभिन्न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं ॥५९॥

अद्वैतवाद की सिद्धि मे एक प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

एकमेवाद्वितीयमिति छान्दोग्ये ॥६०॥

एक ब्रह्म ही है, दूसरा कोई नही—ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् मे कहा है।

सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवो के भेद न होने से एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध है। वह अद्वितीय है अर्थात् उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नही है ॥६०॥

छान्दोग्य के इस वाक्य का वास्तविक अर्थ बताते हुए अद्वैतवाद की समीक्षा करते हैं—

अद्वितीयमिति ब्रह्मणो विशेषणम् ॥६१॥

'अद्वितीय' ब्रह्म का विशेषण है।

वस्तुतः 'द्वैत' न हो तो अद्वैत की भी सिद्धि सम्भव न हो सके। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है—'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैत यस्मिस्तद् अद्वैतम्'। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति के कारण भाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। बिना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अत 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ—भेद। 'द्विता' से स्वार्थ मे 'अण्' होकर 'द्वैत' निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'द्विता'=द्वैत=भेद नही है जिसमे वह 'अद्वैत' हुआ अर्थात् सजातीय विजातीय भेद शून्य।

अब विचारणीय यहा यह है कि यदि अद्वैतवादियों के मत मे ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नही है तो द्विता या 'द्वैत' की सिद्धि कैसे होगी? और उसके अभाव में 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण कैसे बनेगा ? यदि मिथ्या प्रपञ्चरूप

जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से द्वैत की सिद्धि मानी जायेगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होने वाला द्वैत भी मिथ्या ही होगा। तब उसके अभाव को द्योतन करने वाला अद्वैत भी मिथ्या ही सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद्ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? अत 'अद्वैत' शब्द ही बता रहा है कि कहीं 'द्वैत'=भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का निर्देश ही 'अद्वैत' शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण मात्र है। इससे जीव और प्रकृति का अथवा कार्यरूप जगत् का अभाव या निषेध नही होता ॥६१॥

इस सन्दर्भ मे विशेषण का धर्म बताते हैं—

व्यावर्त्तकं प्रवर्त्तकञ्च विशेषणम् ॥६२॥

विशेषण व्यावर्त्तक और प्रवर्त्तक दोनो होता है।

यह ठीक है कि 'व्यावर्त्तक विशेषण भवतीति' विशेषण भेद कारक होता है परन्तु 'प्रवर्त्तक प्रकाशकमपि विशेषण भवतीति' विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक होता है—यह भी उतना ही सत्य है। 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण है। व्यावर्त्तक धर्म के रूप मे 'अद्वैत' ब्रह्म को जीवो तथा अन्य वस्तुओ से पृथक् करता है और प्रवर्त्तक एव प्रकाशक धर्म के नाते वह ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। यदि किसी के सम्बन्ध मे यह कहा जाये कि वह अद्वितीय विद्वान् या योद्धा है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान विद्वान् या योद्धा नही है, न कि यह कि उससे अतिरिक्त और कोई विद्वान् या योद्धा ससार मे है ही नही। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय कहने का यह अर्थ नही कि उससे भिन्न पृथ्वी आदि जड पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि प्राणियो का अस्तित्व ही नही है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि ब्रह्म के सदृश अन्य कुछ नही है और जहा जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं वहा ब्रह्म सदा से एक है—न दो हैं, न तीन आदि २। इस प्रकार अद्वितीय शब्द से ब्रह्म का एकत्व तथा अन्य पदार्थों से विलक्षण होना सिद्ध है ॥६२॥

अब जीव और ब्रह्म की एकता का आभास कराने वाले कतिपय अन्य वाक्यो पर विचारार्थ पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति तैत्तिरीये अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्येति छान्दोग्ये ब्रह्मण. जीवत्वम् ॥६३॥

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' से तैत्तिरीय उपनिषद् मे तथा 'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य इत्यादि' से छान्दोग्य उपनिषद् मे ब्रह्म का जीव रूप होना कथन किया है।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै–उ ब्रह्म. वल्ली ६) अर्थात् जगत् को उत्पन्न

करके फिर वही ब्रह्म प्रविष्ट हुआ और 'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा उ ६-३-२) अर्थात् मैं जगत् और शरीर को रच कर उसमे जीवरूप मे प्रविष्ट हो नामरूप की व्याख्या करता हू--इत्यादि वचनो से उपनिषदो के अनुसार जीव तथा ब्रह्म की एकता प्रमाणित है ॥६३॥

इसका समाधान करने के लिए कहा—

प्रवेशानन्तरमनुप्रवेशः ॥६४॥

प्रवेश के पश्चात् अनुप्रवेश होता है।

उपनिषदो की इन उक्तियो मे 'अनु' (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। 'प्रवेश' के पश्चात् 'अनुप्रवेश' होने से स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तदनन्तर दूसरा। पहले और पीछे प्रविष्ट होने से उनका द्वैत स्वयसिद्ध है। 'शरीर प्रविष्टो जीव, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वर' अर्थात् अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर मे जीव को प्रविष्ट कराके परमेश्वर जीव के भीतर अनुप्रविष्ट होता है। सहार्थ मे तृतीया विभक्ति है--'अनेन जीवात्मना शरीर प्रविष्टेन सह त जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वय'। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करने वाला तथा जिसमे वह प्रविष्ट होता है उन दोनो का अलग-अलग होना निश्चित है। यहा भी यह सब औपचारिक रूप मे कथित है। अन्यथा सदा से सर्वव्यापक परमेश्वर के कही प्रवेश करने का प्रश्न ही नही उठता ॥६४॥

अद्वैतवादी का तर्क है कि तैत्तिरीय-उपनिषद् (ब्रह्मा वल्ली ७) के अन्तर्गत 'अथोदरमन्तर कुरुते, अथ तस्य भय भवति' जो जीव और ब्रह्म मे थोडा भी भेद करता है उसे भय होता है। इसी प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् का भी वचन है--'द्वितीयाद् वै भय भवति' (१-४-२) दूसरे से ही भय होता है। इस तर्क का उत्तर देते हुए कहा—

द्वितीयादिति विरोधाद् वै भयम् ॥६५॥

द्वितीय अर्थात् विरोधी से भय होता है।

वास्तव मे यहाँ 'द्वितीय' का अर्थ अथवा अभिप्राय द्वितीय या विरोधबुद्धि है। विरोध के रहने से दुख और न रहने से सुख होता है। एक से गुण-कर्म-स्वभाव वाले दो मनुष्य भी एक कहाते और मिलकर रहते हैं। जो जीव परमेश्वर को एक देशकाल मे परिच्छिन्न मानकर उसकी आज्ञा का उल्लघन करता है वह परमेश्वर का विरोधी होने से दुख पाता है। अपने को परमेश्वर से अभिन्न मानकर भी पापी मनुष्य दण्ड से नही बच सकता ॥६५॥

नवीन वेदान्तियो द्वारा मान्य अनादि पदार्थों का उल्लेख करते हैं—

जीवेशब्रह्मचिद्विभेदाविद्यातच्चित्तोर्योगश्चानादयः वेदान्ते ॥६६॥

जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीव-ईश्वर का विशेष भेद, अविद्या तथा अविद्या और चेतन का योग—वेदान्त मे ये छ अनादि पदार्थ हैं। इनमे एक ब्रह्म अनादि-अनन्त और शेप पाच अनादि मान्त हैं। जब तक अज्ञान रहता है तव तक ये पाच रहते हैं। आदि विदित न होने मे ये अनादि हैं और ज्ञान होने पर नष्ट हो जाने से सान्त हैं ॥६६॥

इन तथाकथित अनादि पदार्थों का विश्लेपण करके कहते हैं—

पदार्थद्वयमेव, ब्रह्मैकमपरा चाविद्येति ॥६७॥

(वस्तुत) दो ही पदार्थ (अनादि) है–एक ब्रह्म और दूसरा अविद्या ।

नवीन वेदान्तियो के छ अनादि पदार्थो का विवेचन करने पर दो ही रह जाते हैं। उनके मत मे अविद्या की उपाधि से जीव और माया की उपाधि से ईश्वर वनता है। इसलिये किसी कारण से उत्पन्न होने से ये अनादि नही हो सकते। जव ईश्वर और जीव ही, अनादि नही तो उन दोनो का विशेप भेद और 'तच्चित्तोर्योग' अर्थात् अविद्या और चेतन का योग कैसे अनादि होंगे ? इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दो ही पदार्थ बचे रह जाते हैं। इनमें भी अविद्या की कल्पना अनेक दोषो का घर है जिसकी विस्तृत समीक्षा हम पहले कर आये हैं। इस प्रकार वेदान्त मे एक ब्रह्म ही अनादि पदार्थ है। परन्तु अविद्या का साथ वे नही छोड पाते ।

पाच पदार्थो को अनादि किन्तु सान्त मानना भी तर्कशास्त्र के विरुद्ध है। 'अन्तवत्त्वे सत्यादिमत्वप्रसग:, आदिमत्वे सत्यन्तवत्वप्रसग'–जिसका अन्त होता है उसका आदि अवश्य होता है और जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है। इस न्याय के अनुसार जिसका आदि नही होता उसका अन्त भी नही होता। अत वेदान्तियो के शेप पाच पदार्थ यदि अनादि हैं तो अनन्त और यदि सान्त हैं तो सादि अवश्य होने चाहिये ।

आश्चर्य की वात तो यह है कि एक शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पांचो को नवीन वेदान्ती 'मायिक' अर्थात् मायाकृत मानते हैं। जैसे कायिक शब्द के अर्थ काया से उत्पन्न वस्तु के है वैसे ही व्याकरण की रीति से मायिक शब्द के अर्थ माया मे उत्पन्न वस्तु के हैं। परन्तु ये लोग व्याकरण की उपेक्षा करके मनमाने अर्थ करते और वेदान्त के नाम पर वेदान्त सूत्रो के विपरीत कल्पना जगत् की सृष्टि करते हैं। तीन अनादियो को छोडकर ब्रह्म और ईश्वर नाम से दो-दो ईश्वरो अविद्या, अविद्या तथा चेतन का सम्वन्ध आदि के अनादित्व का नाम तक वेदान्त-सूत्रो मे कही नही मिलता ॥६७॥

कार्योपाधि मे ब्रह्म का जीवरूप होना तथा कारणोपाधि से उसका ईश्वर रूप होना भी युक्तियुक्त नही है—

न कार्यकारणोपाधिभ्यां जीवेश्वरौ सर्वगते ब्रह्मण्यज्ञाना-भावात् ॥६८॥

कार्यकारणोपाधि से भी जीव और ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती, क्योकि अनन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सर्वव्यापक ब्रह्म मे अज्ञान का नितान्त अभाव है। किसी भी अवस्था मे कार्यरूप होने पर ब्रह्म परिणामी तथा अज्ञानी हो जायेगा।

विपरीतज्ञानस्य च नित्यत्वशङ्कया ॥६९॥

यदि अज्ञान के कारण ब्रह्म परिणामी होगा तो ब्रह्म के साथ अज्ञान भी नित्य होगा क्योकि गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से वह ब्रह्म को और ब्रह्म उसको नही छोड सकेगा ॥६९॥

ब्रह्म और जीव की भिन्नता युक्तियो से सिद्ध करने के उपरान्त वेदादि शास्त्रो के प्रमाणो से इसकी पुष्टि करते हैं—

श्रुतिप्रामाण्यात् द्वैतसिद्धि ॥७०॥

श्रुति-वेद के प्रमाणो से ब्रह्म, जीव और प्रकृति की भिन्नता सिद्ध है।

चारो सहिताओ मे अनेक स्थलो पर ईश्वर, जीव और प्रकृति के सर्वथा भिन्न होने का उल्लेख मिलता है। यहा केवल उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

१— **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।**
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋ० १-१६४-२०

इस मन्त्र मे स्पष्ट ही वृक्ष के रूप मे प्रकृति का, पाप पुण्यरूप फलो का भोग करने वाले के रूप मे जीव का और केवल द्रष्टा के रूप मे ईश्वर का कथन करके जीव से ईश्वर का, ईश्वर से जीव का तथा इन दोनो से प्रकृति का भिन्न होना प्रतिपादित है।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं–'द्वौ अभ्युदयनि श्रेयसपक्षान्' विभ्रतौ जीवपरमात्मनौ तयोर्मध्ये (एक) जीव (पिप्पल) वहुदोषयुक्तमपि कर्मफल स्वादुकृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्य) पर परमातमा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभित अत्यर्थं प्रकाशते ॥"

इस प्रकार स्वामी आत्मानन्द कृत भाष्य के अनुसार भी यह मन्त्र स्पष्टत जीवेश्वर-प्रकृति-भेद का प्रतिपादक है।

२— **ईशावास्यमिद सर्व यत्किञ्च जगत्या जगत्।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद् धनम् ॥

यजु ४०-१

इस मन्त्र मे भी व्यापक 'ईश' और उसके व्याप्य अथवा वास्य 'जगत्' दोनो का उल्लेख है। साथ ही जिसे 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' का उपदेश किया गया है उस 'भोक्ता' जीव का भी दोनो से पृथक अस्तित्व बताया गया है। न व्याप्य-व्यापक एक हो सकते हैं और न भोग्य-भोक्ता।

३— वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यते विद्यतेऽयनाय ॥
यजु० ३१-१८

इस मन्त्र मे एक 'महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात्' पुरुष है और दूसरा उसे जानने वाला और जानकर मोक्ष प्राप्त करने वाला है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनो एक नही हो सकते।

४— ओ३म् क्रतोस्मर, क्लिवे स्मर, कृतᳪस्मर ॥ यजु ४०-१५

अर्थात् हे (क्रतो) कर्मशील जीव तू (ओ३म् स्मर) परमेश्वर का स्मरण कर'''(कृत स्मर) किये हुए कर्मो का स्मरण कर।' यहाँ भी उपास्य ब्रह्म तथा उपासक एव कर्मफल भोक्ता जीव का भेद स्पष्ट है।

५— न तं विदाय य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तर बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
ऋ १०-८२-७

अर्थात् हे जीवो, तुम उस परमात्मा को नही जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह परमात्मा (युष्माकमन्तर बभूव) तुम्हारे अन्दर है, फिर भी वह तुमसे (अन्यत्) भिन्न है। तुम 'नीहारेण प्रावृता' अज्ञानान्धकार से आवृत होने के कारण उसे नही जानते।

अद्वैतवादी होते हुए भी सायण, महीधर और उव्वट को भी इस मन्त्र के भाष्य मे जीवेश्वर भेद को स्वीकार करना पडा है। ऋग्वेद भाष्य तथा काण्व-सहिता भाष्य (यह मन्त्र यजुर्वेद १७-३१ मे भी आया है) मे सायणाचार्य लिखते हैं—"हे नरा. त विश्वकर्माण न जानीथ य इमानि भूतानि उत्पादितवान् यूय नीहारसदृशेनाज्ञानेनाच्छन्ना अतो न जानीथ। ईदृशाज्ञानेन सर्वे जीवा: प्रावृता। युष्माकमह प्रत्ययगम्याना जीवानामन्तर अन्यत् अह प्रत्ययगम्यातिरिक्त सर्ववेदान्तवेद्य ईश्वरतत्त्व भवति विद्यते।"

वेद मन्त्र मे आये 'अन्यद् युष्माकमन्तर बभूव' तथा सायणभाष्य मे 'जीवाना अन्तर अन्यत् अतिरिक्तम्' इत्यादि शब्दो मे जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। इस मन्त्र की व्याख्या मे शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) मे कहा गया है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यमृत ॥

अर्थात् "जो आत्मा के अन्दर स्थित होता हुआ भी आत्मा से भिन्न है, जिसको अज्ञानी आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसके शरीर के समान है, आत्मा

के अन्दर स्थित होकर जो आत्मा का नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी आत्मा परमेश्वर है।" इससे वढकर जीवेश्वर भेद का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ?

६— **इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।**
शिक्षा योऽस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

साम० २५९

इन्द्र नाम से परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्र को देता है उसी प्रकार तू हमे ज्ञान दे" जिससे हम जीव ज्ञान ज्योति प्राप्त कर सके।' इस मन्त्र मे जीव की ब्रह्म से भिन्नता के साथ-साथ जीवो की अनेकता का भी कथन किया है। सायण और माधव ने भी इस मन्त्र का भाष्य करते हुए प्रार्थी जीवो को ईश्वर से भिन्न माना है।

ईश्वर और जीव मे पिता-पुत्र के सम्वन्ध के द्योतक अनेक मन्त्र हैं। जैसे 'स न पितेव सूनवे' (ऋ० १-१-९) 'स न पिता' (ऋ० ८-५२-५), 'यो न पिता जनिता यो विधाता' (ऋ० १९-८२-३), 'त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो वभूविथ' (ऋ० ८-९८-११)।

पिता—पुत्र एक नही हो सकते। यह सम्वन्ध भेद मे ही सम्भव है।

७— **त्व हि शाश्वतीनां पती राजा विशामसि।** ऋ० ८-९५-३

यहा ईश्वर को नित्य सनातन प्रजाओ का पति वताकर जीव और ईश्वर में सेवक-स्वामी-सम्बन्ध स्थापित कर ईश्वर से जीवो की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है।

८— **कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य।** यजु० ४०-८

अर्थात् परमेश्वर ने अपनी (शाश्वतीभ्य समाभ्य) जीवरूप सनातन प्रजाओ के लिये यथार्थ व सत्यरूप से पदार्थों को वनाया।

इस मन्त्र मे जीव की ईश्वर से भिन्नता के साथ-साथ उसके अनादित्व का भी प्रतिपादन किया है। जगत् के मिथ्या न होकर यथार्थ (याथातथ्यत) होने का भी उल्लेख स्पष्ट है। ससार के मिथ्या न होने की पुष्टि मे कुछ और वेद मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

९— **प्र घान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करणानि।**

ऋ० २-१५-१

अर्थात् इस महान् सत्यस्वरूप ईश्वर के कार्य भी महान् और सत्य हैं।

१०— **सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठा।**

ऋ० ४-१७-६

अर्थात् परमेश्वर के सव उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य (सत्ता) सत्य-वास्तविक (सत्रा इति सत्यनाम-निघण्टु ३-१०) हैं।

११— यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ।
ऋ० १०-५५-६

अर्थात् यह परमेश्वर जिस जगत् को जानता है वह (सत्यम् इत) सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नही है ।

१२— प्रासावीद देवः सविता जगत् पृथक् । साम० ११५८

अर्थात् सर्वप्रेरक परमेश्वर ने उस जगत् को उत्पन्न किया जो उससे पृथक् है ।

१३— बालादेकमणीयस्कमुतैक नैव दृश्यते तत परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ अथर्व० १०-८-२५

(एक) एक जीवात्मा (बालादणीयस्क) बाल से भी अतिसूक्ष्म है । (उत) और (एक) एक प्रकृति मानो (नैव दृश्यते) दीखती ही नही । (तत) उससे भी (परिष्वजीयसी) सूक्ष्म और व्यापक जो देवता है वही मुझे प्रिय है ।

प्रकृति परमाणु अतिसूक्ष्म हैं, जीवात्मा भी सूक्ष्म है, उनमे भी सूक्ष्म परमात्मा है । इस प्रकार इस मन्त्र मे तीनो अनादि तत्त्वो का निर्देश है ।

१४— त्रय. केशिन' ऋतुथा विचक्षते सवत्सरे वपत एक एषाम् । विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रुपम् ॥ ऋ० १-१६४-४४

(त्रयः) तीन (केशिन) प्रकाशमय पदार्थ (ऋतुथा) नियमानुसार (विचक्षते) विविध कार्य कर रहे हैं । (एषाम्) इनमे से (एक) एक (सवत्सरे) सृष्टिकाल मे अथवा वास योग्य ससार मे (वपते) बीज डालता है । (एक) एक (शचीभिः) शक्तियो से, कर्म से, बुद्धि से (विश्व) विश्व को (अभिचष्टे) दोनो ओर से देखता है । (एकस्य) एक का (ध्राजि) वेग तो दीखता है (ददृशे) किन्तु (रुप न) रूप नही दीखता ।

यहा जीवो को कर्मफल देने के लिए प्रकृति मे बीज डालने अथवा कार्यरूप देने वाले के रूप मे ईश्वर का, भले बुरे दोनो प्रकार के फल भोगने वाले के रूप मे जीव का तथा कार्यरूप मे दीखने पर भी सूक्ष्म होने से कारणरूप मे न दीखने वाली प्रकृति का वर्णन किया गया है ।

१५— अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्न ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्य विश्पति सप्तपुत्रम् ॥
ऋ० १-१६४-१

(तस्य) उस प्रभु को (मध्यम भ्राता) गुणो मे मध्यम भाई (अश्न) खाने वाला--भोक्ता जीव है । (तृतीय भ्राता) तीसरा भाई (घृतपृष्ठ) घृत—भोग्य पदार्थो (घृत भोग का उपलक्षण है) का पृष्ठ—आधारभूत प्रकृति है । यहा प्रकृति-प्रधान के सात पुत्र हैं—महत्तत्व, अहकार और पञ्चतन्मात्रायें ॥७०॥

उपनिषत्स्वप्युक्तत्वात् ॥७१॥

उपनिषदो मे भी कहा गया होने से ।

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनो के अनादि होने के प्रमाण उपनिषदो मे भी अनेकत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

१-'द्वा सुपर्णा' इत्यादि ऋग्वेद (१-१६४-२०) का यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् (३-१-१) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद (४-६) मे ज्यो का त्यो उद्धृत करके वेदानुकूल ईश्वर, जीव, तथा प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् मे इस मन्त्र का भाष्य करते हुए श्री शकराचार्य 'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ' लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का भी अनादित्व स्वीकार करते है। आगे कहते है "तयो परिष्वक्तयो (अन्य॰) एक (पिप्पल) कर्मनिष्पन्न सुखदुखलक्षण फल (स्वाद्वत्ति स्वादु भक्षयति। (अन्य) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव. सर्वज्ञ सर्वसत्वोपाधिः ईश्वर (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्य-भोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम् ।"

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य मे शकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति ओर दोनो के द्रष्टा एव प्रेरक ईश्वर तीनो की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। 'आत्मेश्वरौ' इस समस्त पद मे 'जीवो ब्रह्मैव नापर' का स्पष्ट निषेध है। स्वामी शकराचार्य द्वारा यत्र तत्र प्रयुक्त 'लिगोपाधि' 'मायोपाधि' शब्दो का मन्त्र मे कही सकेत नही है।

मुण्डकोपनिषद् मे उद्धृत इस वेदमन्त्र की व्याख्या के रूप मे दिया निम्न मन्त्र भी समानरूप से महत्वपूर्ण है—

२— **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान ।**
जुष्ट यदा पश्यति अन्यमीश अस्य महिमानमितिवीतशोक ॥

मुण्डक ३-२

अर्थात् अनादि नित्य जीव प्रकृति रूपी वृक्ष के भोग मे निमग्न मोह के कारण शोक करने लगता है। किन्तु जब वह उसी वृक्ष पर निर्लिप्त भाव से बैठे अपने से अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तो शोकरहित हो जाता है।

यदि वास्तव मे जीव ब्रह्म का ही रूप होता तो वह किसी भी अवस्था मे मोह, अज्ञान, दुख आदि से ग्रस्त न होता। मन्त्र मे 'मुह्यमानः पुरुष' तथा 'अन्यमीशम्' पदो के रहते नवीन वेदान्तियो का जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खेंचातानी है।

३— **अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजा. सृजमाना सरूपा ।**

ऐसी योजना मे तत्काल प्रश्न उठता है कि 'उपासीत' क्रिया का कर्म क्या है ? इसका कर्त्ता कौन है ? 'उपासना करें'—परन्तु कौन किसकी ? यदि यह सब जगत् भी ब्रह्म ही है तो जगत् की उपासना करने मे क्या दोष है ? फिर, सब जगत् को ब्रह्म मानकर उससे जगत् की उत्पत्ति आदि की आवश्यकता क्या है ? जब ब्रह्म ही जगद्रूप है तो वह ब्रह्म के समान नित्य है। नित्य की उत्पत्ति कैसी ? जगत् की उत्पत्ति का अर्थ होगा ब्रह्म की उत्पत्ति। वस्तुत: 'उपासीत' क्रिया का कर्म 'ब्रह्म' है और कर्त्ता 'क्रतु पुरुष' अर्थात् जीवात्मा। 'सर्वं खल्विदं' का सम्बन्ध 'तज्जलान्' के साथ है। युक्तियुक्त पदयोजना होगी—'सर्वं खल्विदं तज्जलानिति मत्वा शान्त. सन्नुपासक जीवात्मा ब्रह्म उपासीत।'

प्रत्येक मनुष्य संसार मे लिप्त हुआ अपने सुख के साधन रूप ससार के पदार्थों को सर्वोपरि समझता और ब्रह्म की ओर से उदासीन हो उसे भूला रहता है। इसी भावना से उपनिषत्कार ने कहा कि जिस जगत् को तुम सब कुछ समझते हो वह सब ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है और वही इसे धारण कर रहा है। इसलिये "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व: स्तभितं येन नाक. योऽन्तरिक्षे रजसो विमान" (यजु ३२-६) उसी सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना करो। इसी आधार पर गीता (१८-५३) में कहा—'विमुच्य निर्मम: शान्तो ब्रह्म भूयाय कल्प्यते'—काम क्रोध आदि का परित्याग कर ममताहीन हो उपासक ब्रह्म प्राप्ति के लिये समर्थ होता है ॥७१॥

वेदान्त दर्शन को नवीन वेदान्त अथवा अद्वैतवाद का मूलाधार माना जाता है। सभी दर्शनो मे वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। साथ ही 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' का सिद्धान्त भी सभी मनीषियो को मान्य है। जब वेद को सामने रखकर बुद्धिपूर्वक वेदान्तसूत्रो पर विचार करते हैं तो उनमे भी ईश्वर, जीव और प्रकृति का अनादित्व ही प्रतिपादित है—इस निश्चय पर पहुचते हैं। अगले सूत्र मे इसी का विस्तार है—

ब्रह्मसूत्रेपूपपादनाच्च ॥७२॥

ब्रह्मसूत्रों से भी त्रैतवाद की पुष्टि होती है। यहा केवल उदाहरणार्थ कुछ सूत्रो पर विचार किया है—

१— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ वे० १-१-१ ॥

वेदान्त दर्शन की रचना का आधार ही ब्रह्म को जानने की इच्छा है। इच्छा अप्राप्त वस्तु की होती है। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को हो सकती है जो उसे नही जानता। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वय अपने को ही जानने की इच्छा करे—यह अपने आप में कितना उपहासास्पद है। जिज्ञासु और जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते। स्पष्टत. ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाला ब्रह्म से भिन्न जीव ही है।

२— जन्माद्यस्य यत: ॥१-१-२॥

जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है वह ब्रह्म कहाता है। रचयिता और रचना एक नही हो सकते। अत चराचर जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म जगत् से भिन्न है।

३— **नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१-१-१६॥**

जीव मे सृष्टि उत्पत्ति का सामर्थ्य सिद्ध नही होता। न ही ससार मे जीवात्मा को दुखरहित होना सिद्ध होता है। अतः आनन्दमय ब्रह्म को ही सृष्टि का उत्पत्तिकर्त्ता वर्णन किया है। अल्प सामर्थ्य वाला जीव सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म कदापि नही हो सकता।

४— **भेदव्यपदेशाच्च ॥१-१-१७॥**

भेद का कथन होने से भी जीव और ब्रह्म भिन्न है। आनन्दमय अधिकरण मे कहा है—'रसो वै स। रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।' वह आनन्दमय है। उस आनन्द रूप ब्रह्म को पाकर ही जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है। लब्धा जीव और लब्धव्य ब्रह्म एक नही हो सकते। यदि जीवात्मा ब्रह्म के समान आनन्दमय होता तो उसे कही से आनन्द प्राप्त क्यो करना पडता? इस प्रकार आनन्दमय के अधिकार मे आनन्दमय ब्रह्म को रसरूप वर्णन करके उसमे तथा जीव मे भेद होना कहा है।

५— **अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१-१-१९॥**

(अस्मिन्) इस आनन्दमय ब्रह्म मे (अस्य) इस जीव के योग का उपदेश शास्त्र करता है। योग दो भिन्न पदार्थो का ही होता है। जीव व प्रधान—प्रकृति के लिए आनन्दमय शब्द भी नही है। जीव और ब्रह्म का योग होने के उपदेश मे तैत्तिरीय उपनिषद् (२-७) का यह मन्त्रवाक्य प्रमाण है—

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयंगतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तर कुरुते अथ तस्य भयं भवति।"

निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय निराधार ब्रह्म मे भयरहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह अभयरूप मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जब यह आत्मा के अज्ञान के कारण परमात्मा से दूर रहकर उससे भिन्न पदार्थों मे चित्त लगाता है तब उसे भय होता है।

ब्रह्म मे जीवात्मा के योग का उल्लेख यजुर्वेद (३२-११) मे भी उपलब्ध है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

समस्त भूत, लोक-लोकान्तर दिशा-प्रदिशाओ की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के आदेश के अनुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने आपसे परमात्मा मे प्रवेश कर जाता है, उसे प्राप्त कर लेता है।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥

श्वेत० ४-५

लाल, सफेद और काले रग की एक 'अजा' है जो अपने ही रग रूप वाली अनेक अजाओ का सर्जन कर रही है। एक 'अज' है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका उपभोग करता है। एक दूसरा 'अज' है जो उस भुक्तभोगा अजा को छोड देता है अर्थात् उसका भोग नही करता। 'अज' का अर्थ है अ+ज–जो पैदा न हो, अजन्मा-अनादि एव नित्य हो। तीन 'अज' अर्थात् अनादि है–एक भोग्य-सत्त्व-रजस्-तमस् रूपी प्रकृति, दूसरा उसके भोगने वाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगने वाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति मे रम जाता है, परमात्मा नही रमता। ऋग्वेद (१-१६४-२०) के समान ही उपनिषद् के इस मन्त्र मे ईश्वर-जीव प्रकृति की भिन्नता का स्पष्ट वर्णन है।

श्री शकराचार्य का कथन है कि मन्त्र मे प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख न होने से यहा 'अजा' पद प्रकृति का नही अपितु वकरी का वाचक है। किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नही है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण मे वकरी के लिए कोई स्थान नही है। फिर, ऐसा मानने पर 'अज' भुक्तभोगा, अनुशेते तथा जहात्येनाम्' आदि पदो की सगति नही लगेगी। 'अजा' के साथ विशेषण भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते और कुछ अर्थ नही हो सकता।

४– **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको वहूना यो विदधाति कामान्।**
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा शान्ति शाश्वती नेतरेषाम् ॥

कठ० ५-१३

इस मन्त्र मे 'नित्याना' वहुवचन पद से स्पष्ट है कि नित्य पदार्थ कम से कम तीन अवश्य हैं। ये ईश्वर-जीव-प्रकृति है। तीनो के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के वन्धन मे होने कारण परमात्मा को 'नित्यो नित्यानाम्'–नित्यो मे नित्य कहा गया है।

५ **ऋत पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता: ॥

कठ १-३

इस सन्दर्भ मे द्विवचनान्त पदो से जिन दो का वर्णन है वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। दोनों ऋत का पान करने वाले हैं। 'ऋत' का अर्थ है सत्य अथवा नियत व्यवस्था। जीवात्मा व्यवस्थापूर्वक कृत कर्मों का फल भोगता और आगे कर्मानुष्ठान मे लगा रहता है–यह उसका ऋतपान है। परमात्मा अपनी व्यवस्था के अनुसार विश्व की उत्पत्ति, पालन और लय आदि मे सलग्न रहता है–यह परमात्मा का ऋतपान है। जीवात्मा का कार्यक्षेत्र देहमात्र है और ब्रह्म का समस्त विश्व। छाया और घाम अर्थात् अन्धकार और प्रकाश के

समान एक अल्पज्ञ और दूसरा सर्वज्ञ है। दोनो हृदय देश (उपनिषदो मे अध्यात्म प्रकरणो मे 'गुहा' पद सर्वत्र हृदय प्रदेश के लिए प्रयुक्त हुआ है) मे प्रविष्ट हैं।

६– दिव्यो ह्यमूर्त्त पुरुष स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात् परत पर ॥ मुण्डक २-१-२

इस मन्त्र का अन्तिम वाक्य है–'अक्षरात् परत पर'। इस वाक्य का शब्दार्थ है–'अक्षर' से 'पर' और 'उस पर' से भी पर। यहा अक्षर पद प्रकृति का वाचक है। 'अक्षर' का प्रकृतिवाचक होना पहले सन्दर्भ (२-१-१) मे स्पष्ट है। वहा 'सरूपा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। उस सन्दर्भ मे 'अक्षर' का अर्थ ब्रह्म करने पर उसके कार्यजगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता माननी होगी जो यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानरूपता स्पष्ट है। प्रस्तुत मन्त्र मे ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त्त, शुभ्र आदि बताते हुए उसे 'अक्षरात्परत पर' कहा है जिसका तात्पर्य है–अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे भी पर ब्रह्म है जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार इस मन्त्र मे प्रकृति, प्रकृति से भिन्न जीव और उससे भी उत्कृष्ट अथवा भिन्न ब्रह्म तीनो का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

७– सर्व खल्विद तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेत प्रेत्य भवति स क्रतु कुर्वीत ॥
छा० ३-१४-१

यह सब जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता, उसी मे लय होता और उसी के आधार पर प्राण धारण करता है। ऐसा समझकर शात उपासक ब्रह्म की उपासना करे। कर्मशील पुरुष कर्म करे क्योकि इस लोक मे जैसा कर्म करता है वैसा ही आगे हो जाता हैं। इस सन्दर्भ मे 'ब्रह्म' पद ब्रह्माड परक है। मुण्डकोपनिषद् (१-१-६) मे कहा है—

'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूप जायते' अर्थात् उसी से बृहत् नामरूप वाला जगत् उत्पन्न होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-१) मे भी कहा–'कि कारण ब्रह्म' अर्थात् सृष्टि का कारण क्या हैं? महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेद (१-४०-५) का भाष्य करते हुए प्रकरणानुकूल ब्रह्म का अर्थ ब्रह्माड किया। प्रस्तुत मन्त्र मे इस ब्रह्माड की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का निमित्त कारण ब्रह्म को बताते हुए जीवात्मा को उसकी उपासना करने तथा कर्म करने की प्रेरणा की गई है। इस प्रकार यहा उपासक जीवात्मा, उपास्य ब्रह्म और उसके द्वारा उत्पन्न जगत्–तीनो का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

आचार्य शकर ने इस सन्दर्भ के प्रथम वाक्य की योजना इस प्रकार की है 'सर्व खल्विद ब्रह्म' यह सब जगत् ब्रह्म है, ब्रह्म से उत्पन्न होता, ब्रह्म मे लीन होता और ब्रह्म मे अभिप्राणित रहता है, शान्त हुआ उपासना करे। पदो की

६— अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।१-१-२० ।।

ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये गये हैं । 'य आत्मनि तिष्ठत् यस्यात्मा शरीरम्'—जीव के भीतर ब्रह्म के रहने विपयक इस प्रकार के वचन शास्त्रो मे भरे पडे हैं । व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भेद मे ही घटित होता है । इसलिए आत्मा के भीतर परमात्मा के व्याप्त होने से दोनो का एक-दूसरे से भिन्न होना स्वत सिद्ध है ।

७— गुहा प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।।१-२-११।।

गुहा-हृदय देश मे दो आत्मा प्रविष्ट है । निश्चित रूप से उनका दर्शन वहा होता है । द्विवचनान्त आत्मा पद से जीवात्मा और परमात्मा ही अभिप्रेत है । 'स वा एप आत्मा हृदि' (छा० ८-३-३) 'हृद्यन्तर्ज्योति पुरुप' (वृहद् ४-३-७) इत्यादि प्रमाणो से जीवात्मा का और 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता) इत्यादि प्रमाणो से परमात्मा का हृदयदेश मे विद्यमान होना प्रसिद्ध है । दर्शन की क्रिया तभी सभव है जब द्रष्टा और दृश्य दोनो एकत्र हो । ब्रह्म सर्वव्यापक है किन्तु जीवात्मा एकदेशी है । हृदयदेश ही एकमात्र ऐसा स्थान है जहा दोनो विद्यमान है । इसलिए ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी आत्मा द्वारा उनका साक्षात्कार हृदयदेश रूपी गुहा के अतिरिक्त अन्यत्र कही सम्भव नहीं । द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते अर्थात् द्रष्टा स्वयं दृश्य नही हो सकता ।

८— विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ।।१-२-२२।।

विशेपण और भेद कथन किये जाने से दूसरे दोनो—जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म नही हैं । अक्षर नाम से ब्रह्म और प्रकृति दोनो का ग्रहण होता है । किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ मे निर्दिष्ट दिव्य, अमूर्त्त, अज, अप्राण, अमना, शुभ्र आदि विशेषण न जीवात्मा मे सम्भव हैं और न प्रकृति मे । अत प्रकृति और जीवो से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करने वाले हेतुओ से ब्रह्म निश्चय ही प्रकृति और जीवो से भिन्न है ।

९— भेदव्यपदेशाच्चान्य ।। १-१-२१।।

भेद कथन से भी ब्रह्म अन्य अर्थात् जीव और प्रकृति से भिन्न है । वृहदारण्यक उपनिषद् (३-७) मे इसका विशद रूप मे वर्णन किया है । वहा कहा है कि पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यु, आदित्य, दिशाओ, चन्द्र-तारक, आकाश, तम, तेज, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा और विज्ञान (आत्मा) जिसके शरीर हैं और जो इन सबके भीतर रहता हुआ भी इन सबसे भिन्न है तथा सबका नियन्त्रण करता है वही ब्रह्म है । भेद का इतना विशद वर्णन होते हुए ब्रह्म को जगद्रूप कैसे माना जा सकता है ? इस भेदव्यपदेश से ब्रह्म से जीव और जीव से ब्रह्म निश्चय ही अन्य—भिन्न हैं ।

१०— अनुपपत्तेस्तु शारीरः ।। १-२-३।।

शरीरधारी जीव ब्रह्म नही हो सकता। क्योकि ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीवात्मा मे उपपन्न नही होते। सूत्र मे 'शारीर' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य मे ब्रह्म के शरीर और शरीरागो का जो वर्णन मिलता है, वह केवल औपचारिक है। शरीर द्वारा जो जन्म-मरण के वन्धन मे आता है वास्तव मे वही शारीर है और वह जीवात्मा ही है।

११– शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ॥ १-२-२०॥

देही जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नही हो सकता, क्योकि दोनो (काण्व व माध्यन्दिन) शाखा वालो ने जीवात्मा का उल्लेख ब्रह्म से भिन्न मानकर किया है तथा ब्रह्म को स्पष्ट रूप से जीवात्मा मे अन्तर्यामी वताया है। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण तथा उसी के चतुर्दश काण्ड पर आधारित वृहदारण्यक उपनिषद् (३-७-२२) मे कहा है—

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो य विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञान शरीर यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत ।"

यहा 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर जीवात्मा के लिये हुआ है। स्पष्ट ही यहा अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से जीवात्मा को भिन्न वताया है और दोनो मे व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध स्थिर किया है।

माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) के इस प्रसग मे 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करके कहा है—'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद · ।' अर्थात् जो आत्मा मे स्थित हुआ आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार दोनो शाखावालो के उक्त प्रकार भेद सहित कहने से शारीर जीवात्मा ब्रह्म की भाति अन्तर्यामी नही हो सकता।

१२– पत्यादिशब्देभ्य. ॥ १-३-४॥

शास्त्रो मे ब्रह्म के लिए 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग होने से जीव ब्रह्म के भेद का निश्चय होता है। यदि ब्रह्म और जीव मे अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीवात्मा के लिये भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणो का प्रयोग होता। ऐसा प्रयोग कही न देखे जाने से स्पष्ट है—जीव और ब्रह्म दोनो मे तात्त्विक भेद है।

अष्टम अध्याय

उपासना

परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः ॥१॥

ईश्वर मे परम-अनन्य अनुराग भक्ति है।

वृहदारण्यक (४-५-६) मे लिखा—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य.' अर्थात् वह परमात्मा ही चित्तवृत्ति लगा कर ईक्षण करने योग्य है, वही श्रुतिवाक्यो से श्रवण, युक्तियो से मनन और चित्त को एकाग्र कर वार-वार ध्यान करने योग्य है।' सासारिक सुखोपभोग से विरक्त हो जव मनुष्य इस प्रकार निश्चय कर 'सोऽन्वेष्टव्य' (छा. ८-७-१) उसी को पाने मे लग जाता है तव वह मानो परमेश्वर का प्रेमी वन जाता है। प्रेम की यह पराकाष्ठा ही भक्ति है ॥१॥

इस भक्ति का स्वरूप क्या है?

सा चोपासनारूपा ॥२॥

और वह (भक्ति) उपासना रूप होती है।

'उपास्यतेऽनया इत्युपासना' अर्थात् जिससे परमात्मा के पास ठहरा जावे, उसे उपासना कहते हैं। तो क्या परमात्मा जीवात्मा से दूर है जो उसका सामीप्य पाने के लिये प्रयत्न अपेक्षित हो? जिस परमेश्वर को वेदो मे सवके वाहर-भीतर (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यत), उपनिषदों मे प्राणिमात्र के आत्मा मे विद्यमान (सर्वभूतान्तरात्मा, आत्मस्थ) और गीता मे सवके हृदय मे वास करने वाला (ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशे तिष्ठति) वताया गया हो वह क्व किसी से दूर हो सकता है जो उसके पास जाने का प्रश्न उठे। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद (४०-५) मे आये 'तद्दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह दूर भी है और पास भी—शब्द विचारणीय हैं। एक साथ दूर और पास दोनो कहने मे विरोध का आभास है। वस्तुतः अज्ञान के कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है। यही कारण है कि परमेश्वर को सर्वव्यापक एव सर्वान्तर्यामी मानने वाले लोग उसे अपने भीतर न पाकर दूरस्थ नगरों, जगलो और पहाड़ों मे ढूंढते फिरते हैं। वहां पहुंचकर भी वे परमेश्वर से सीधा सम्पर्क नही कर पाते, अपितु पुजारियों के अनुरोध से उनकी भेंट पूजा कर नियत समय मे ही अपने इष्ट-देव का सामीप्य लाभ करने मे मग्न होते हैं। इस प्रकार ईश्वर अज्ञानियों से दूर और ज्ञानियों के समीप रहता है। इसी प्रकार जिससे हमारा अभी परिचय नहीं हुआ वह पास में रहता हुआ भी हमसे दूर है।

उपनिषद् के शब्दो मे 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ' परमेश्वर उसी को मिलता है जिसका वह स्वय वरण करता है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' परमेश्वर उसी का वरण करता है जो उसका समानधर्मा होता है। अत जिस अश मे किसी के गुण-कर्म-स्वभाव परमेश्वर के अनुरूप होते है उसी अश मे उसे उसका सामीप्य प्राप्त होता है ॥२॥

क्रियाप्रधान होने से भक्ति या उपासना अनुष्ठानसाध्य है। अत —

योगानुष्ठानादीश्वरार्थं सर्वभावार्पणमुपासनम् ॥३॥

योग के अनुष्ठान द्वारा ईश्वर मे सर्वात्मना निमग्न होना उसकी उपासना है ॥३॥

अब योग का लक्षण करते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥४॥

चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।

वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय मे चित्त को स्थिर रखना, अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को एक स्थान पर केन्द्रित करना योग कहाता है। जब चित्त मे स्थैर्यशक्ति उत्पन्न होती है तब किसी भी लक्ष्य मे चित्त को स्थिर किया जा सकता है। स्थिरता की चरम सीमा का नाम समाधि है।

'चित्त' शब्द का अर्थ यहा अन्त करण है और वह सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्रकृति का परिणाम होने से त्रिगुणात्मक है। इसी के वाह्याभ्यन्तर व्यापार को वृत्ति कहते हैं। त्रिगुणात्मक अन्त करण का परिणाम होने से ये वृत्तिया तीन प्रकार की हैं। चित्त इनमे से किसी न किसी वृत्ति से व्याप्त रहता है। इन वृत्तियो के क्रम का निरोध होना 'योग' है। जिस अवस्था मे राजस और तामस वृत्तियो का निरोध हो जाने पर चित्त इन्द्रियो के द्वारा वाह्य विषयो की ओर प्रवृत्त न होकर एकमात्र अध्यात्म के चिन्तन मे निमग्न रहता है उस अवस्था का नाम ऐकाग्र्य है। इस अवस्था मे पूर्वानुभूत विषयो के सस्कार अवश्य वने रहते हैं और वे कभी-कभी एकाग्र अवस्था मे विघ्न भी उपस्थित कर देते हैं। जब चित्त सस्कारो के विद्यमान रहते हुए भी उनको उद्बुद्ध करने मे असमर्थ हो जाता है और सात्त्विक वृत्ति का भी लोप हो जाने पर निराव-लम्ब हुआ क्लेशकर्मादि वासनाओ के सहित अपने कारण प्रकृति मे लीन हो जाता है और जीवात्मा अपने चैतन्यस्वरूप से परमात्मा के स्वरूप आनन्द को अनुभव करता है वह चित्त की निरुद्ध अवस्था कहाती है। आत्मबोध के अतिरिक्त इस अवस्था मे अन्य किसी विषय का ज्ञान न रहने से योगियो के सम्प्रदाय मे इसी अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है ॥४॥

अव चित्तवृत्तियो के निरोध का उपाय वताते हैं—

वैराग्याभ्यासाभ्यां तन्निरोधः ॥५॥

वैराग्य और अभ्यास के द्वारा उन वृत्तियो का निरोध होता है ।

चित्तवृत्तियो के निरोध करने मे वैराग्य और अभ्यास दोनो का समुच्चय अर्थात् पारस्परिक सहयोग अपेक्षित है । एक दूसरे के पूरक होकर दोनो मिलकर निरोध का सम्पादन करते हैं । चित्त रूपी नदी दो धाराओ मे प्रवाहित होती है । एक—जो पापवहा है यह विपयो के मार्ग मे वहती हुई अज्ञानान्धकारमय ससारसागर मे जा मिलती है । दूसरी—जो कल्याणवहा है वह विवेक मार्ग से वहती हुई आत्मसाक्षात्कार रूप कल्याणसागर मे जा मिलती है । विपयो के स्रोत पर वैराग्य का वाँध लगाकर पापवहा धारा को सुखा दिया जाता है । तदनन्तर विवेकदर्शन के अभ्यासरूपी फावडे से अध्यात्म मार्ग को गहरा करके समस्त चित्तवृत्तियो के प्रवाह को उसमे डाल दिया जाता है और इस प्रकार कल्याणमार्ग का पथिक अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है ।

किन्तु यह मार्ग है कण्टकाकीर्ण । मार्ग की दुर्गमता से त्रस्त एवं खिन्न होकर अर्जुन ने योगेश्वर कृष्ण से कहा था—

चंचल हि मन कृष्ण प्रमाथि वलवद् दृढम् ।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

गीता ६-३४

हे कृष्ण ! यह मन अत्यन्त चचल, हठीला, वलवान् और दृढ है । वायु के समान इसे वश मे करना अत्यन्त दुष्कर है ।

श्रीकृष्ण ने जिज्ञासु के प्रतीक रूप अर्जुन की मन स्थिति को देख कर उसे ढाढस देते हुए समझाया—

असशयं महावाहो मनो दुर्निग्रह चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

गीता ६-३५

हे अर्जुन ! इसमे सन्देह नही कि मन अत्यन्त चचल है और उसे वश मे करना अति कठिन है । परन्तु अभ्यास और वैराग्य से उसे वश मे किया जा सकता है । जो वात पहले कठिन देख पडती है वार-वार के अभ्यास से अन्त मे वह सिद्ध हो जाती है ॥५॥

जव चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तव आत्मा की कैसी स्थिति रहती है ? इसका उत्तर देते हैं—

तदा परमात्मन स्वरूपेऽवस्थानम् ॥६॥

तव (चित्तवृत्ति निरोध होने पर) परमात्मा के स्वरूप मे स्थिति होती है ।

जव चित्त की वृत्तियो का निरोध हो जाता है अर्थात् जव समस्त वृत्तिया वाह्य विषयो से हट कर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो चित्त अपने कारणरूप प्रकृति मे लीन हो जाता है और जीवात्मा का प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से मम्वन्ध नही रहता। उस अवस्था मे वह अपने चेतन स्वरूप से परमेश्वर मे स्थिर हो जाता है। जब उपासक योगज शक्ति द्वारा उस आनन्दसागर मे प्रवेश कर जाता है तो उसे अन्य किसी वस्तु का भान नही होता। उस अवस्था मे वह अपने आपको भी भूल जाता है और आनन्दातिरेक मे काव्य की भाषा मे कह उठता है–'त्व वा अहमस्मि भगवो देवते अह वै त्वमसि'–तू मैं और मैं तू है। इस अवस्था को प्राप्त कर आत्मा समाधिलब्ध शक्ति द्वारा परमात्मा के आनन्दरूप मे निमग्न हो जाता है। उस आनन्द का वह अनुभव करने लगता है। यही आत्मा के मोक्ष अथवा अपवर्ग का स्वरूप है ॥६॥

अव चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की विघ्न-बाधाओ का निरूपण करते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥७॥

व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व–ये (नौ) चित्त के विक्षेप हैं जो अन्तराय अर्थात् योग मे वाधक हैं।

जैसे रोग आदि की स्थिति चित्त मे विक्षेप, व्यथा, वेचैनी उत्पन्न कर देती है वैसे ही स्त्यानादि अन्तराय भी योग के विभिन्न स्तरो पर योगानुष्ठाता के सामने आते रहते हैं और चित्त को विक्षिप्त कर योगमार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। इसीलिये इन विक्षेपो को योग के मल, अन्तराय अथवा प्रतिपक्षी कहा जाता है। इनमे से प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार है—

व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् ॥८॥

धातु, रस और इन्द्रियो की विषमता को 'व्याधि' कहते हैं।

शरीर के रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओ तथा वात, पित्त और कफ इन तीन प्रकार के दोषो मे विषमता–विकार आ जाने से जो ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं वे व्याधि कहाते हैं। खाये-पिये अन्न जल आदि का परिपाक 'रस' कहाता है। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियो की दुर्वलता आदि भी व्याधि मे परिगणित हैं। देह तथा इन्द्रियो के रोग चित्त को व्याकुल करते रहने के कारण योगप्रवृत्ति मे बाधक रहते हैं। रुग्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न सम्यक् नही हो सकता। अत महाभारत (शान्तिपर्व २७४-८) मे योगाभ्यासी को 'उपद्रवास्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्' हित, जीर्ण और मित आहार के द्वारा शरीर को रोगो और उपद्रवो से दूर रखने का निर्देश

किया गया है। व्याधि के नाश के लिए यह प्रकृष्ट उपाय है ॥८॥

स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य ॥९॥

चित्त की अकर्मण्यता 'स्त्यान' है।

कर्त्तव्यज्ञान रहने अथवा इच्छा एव लाभ की सम्भावना का ज्ञान होने पर भी चचलता के कारण अकर्मण्य बने रहने अर्थात् चित्त को कार्य मे प्रवृत्त न करने या रुचि न लेने को 'स्त्यान' कहते हैं। अप्रीतिकर होने पर भी प्रयत्न करने रहने से स्त्यान हट जाता है ॥९॥

उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं सशय ॥१०॥

उभयदिक्स्पर्शी विज्ञान 'संशय' कहाता है।

'यह ऐसा है या ऐसा नही है'–इस प्रकार जिस पदार्थ का निश्चय करना चाहे उसका निश्चय न होना 'संशय' कहाता है। योगानुष्ठान व उसके फल के विषय मे सन्दिग्ध रहना, यह अनिश्चितता या दोलायमान स्थिति योग मे बाधक है। अत्यन्त दृढता और वीर्यपूर्ण प्रयत्न के बिना योग की सिद्धि नही हो सकती। सशय के रहते ऐसा प्रयत्न सम्भव नही। श्रवण और मनन के द्वारा तथा आप्त पुरुषो के सहवास से सशय दूर होता है ॥१०॥

प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् ॥११॥

समाधि के साधनो मे भावना का अभाव 'प्रमाद' है।

जानते हुए भी समाधि के साधक योगागों के ग्रहण मे प्रीति न करना तथा उनके अनुष्ठान मे उपेक्षा करना 'प्रमाद' कहाता है। प्रमाद का प्रतिपक्ष स्मृति है। मुण्डकोपनिषद् (३-२-२) मे कहा–'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्'–प्रमादी को ब्रह्म की प्राप्ति नही होती। महात्मा बुद्ध ने भी 'धम्मपद' (अप्रमादवर्ग १) मे कहा–'अप्रमाद अमृतपद और प्रमाद मृत्युपद है ॥११॥

कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम् ॥१२॥

शरीर तथा चित्त की गुरुतावश अप्रवृत्ति 'आलस्य' है।

अनुष्ठान मे रुचि और सामर्थ्य होने पर भी देहादि की क्रिया द्वारा उसमे न लगना अथवा मनोयोगपूर्वक कर्तव्य मे प्रवृत्त न होना 'आलस्य' कहाता है। कफ आदि दोषो से देह का भारीपन तथा तमोगुण के प्राधान्य से चित्त का भारीपन ध्यान मे बाधक बनते हैं।

'स्त्यान' में चित्त अवश होकर इधर-उधर घूमता है। अतएव साधन कार्य मे उसका प्रयोग नही हो पाता। चैत्तिक आलस्य मे चित्त तमोगुण के प्राबल्य

से स्तब्धवत् रहता है। यही दोनो मे भेद है। मिताहार तथा उद्योग के द्वारा आलस्य पराभूत होता है ॥१२॥

अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्द्ध ॥१३॥

विषय सेवन मे तृष्णा का होना 'अविरति' है।

सासारिक विषयो की ओर से विरक्ति का न होना अर्थात् रूप-रस आदि विषयो मे तृष्णा का अनवरत बने रहना 'अविरति' कहाती है। इससे योग-साधनो मे प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। 'काम सकल्पवर्जनात्' (शा. प २७४-५)—वैषयिक सकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से 'अविरति' नष्ट हो जाती है ॥१३॥

विपर्ययज्ञान भ्रान्तिदर्शनम् ॥१४॥

विपरीत ज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' है।

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना यथार्थदर्शन है। इसके विपरीत जानना, जैसे जड मे चेतन और चेतन मे जड बुद्धि करना अथवा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर मे ईश्वर की भावना करके उसकी पूजा करना आदि 'भ्रान्तिदर्शन' है। इसी प्रकार योग—विषयक यथार्थता को अन्यथा समझना, गुरू द्वारा बताये मार्ग को ठीक न मानना, अथवा योग की प्रारम्भिक सफलता मे जो विविध दृश्य दिखाई देते हैं उन्हे पूरी सफलता समझ बैठना भी भ्रान्ति-दर्शन है। कुछ लोग दूर-दर्शन, दूरश्रवण, भविष्य कथन, धरती के भीतर बन्द कोठरी मे रहने आदि की सिद्धियां प्राप्त होने पर उन्हे प्रकृत योग समझ लेते हैं। आहार, निद्रा, भय, क्रोध आदि के वशीभूत होकर भी अपने को जीवन्मुक्त समझते हैं। ये सब भ्रान्तिदर्शन के ही विविधरूप हैं। ईश्वर और गुरू के प्रति भक्ति और श्रद्धा भाव रखते हुए योगशास्त्र के अध्ययन तथा उसके अनुसार अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्तिदर्शन हट जाता है ॥१४॥

अलब्धभूमिकत्व समाधिभूमेरलाभः ॥१५॥

समाधि भूमि का उपलब्ध न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है।

योगी का परम लक्ष्य कैवल्य प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति का मार्ग बहुत लम्बा है। इस मार्ग मे चार मुख्य स्तर (पडाव) आते हैं। क्रमपूर्वक होने वाले योग की सफलता के ये स्तर योगभूमि—योग की अवस्था कहाते हैं। इनके नाम हैं—मधुमति मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तिभावनीय। योगानुष्ठान करते हुए उसकी सफलता के किसी स्तर—भूमि का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' कहाता है। ऐसी अवस्था मे अनुष्ठाता निराश होकर योगमार्ग को छोड देता है ॥१५॥

लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठानवस्थितत्त्वम् ।।१६।।

भूमि (योग की सफलता के किसी स्तर को) प्राप्त कर लेने पर भी चित्त का अवस्थित न होना 'अनवस्थितत्त्व' है ।

किसी समाधिभूमि की सफलता पर जब अनुष्ठाता को यह अनुभव होता है कि यहां पहुँचने पर भी चित्तवृत्तियो का निरोध नही हुआ है, वह समय-समय पर उभरती और व्यथित करती रहती हैं तो निराश होकर वह सोचने लगता है कि योग आदि सब मिथ्या है । योगविषयक सफलता मिलने पर भी जब वृत्तियाँ पराभूत न हो दु खी कर रही हैं तो इसका क्या लाभ है ? वह आगे प्रयत्न छोड बैठता है । वास्तव मे चित्तवृत्तियो का पूर्ण निरोध तभी होता है जब अनुष्ठाता समाधि की अन्तिम सीढी पर पहुँच जाता है । प्रारम्भिक अथवा मध्यवर्ती सिद्धिया चित्तवृत्तियो का पूर्ण निरोध करने मे समर्थ नही होती ।।१६।।

इन अन्तरायो–विक्षेपो के और भी अनेक साथी हैं जो अवसर पाकर इन्हे सहारा देते और योगानुष्ठान मे बाधा डालने के लिये उठ खडे होते है । वे हैं—

दु खदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुव ।।१७।।

दु ख, दौर्मनस्य, अगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये विक्षेपो के साथ-साथ उभरने वाले (विघ्न) हैं ।

अपने प्रतिकूल प्रतीति का नाम 'दु ख' है जिससे उद्विग्न होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते रहते हैं । आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से वह तीन प्रकार का प्रसिद्ध है । किसी भी प्रकार के दु ख से चित्त विचलित होकर योगानुष्ठान मे सहयोगी नही रहता ।

इच्छा के अभिघात होने से चित्त का क्षोभ 'दौर्मनस्य' कहाता है । किसी भी कारण जब चित्त उद्विग्न तथा खिन्न हो जाता है तो वह योगानुष्ठान में प्रवृत्त नही हो पाता ।

देह के अगो का हिलना डुलना 'अगमेजयत्व' है । योगानुष्ठान के लिये आवश्यक है कि मनुष्य पर्याप्त समय तक निश्चेष्ट बैठा रह सके । रोग, चोट, मक्खी-मच्छर के आघात आदि के कारण शरीर या उसके अगो का हिलना डुलना योगाभ्यास मे बाधक होता है ।

साधक की इच्छा न होते हुए भी यदि परिस्थितिवश 'श्वास' (वायु को बाहर से भीतर लेना) लेना पडे तो अभ्यासी के अनुकूल नही । यह रेचक प्राणायाम का प्रतिबन्धी है । प्राय धूल, धुआँ, दुर्गन्ध आदि के कारण ऐसा होता है । अत. योगाभ्यास के लिये ग्राम–नगर से दूर एकान्त स्थान ही उपयुक्त होता है–ऐसा स्थान जहां सर्वथा शुद्ध वायु हो ।

वायु को अन्दर से बाहर फेंकना 'प्रश्वास' कहाता है । इच्छा न होते हुए यदि ऐसा करना पडे तो वह भी बाधक होगा । कुम्भक प्राणायाम इसका प्रतिबन्धी है ।

ये दु:ख आदि विघ्न उसी समय सताते है जब साधक पूर्वोक्त व्याधि आदि से अभिभूत होने से विक्षिप्तचित्त होता है। इसी कारण इन्हे 'विक्षेप सहभू' कहते हैं ॥१७॥

अब इन समस्त अन्तरायो (विक्षेपो तथा उनके सहयोगियो) के नाश का उपाय कहते हैं—

उपासनायोगाङ्गानुष्ठानादन्तरायाभाव ॥१८॥

उपासनायोग के अगो का अनुष्ठान करने मे अन्तरायो का नाश हो जाता है।

योगागानुष्ठान का अर्थ है–ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म और उसका सचित सस्कार नष्ट होता है। इस प्रकार योगागो के अनुष्ठान से चित्त के अविद्या आदि क्लेशरूप मलो का नाश हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। निर्मल चित्त व्यक्ति ही नित्यपवित्र परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र होने से उसकी उपासना का अधिकारी है। जैसे-जैसे योग के अगो पर योगी का आचरण बढता जाता है वैसे-वैसे उसके चित्तविक्षेप क्षीण होते जाते हैं ॥१८॥

अब योगाङ्गो का अवधारण करते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि ॥१९॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये आठ योग के अग हैं।

महाभारत (शा प ३१६-७) मे भी कहा है–'वेदेषु चाष्टगुणिन योगमाहुर्मनीषिण' अर्थात् मनीषी वेदो मे (वेदानुकूल) योग को अष्टाग कहते है। चित्तवृत्तिरूप योग की सिद्धि के लिये वैराग्य और अभ्यास मुख्य साधन हैं। वैराग्य और अभ्यास का अनुष्ठान यमनियमादि के पालन से ही सभव है। इन आठ अगो मे अन्य सभी भाव तथा साधनो का अन्तर्भाव है।

'यम' पद 'यम् उपरमे' धातु से सिद्ध होता है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है बाह्य विषयो की ओर से अपने आपको निवृत्त करना अर्थात् अपने आपको सयत और नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार मे व्यक्ति के लिये जिन निर्देशक सिद्धान्तो का पालन करना आवश्यक है वे 'यम' के अन्तर्गत हैं। जिन कार्यो व भावनाओ को केवल व्यक्तिगत जीवन मे निभाना होता है वे नियमो मे परिगणित हैं। आत्मा मे योग बीज बोने के लिए यम-नियमो के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। यम-नियम का पूर्णतया पालन किये बिना चरित्र निर्माण असम्भव है और चरित्र निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन मे यम-नियम का व्यवहार नही वे तथा-

कथित योगी केवल आत्मवचक एवं जगवचक ही हैं।

पूर्ण आस्था के साथ यमनियमो का पालन करने पर भी जव तक 'आसन' सिद्ध नहीं होता तव तक योग क्रियाओ व साधनो का सुविधापूर्वक अनुष्ठान नही हो पाता। अत तीसरा अग 'आसन' है। कियाओ के यथार्थ अनुष्ठान के लिए 'प्राण' का परिष्कार भी आवश्यक है जो प्राणायाम के द्वारा होता है। देह और प्राण दोनो के परिष्कृत हो जाने पर वाह्य इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयो से असम्पृक्त रहकर चित्त के अनुरूप जैसी हो जाती हैं। योग का यह स्तर 'प्रत्याहार' (प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय से आहरण) कहाता है। इसके आगे चित्त का उपयोग यथाशक्ति उन क्रियाओ के अनुष्ठान के लिये होता है जो समाधि प्राप्ति का प्रारम्भिक स्तर है। यह 'धारणा' और उसी का परिष्कृत रूप 'ध्यान' है। ये दोनो 'समाधि' के ही आन्तर अग हैं ॥१६॥

अव यथाक्रम आठो अगो के स्वरूप आदि का निर्देश करते हैं। सवसे पहले यमो का निरूपण करते हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ॥२०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह–ये पांच 'यम' हैं ॥२०॥

इनमे से प्रत्येक का लक्षण और उसके अनुष्ठान से होने वाले फल का कथन करते हैं—

अहिंसा सवभूतानामनभिद्रोहः ॥२१॥

सव भूतो के प्रति अनभिद्रोह अहिंसा है।

सव प्रकार से सत्र काल मे सव प्राणियो के साथ वैर छोड़कर प्रीतिपूर्वक वर्तना 'अहिंसा' है। मनसा, वाचा, कमणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नही अपितु उसकी भावना का भी मन मे न आने देना अहिंसा है। इस प्रकार किसी-के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त मे उभरने देना भी हिंसा है।

सत्य आदि अन्य सभी यमनियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसा सिद्धि के हेतु ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने मे ही उनका साफल्य है। यमनियमो मे अहिंसा के प्राधान्य का उल्लेख करने के लिये आचार्य पचशिख ने कहा–"स खल्वय व्राह्मणो यथा व्रतानि वहूनि नमादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसा करोति"। अर्थात् व्रह्मवित् जैसे-जैसे व्रतो का अनुष्ठान करते हैं वैसे-वैसे (उन व्रतो द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्मों से हटते हुए अहिंसा को निर्मल कर देते हैं अर्थात् व्रह्मवित् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल वना देते हैं ॥२१॥

अहिंसा धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति की क्या पहचान है ?

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२२॥

अहिंसा व्रत मे पूर्ण परिपाक हो जाने पर उसके सामीप्य मे प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जिस प्रकार मैस्मेरिज़म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यो तथा पशुपक्षियो को वश मे कर अपना अनुगामी बना लिया जाता है उसी प्रकार जिन योगियो की इच्छाशक्ति इतनी प्रवल हो चुकी होती है कि वे उसके द्वारा स्वप्रकृति से हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते है उनकी सन्निधि मे अन्य प्राणी उनके मनोभाव से भावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। जव योगी अहिंसा धर्म मे दृढ हो जाता है तो मन, वचन, कर्म द्वारा किसी भी रूप मे उसके चित्त मे हिंसा की भावना नही उभरती। उस अवस्था मे उसकी सगति मे, सामान्य विरोध की तो वात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी वैरभाव छोड देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्ध ऋषि मुनियो के आश्रमो मे सिंह और गाय एक साथ खाते, पीते व रहते तथा साप नेवला एक साथ खेलते देखे सुने जाते हैं ॥२२॥

अव सत्य का लक्षण ओर उसकी सिद्धि का चिन्ह कथन करते है—

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसी ॥२३॥

यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य हैं।

जो विषय प्रमित हुआ है चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान मे हो वैसा मानना, कहना और करना 'सत्य' कहाता है। छल प्रपच या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य (नरो वा कुजरो वा) भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के भी अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियो के भले के लिये हो। सत्यसाधन मे मितभाषी होना सहायक होता है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' मे रघुकुल के लोगो के गुणो की चर्चा करते हुए लिखा—'सत्याय मितभाषिणाम्'—सत्यनिष्ठ होने के लिये वे मितभाषी होते थे। अधिक वोलने मे वाणी से अनेक असत्य वाक्य निकल जाते हैं। इसलिये मन को सत्य-प्रवण करने मे काव्य, कहानी, उपन्यास आदि काल्पनिक विषयो से विरक्त होना पडता है ॥२३॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२४॥

सत्य के प्रतिष्ठित होने पर (वाक्य) क्रियाफल के आश्रयत्व गुणो से युक्त होता है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न होता है। जिसके वाक्य तथा मन सदा यथार्थविषयक होते हैं उसकी वाक्यवाहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नाटिजम

(कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग आदि दूर हो जाते हैं उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन मे उत्पन्न हो सरल सत्य वाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के हृदय पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन मे उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल हो जाते है। इस प्रक्रिया के अनुसार यदि योगी किसी पापी को कहदे– 'तू धार्मिक हो जा' तो वह निश्चय ही धार्मिक हो जाता है अर्थात् अधर्म के मार्ग को छोडकर धर्म में प्रवृत्त हो जाता है। वस्तुत सत्यप्रतिष्ठ योगी उसी बात को कहता है जो यथार्थ मे हो सकती है। सदा सत्य का उच्चारण करने की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नही। इसलिये उसका कहा कभी व्यर्थ नही जाता। सत्यप्रतिष्ठ योगी अपनी क्षमता के बहिर्भूत अथवा असम्भव सकल्प नही करता 'जल, तू मिट्टी होजा' ऐसा वाक्य सत्य-प्रतिष्ठा द्वारा सिद्ध नही हो सकता ॥२४॥

'अस्तेय' का लक्षण करके उससे प्राप्त होने वाली सिद्धि का निर्देश करते हैं—

परद्रव्येष्वस्पृहारूपमस्तेयम् ॥२५॥

पराये पदार्थो मे इच्छा का न होना 'अस्तेय' है।

जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य है उसका ग्रहण अथवा जो निजस्व नही उसका उसके स्वामी की अनुमति के विना ग्रहण करना 'स्तेय' है। ऐसे पदार्थ के विषय मे जो निस्पृह होने का भावविशेष है, वही अस्तेय है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह ग्राह्य नहीं हो जाता क्योकि निश्चय ही वह निजस्व न होकर परस्व है। श्रुति का स्पष्ट आदेश है–'मा गृध कस्य स्विद्धनम्' (यजु ४०-१) अर्थात् जिस द्रव्य पर किसी दूसरे का अधिकार है उसे, ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की लालसा भी न कर। लालसा ही आगे चल कर स्तेय का रूप धारण कर लेती है। इस सबका पूर्ण त्याग ही अस्तेय है ॥२५॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥२६॥

अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने से सब रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

चोरी की भावना का परित्याग हो जाने पर वस्तुओ के लोभ और सग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था मे योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है। तब जिस वस्तु को भी वह चाहता है, सकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है। कहीं भी चला जाये उसे किसी वस्तु का अभाव नही होता। इस प्रकार दूसरो का स्वत्वाधिकार होने पर भी सब प्रकार की सम्पदाओ का यथेच्छ उपभोगाधिकार मिल जाने से सब कुछ उसी का हो जाता है। यही सिद्धास्तेय

योगी के पास सब रत्नो का उपस्थित होना है और यही उसकी सिद्धि का चिन्ह है ।।२६।।

अब क्रमप्राप्त ब्रह्मचर्य का लक्षण तथा फल बताते हैं—

जितेन्द्रियत्वं ब्रह्मचर्यम् ।।२७।।

इन्द्रियो का सयम ब्रह्मचर्य है ।

मात्र उपस्थसयम ब्रह्मचर्य नही कहाता । पूर्णरूप से वीर्य रक्षा के साथ अन्य समस्त इन्द्रियो को सयत कर विषयो मे निर्वाध रूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है । यदि चक्षु आदि इन्द्रियो को खुला छोड दिया जाये तो ये सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं । अत किसी भी इन्द्रिय की अपने विषय मे आसक्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्य पालन के लिये अनिवार्य है । मुण्डकोपनिषद् (३-१-५) मे कहा–'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' । ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले को आत्मसाक्षात्कार कभी नही होता । यह पथ अत्यन्त दुर्गम है । पूर्ण सयमी पुरुष ही इसको पार करने में सफल हो पाता है । इस साधना में लगे व्यक्ति को सावधान करने के लिये मनुस्मृति (२-८८,९३) मे लिखा है—

इन्द्रियाणां विचरता विषयेष्वपहारिषु ।
सयम्य यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ।।
इन्द्रियाणा प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव तत सिद्धि नियच्छति ।।

जैसे सारथी घोडो को नियम मे रखता है वैसे ही विद्वान् मन और आत्मा को खोटे कामो मे खीचने वाले विषयो मे विचरती हुई इन्द्रियो को यत्न पूर्वक नियन्त्रण मे रक्खे । क्योकि इन्द्रियो के वश मे होके जीवात्मा बडे-बडे दोषो को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियो को अपने वश मे कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

ऐसा अवसर ही न आने पाये—इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि—

स्मरण कीर्त्तनं केलि प्रेक्षण गुह्यभाषणम् ।
संकल्पो ऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्ति मनीषिण ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेय मुमुक्षुभि ।।

ब्रह्मचर्य साधन मे रत व्यक्ति को आठो प्रकार के मैथुन से बचना चाहिये ।

स्त्री (पुरुष) का एकान्त दर्शन, स्पर्शन, सेवन, विषयकथा, भाषण, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और सग—ये आठ प्रकार का मैथुन है ।

इस सन्दर्भ मे गीता (६-१६,१७) के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

नात्यश्नतस्तु योगो ऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु.खहा ॥

अतिशय खाने वाले या बिल्कुल न खाने वाले और खूब सोने वाले या जागरण करने वाले को योग सिद्ध नही होता । जिसका आहार विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना जागना परिमित है उसी को यह योग दु खनाशक अर्थात् सुखावह होता है ॥२७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥२८॥

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने पर वीर्य—दैहिक आत्मिक शक्ति का लाभ होता है।

जीवन का उद्देश्य है—अभ्युदय और नि श्रेयस् की सिद्धि । एतदर्थ सर्वोत्तम साधन है—निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन । ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है—चित्त मे कामवासनाओ को न उभरने देना । न चाहते हुए भी जिस चीज़ से बलपूर्वक प्रेरित होकर मनुष्य पाप कर डालता है वह काम का उद्दाम वेग है । 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'—कामान्ध व्यक्ति की कामवासना पूरी होने मे बाधा आ जाने पर, रजोगुण की प्रवलता होने से, वही काम क्रोध मे परिणत हो जाता है । फिर—

क्रोधात्भवति समोह संमोहात् स्मृतिविभ्रम ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥—गीता २-६३॥

इस प्रकार कभी तृप्त न होने वाला यह कामानल मनुष्य को भस्म कर डालता है । ऐसे दुर्दान्त शत्रु-काम का समूल उन्मूलन निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यपालन से ही सभव है । इतिहास साक्षी है कि साधको को योगभ्रष्ट करने मे सबसे बडा हाथ इसी का रहा है । अत. योगमार्ग को निष्कण्टक बनाने के लिये ब्रह्मचर्य पालन ही सर्वोत्तम उपाय है ॥२८॥

अन्त मे अपरिग्रह का स्वरूप प्रस्तुत कर उसके अनुष्ठान से होने वाले फल का निर्देश करते हैं—

देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः ॥२९॥

देह रक्षा के लिये आवश्यक भोग्य पदार्थों के अतिरिक्त वस्तुओ का सग्रह न करना 'अपरिग्रह' है ।

विषय के अर्जन, रक्षण, क्षय, सग और हिंसा से दु ख होता है । इन सब दु खो को देख समझ कर दु खो से मुक्ति चाहने वाले विषयो को ग्रहण नही करते और 'त्यागेनैके ऽमृतत्वमानशु' (तै. आरण्यक १०-१०) त्याग के द्वारा मुक्ति का आनन्द भोगते हैं । प्राणधारण के लिये भोजन, शरीर ढापने के लिये वस्त्र, सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचने के लिये मकान आवश्यक हैं । परन्तु इन

आवश्यकताओ की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रो और सादे ढग से बने छोटे मकान से हो जाती है। असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और आलीशान बगले 'परिग्रह' की कोटि मे आ जाते है। योगी के लिये अपरिग्रह पर इतना बल इसलिये दिया गया है कि यदि वह अनावश्यक सग्रह मे लगा रहा तो उसकी वृत्तिया तो बहुर्मुखी होगी ही, उसका सारा जीवन भी इसी मे पूरा हो जायेगा। योगसाधना के लिये फिर अवसर कहा ?

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आशिक पालन सद्गृहस्थो द्वारा किया जाना वाछनीय है। इसके अभाव मे उपभोग्य सामग्री का कुछेक स्थानो पर जमा होना सभव है। परिणामत साधारण जनता के लिये खुले व्यवहार मे कमी हो जाना अवश्यम्भावी है। इससे समाज मे विषमता एव तज्जन्य असन्तोष का कारण विश्रृखलता फैलना स्वाभाविक है। सामाजिक दृष्टि से तो—

यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्व हि देहिन॰।
अधिक यो ऽभिमन्येत स स्तेन दण्डमर्हति ॥

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय एव दण्डनीय अपराध है। ऐसे व्यक्तियो मे परदु खकातरता एव सहानुभूति का अभाव होता है। बहुत द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ मे न लगाना स्वार्थपरता है। 'त्यागाय सभृतार्थानाम्' (रघुवश)-रघुवशी त्याग के लिये ही सग्रह करते थे। 'आदान हि विसर्गाय सता वारिमुचामिव'—बादलो की भाति उनका लेना भी देने के लिये होता था। इन गुणो के कारण वे 'योगेनान्ते तनूत्यजाम्' अन्त मे योगावस्था मे ही प्राणो का विसर्जन करते थे। योगी का लक्ष्य नि स्वार्थपरता की चरम सीमा है। अत जीवन यापन के लिये नितान्त आवश्यक भोग्य वस्तुओ के अतिरिक्त कुछ भी परिग्रह करना उसकी योगसिद्धि मे बाधक है ॥२९॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥३०॥

अपरिग्रह सिद्ध हो जाने पर जन्म के कथ भाव का ज्ञान होता है।

भोग्य पदार्थों का आवश्यकता से अधिक सचय करना 'परिग्रह' है। परिग्रह स्वय मे दु ख का कारण है।

क्योकि—

अर्थानामर्जन दु खमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख धिगर्थान् कष्टसश्रयान् ॥

धन के अर्जन मे दु ख, अर्जित सम्पत्ति की रक्षा करने मे दु ख, आय मे दु ख, व्यय मे दु ख। जिस अर्थ के कारण पग-पग पर कष्ट पहुचे, उसे धिक्कार है। जब ऐश्वर्य उपलब्ध होता है तो स्वभावत उसके भोग मे प्रवृत्ति होती है। तब इन्द्रिया विषयो की ओर भागती हैं। और—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।। मनु० २-९४

काम के उपभोग से काम शान्त नही होता । अपितु जैसे घी डालने से अग्नि बढती है वैसे ही इच्छाओ की पूर्ति होने पर उनमे वृद्धि होती जाती है।

अन्यत्र कहा है–'भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागा कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' । इतना ही नही, 'नानुपहत्य भूतानि उपभोग सम्भवति'–भोगो मे प्रवृत्त होने पर हिंसा की भावना भडकती है।

कालान्तर मे अपरिग्रह के अभ्यास मे, भोग्य विषय मे तुच्छताज्ञान होने पर, शरीर भी परिग्रह स्वरूप है, ऐसा जान पडता है । देह को स्वच्छ, स्वस्थ तथा नीरोग रखने के लिए अपेक्षित दिनचर्या की उपेक्षा करके जब मनुष्य इसके वाह्यरूप को सजाने सवारने मे लग जाता है तब वह देहविषयक परिग्रह का दोषी होता है । जब विषय और शरीर मे मन का अलगाव होता है और मनुष्य विषयासक्ति को छोड जितेन्द्रिय होता है तब उसे जन्मकथन्ता सम्बोध अर्थात् जन्मविषयक ज्ञान होता है । विषय तथा शरीर का घनिष्टताजनित मोह ही पूर्वापर ज्ञान का प्रतिबन्धक है । शरीर को सम्यक् स्थिर तथा निश्चेष्ट करने पर जिस प्रकार दूरदर्शनादि ज्ञान होते हैं उसी प्रकार भोग्यविषय के साथ शरीर भी 'परिग्रह' है–ऐसी ख्याति होने पर आत्मा के पृथक्त्व का बोध तथा शरीर मोह से ऊपर उठ जाने के कारण मनुष्य सोचने लगता है–'जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? मैं कहा से आया हूँ और क्यो आया हूँ ? पूर्वजन्म मे क्या था ? आगे क्या होगा ? क्या करने से मेरा कल्याण होगा ?' इत्यादि । इस प्रकार भौतिक पदार्थों के प्रति 'स्वोभाव' उत्पन्न होने से परिग्रह से निवृत्ति होकर अपरिगह के स्थिर होने पर जन्मविषयक समस्याओ तथा उनके समाधान का साक्षात्कार होता है ।।३०।।

अगला सूत्र अहिंसा आदि यमो का महत्व वताने के लिये कहा है—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।३१।।

ये यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सार्वभौम महाव्रत हैं ।

अहिंसा आदि यमो का सदा सर्वत्र यावज्जीवन पालन किया जाना चाहिये। किसी भी अवस्था मे अपवादस्वरूप इनके अनुष्ठान मे शैथिल्य अथवा स्थगन अपेक्षित या वाछनीय नही है । परन्तु सामान्यजन समाज, वातावरण तथा अन्य वाधाओ से अभिभूत होकर आवश्यकतानुसार उन्हे जाति, देश, काल, शपथ व प्रतिज्ञा तथा सुनिर्धारित नियम आदि से सीमित कर लेते हैं ।

मछियारे द्वारा मछली मारने तक अपनी हिंसा को सीमित कर अन्य जाति (प्राणी) की हिंसा न करना जात्यवच्छिन्न अहिंसा है । तीर्थस्थान मे हिंसा न

करना देशावच्छिन्न (देशविशेष मे सीमित) अहिंसा है। पूर्णमासी या एकादशी के दिन हिंसा न करना कालावच्छिन्न अहिंसा है। किसी प्रयोजन विशेप विषयक प्रतिज्ञा या शपथ को छोड अन्यत्र अहिंसक रहना समयावच्छिन्न अहिंसा है। इसके विपरीत कभी, कही, किसी भी कारण से, किसी की भी हिंसा न करना जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न अहिंसा है। इसी प्रकार केवल गौ ब्राह्मणो की रक्षार्थ अनत्यभापण को छोड अन्यथा असत्याचरण न करना जात्यवच्छिन्न सत्य, अन्यत्र असत्यभाषण करते रहने पर भी धर्मस्थान मे असत्य न वोलना देशावच्छिन्न सत्य, अमावस्या चतुर्दशी आदि के दिन सत्य वोलना कालावच्छिन्न सत्य तथा प्रयोजन विशेष के निमित्त ही असत्याचरण करना, अन्यथा नही, समयावच्छिन्न सत्य है। इमके विपरीत कभी, कही, किसी कारण, किसी के भी निमित्त असत्याचरण न करना जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न सत्य है। इसी प्रकार शेष यमो के विपय मे भी अवच्छेद तथा अनवच्छेद का भेद जानना चाहिये।

यद्यपि यमो का पालन करना मनुष्यमात्र के लिये श्रेयस्कर है, योगमार्ग पर चलने वाले के लिये उनका अनुष्ठान अनिवार्य है। साधारण गृहस्थो के लिए विशेप परिस्थितियो मे आंशिक छूट मिल भी जाये तो भी सन्यासी, यती अथवा योगपथ के पथिक के लिये ये सार्वभौम महाव्रत हैं। अत उनके लिये उनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य ॥३१॥

'यम' के निरूपण के अनन्तर योग के द्वितीय अङ्ग 'नियम' का उल्लेख करते हैं—

शौचसन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ॥३२॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पाच नियम है ॥३२॥

अब क्रमश प्रत्येक नियम का लक्षण और उसके अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले फल या सिद्धि का निर्देश करते हैं—

बाह्याभ्यन्तरपावित्र्यं शौचम् ॥३३॥

वाह्य तथा आभ्यन्तर पवित्रता का नाम शौच है।

'शौच' पद का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर अथवा शारीरिक और मानसिक। इसमे मनुस्मृति (५-१०६) का प्रमाण है—

> अद्‌भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मन. सत्येन शुध्यति।
> विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

जल से शरीर के वाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मानुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थो के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है।

जल आदि से शरीर, वस्त्र तथा आवास को शुद्ध रखना वाह्य शौच है।

मद, मान, मात्सर्य, असूया, राग, द्वेष, आदि चित्तमलो का प्रक्षालन करके मन को स्वच्छ करना आभ्यन्तर शौच है। अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगाभ्यास मे अपेक्षित कर्मण्यता मे शून्य होता है। अत दोनो प्रकार का शौच समान रूप से आवश्यक है।

शरीर और मन दोनो की शुद्धि मे आहार का महत्वपूर्ण स्थान है। अमेध्य आहार द्वारा शरीर मे अशुचि जाने से शरीर ही दूषित नही होता, मन में मलिन भाव भी उभरते हैं। सडे-गले, दुर्गन्धित, मादक तथा अस्वाभाविक रूप से शरीर यन्त्र के लिये उत्तेजक पदार्थ अमेध्य कहे जाते हैं। मादक द्रव्य के सेवन से चित्त मे स्थिरता कदापि नही आ सकती। ऐसे द्रव्य उसके वशीकरण मे वाधक होने से योग के शत्रु हैं। चरक (चिकित्सास्थान २४-५२, ५३) में ठीक ही कहा है—

> प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम्।
> मन समाधौ तत्सर्वमायत्त सर्वदेहिनाम्॥
> मद्येन मनश्चायं संक्षोभ क्रियते महान्।
> श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्वा मद्यलालसा॥

अर्थात् परलोक और इहलोक मे जो हितकर तथा परम श्रेय है वह सव देही को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है। परन्तु मद्य से मन मे अत्यन्त क्षोभ हो जाता है। अत. मद्य से जो अन्वा है तथा मद्य मे जिसकी लालसा है उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता॥३३॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥३४॥

शौच से अपने शरीर मे जुगुप्सा—घृणा का भाव तथा पर के साथ ससर्ग से विरक्ति होती है।

जल, मिट्टी तथा विशिष्ट यौगिक क्रियाओ द्वारा शरीर की शुद्धि का निरतर प्रयत्न करते रहने पर भी जव योगाभ्यासी शरीर को अशुद्ध ही पाता है तो स्वभावत उसमे अनासक्ति एव उपेक्षा के भाव उदय होते हैं। ऐसे काय-दोषदर्शी की शरीरमात्र मे प्रीति न रहने से अन्य व्यक्तियो के साथ ससर्ग की भी इच्छा नहीं रहती। जव वह शरीर और अगो की रचना के विषय मे चिन्तन करता है तो श्री शंकराचार्य के शब्दो मे उसे 'त्वङ्मासरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसकुल' तथा 'मूत्रपुरीषाभ्या' पूर्ण पाता है और अन्त मे निश्चय कर डालता है—'रजस्वलमनित्य च भूतवासमिम त्यजेत्'॥३४॥

अगले सूत्र द्वारा शौचस्थैर्य का एक और लाभ वताते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वसिद्धिश्च ॥३५॥

सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रिय विजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है। अन्यो के साथ ससर्ग न रहने से ससर्गजनित अनेक दोष दूर हो जाते हैं। तब चित्त की शुद्धि की ओर अग्रसर होने पर राग, द्वेष, क्रोध, असूया आदि मलो के प्रक्षालन से सत्त्वशुद्धि अर्थात् मन की निर्मलता होती है। अन्त करण की निर्मलता अर्थात् सत्त्वशुद्धि से सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति का लाभ होता है। सौमनस्य से प्रणवादि के जप तथा ध्यान मे एकाग्रता आती है। एकाग्रता के कारण विषयो मे इतस्तत विचरण करने वाली इन्द्रियाँ बँध सी जाती हैं। इन्द्रियो के विषय से विरत हो जाने पर आत्मदर्शन सुलभ हो जाता है ॥३५॥

सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा सन्तोष. ॥३६॥

सन्निहित साधन से अधिक साधन के ग्रहणो मे इच्छा न होना सन्तोष है।

जीवन निर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हो उनमे प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कहाता है। "अजगर करे न चाकरी पछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाताराम'—ऐसा सोच कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना सन्तोष नही, अकर्मण्यता है। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थ सचय मे प्रवृत्त होना निन्दा है। तृष्णा के जाल मे फसा व्यक्ति फिर उससे निकल नही सकता। भर्तृहरि के शब्दो मे 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' मनुष्य का अन्त हो जाने पर भी उसकी तृष्णा बनी रह जाती है। उसका कभी अन्त नही होता।

क्योकि—

> **नि स्वो वष्टि शत शती दशशत लक्ष सहस्राधिपः,**
> **लक्षेश क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्व पुन ।**
> **चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,**
> **ब्रह्मा विष्णुपदं पुन पुनरहो आशावधि को गत ॥**

जिसके पास कुछ नही वह सौ रुपये लेकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु फिर एक हजार चाहने लगता है, एक हज़ार हो जाने पर लखपति बनना चाहता है, लखपति बन जाने पर राजा बनना चाहता है, राजा हो जाने पर चक्रवर्ती सम्राट् बनने की इच्छा करता है, चक्रवर्ती सम्राट् इन्द्र बनने की, इन्द्र ब्रह्मा बनने की और ब्रह्मा विष्णु बनने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार आशा-आकाक्षाओ का अन्त कभी नही होता। महात्मा बुद्ध ने, इसी कारण, तृष्णा को ही समस्त दु खो का मूल कहा है ॥३६॥

सन्तोषात्परम सुखम् ॥३७॥

सतोष से परम सुख मिलता है।

पमस्त दु ख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं। अपनी अपेक्षित और मर्यादित उपलब्धि मे सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति को तृष्णाजन्य दु ख पीडित नही करते। ऐसे ही एक प्रभग मे ययाति ने अपने पुत्र पुरु को कहा था—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
ता तृष्णा सत्यजन् प्राज्ञ. सुखेनैवाभिपूर्यते ॥

दुमति व्यक्तियो के द्वारा जो छोडी नही जा सकती, व्यक्ति के बूढा हो जाने परे भी जिसे बुढापा नही आता, प्रत्युत अग्नि मे घी डाल देने पर अग्नि के समान बढती ही जाती है—ऐसी तृष्णा को छोडता हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अनुपम सुख से भर जाता है। अन्यत्र कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुख शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

जो सुख सतोष रूपी अमृत का पान करने वाले शान्तचित मनुष्यो को प्राप्त है, वह धन के लिये इधर उधर भटकने वालो को कैसे मिल सकता है? वस्तुत "सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्ट यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भू"—जैसे पैर मे जूता पहन लेने वाले के लिये मानो सारी धरती चमडे से ढक जाती जाती है, वैसे ही सन्तुष्ट मन व्यक्ति के लिये सब कही की सम्पदा मानो अपनी हो जाती है।

स्वामी शकराचार्य ने कहा—'तृष्णाक्षय स्वर्गपद किमस्ति' अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग अर्थात् सुखो का घर मिल मया। महाभारत (शा प १७४-४६) मे तो यहा तक कह दिया—

यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत· षोडशीं कलाम् ॥

इहलोक मे काम्य वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् मुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अश के वराबर भी नही है।

सतोप नियम की स्थिरता होने पर योगाभ्यासी आत्मज्ञान के लिये निर्वाध प्रयत्नशील वना रहता है ॥३७॥

धर्मानुष्ठाने द्वन्द्वसहन तपः ॥३८॥

धर्मानुष्ठान मे (सुख-दु खादि) द्वन्द्वो का सहना 'तप' है।

अल्पमात्र दु ख से जो घवराते हैं उनके द्वारा योग सिद्धि की आशा नही। शरीर के कष्टसहिष्णु होने एव शारीरिक सुख के अभाव मे मन विकृत न होने पर ही योगसिद्धि सभव है। इस प्रकार कष्ट के अभ्यस्त होना ही तपस्वी होना

हैं। तप दो प्रकार का होता है—दैहिक और मानसिक। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, चलना-ठहरना, बोलना-मौन रहना आदि द्वन्द्वो का प्रसन्नतापूर्वक सहन करना दैहिक अथवा शारीरिक तप है। सुख-दुःख हानि-लाभ, जय-पराजय, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वो को सहन करना मानसिक तप है।

यह द्वन्द्व सहन तप तभी कहा जायेगा जब वह किसी शुभकार्य के लिये किया जाये। निष्प्रयोजन एक टाग पर खडे रहना, निरन्तर उठाये रख कर हाथ को सुखा देना, चिरकाल तक धूप मे या जल मे खडे रहना आदि तप नही कहाता। धर्मानुष्ठान मे बाधा डालने वाले द्वन्द्वो का सहना ही वास्तविक तप है, व्यर्थ कष्ट सहन करना नही।

केवल काम्यविषय के लिये तपस्या करना योगाग नही कहाता। शतपथ ब्राह्मण (१०-५-४-१५) मे कहा है—'न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वासस्तपस्विन'। विषय सुख के त्याग अर्थात् कष्ट सहन के साथ जिन कर्मों से आपातत सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना तप है। ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिसके द्वारा शरीर धातु की विषमता न होती हो एव जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाता हो।

कायिक, वाचिक और मानस तप के सन्दर्भ मे गीता (१७,१४-१९) के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रियहित च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ॥
मन प्रसाद सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रह।
भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
श्रद्धया परया तप्त तपस्तत्त्रिविध नरैं।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैं सात्त्विक परिचक्षते ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्त राजस चलमध्रुवम् ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥

देवता, वेदज्ञ ब्राह्मण, गुरु एव माता पिता आदि की पूजा, स्वच्छता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप कहाता है।

किसी के मन मे बेचैनी पैदा न करने वाला, सत्य-प्रिय-हितकर वचन, आध्यात्मिक ग्रन्थो का अध्ययन (तथा तदनुकूल आचरण) और कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान वाचिक तप कहाता है।

मन को सदा प्रसन्न रखना, किसी भी अवस्था मे मन को क्षुब्ध न होने

देना, अधिक न बोलना, मन को संयत रखना और समस्त कार्य शुद्ध भावना से करना मानस तप कहाता है।

वाचिक तप के सन्दर्भ मे सत्य, प्रिय और हितकर—तीनो शब्दो का एक साथ प्रयोग मनु के इन वचन को लक्ष्य कर किया गया प्रतीत होता है—"सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रिय च नानृत चैव एष. धर्म सनातन "(मनु-४-१३८) महाभारत (सभापर्व ६३-१७) मे विदुर ने दुर्योधन से कहा है—'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ'। किरातार्जुनीय' मे इस भाव को 'हित मनोहारि च दुर्लभ वच.' कह कर प्रकट किया गया है। फिर भी बुद्धिमान व्यक्ति को 'तस्मात् सत्य वदेत्प्राज्ञो यत्प्रीतिकारणम्' सत्य, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने की ही पूरी चेष्टा करनी चाहिए।

इन तीनो प्रकार के तपो को यदि मनुष्य परम श्रद्धा के साथ फल की आकाक्षा को छोड कर करता है तो वे सात्त्विक कहाते हैं।

जो तप अपने सत्कार, यश और पूजा के लिये अथवा दम्भ से किया जाता है वह राजस कहाता है। और जो मूढ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठा कर दूसरो को पीडा देने के भाव मे किया जाता है वह तामस तप कहाता है ॥३८॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥३९॥

तप के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियो की सिद्धि होती है।

शरीर के सर्वथा स्वस्थ हो जाने का नाम 'कायसिद्धि' और दूरवर्ती तथा निकटवर्ती शब्दादि विषयो के यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति का नाम 'इन्द्रिय-सिद्धि' है। योगानुष्ठान के लिये स्वस्थ, स्वच्छ और नीरोग शरीर का होना नितान्त आवश्यक है। तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने पर शरीर और इन्द्रिया इस प्रकार सध जाते हैं कि उनके द्वारा योगाभ्यास मे किसी प्रकार की बाधा के उपस्थित होने की आशका नही रहती। तपोऽनुष्ठान से शरीर हलका स्फूर्तिमान् तथा निरालस बना रहने से योगाभ्यास मे अधिक समय तक आसीन रहने के लिये अनुकूल रहता है। अपेक्षित विषयो की ओर आकृष्ट न रहना इन्द्रियो की अशुद्धि का क्षय है। विषयो मे विरत होने पर इन्द्रियो की दिव्य शक्ति उभरने लगती है। तब इन्द्रियो की शक्ति विस्तार की ओर बढने लगती है और उन्हे दूर का विषय भी दिखाई देने लगता है ॥३९॥

शास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा स्वाध्याय. ॥४०॥

शास्त्रो (मोक्षविधायक वेदादि ग्रन्थो) का अध्ययन और ओङ्कार का जप 'स्वाध्याय' है।

योगाभ्यास (प्राणायामादि) से अतिरिक्त समय को इधर उधर व्यर्थ न

गवा कर उस समय मे अध्यात्म ग्रन्थो के अध्ययन मे लगाना और नियत समय पर ईश्वर के वाचक ओंकार का जप करना स्वाध्याय कहाता है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिये प्रेरणा मिलती है और दोनो के सयोग से योगी के हृदय मे परमात्मा का प्रकाश होता है ॥४०॥

स्वाध्यायादीश्वरसम्प्रयोग ॥४१॥

स्वाध्याय से परमात्मा के साथ सम्प्रयोग (मिलन या साझा) होता है।

परमात्मा मे मन का स्थित होना स्वाध्यायसिद्धि का चिह्न है। स्वाध्यायस्थैर्य होने पर वहुत समय तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है। परिणामत अनेक वार आकस्मिक रूप से स्वाध्यायी के मस्तिष्क मे अभिलषित अर्थ मानो अवतरित हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई दिव्यात्मा आकर उस अर्थ को वता गया हो। स्वाध्यायशील व्यक्ति का दिव्य पुरुष-परमात्मा से सवन्ध होने से ही ऐसा होता है। इस प्रकार परमेश्वर के अनुग्रह के साहाय्य, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्ति लाभ करता है ॥४१॥

परमात्मन्यात्मन समर्पणमीश्वरप्रणिधानम् ॥४२॥

आत्मा का परमात्मा मे समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है।

तादात्म्यभाव से अपने आप को सर्वात्मना परमात्मा मे अर्पण कर प्रणवजप आदि का निरतर अनुष्ठान करना ईश्वर प्रणिधान कहाता है। वाह्य व्यवहारो से चित्त को हटा कर उठते--वैठते,चलने-फिरते, सोते--जागते, खाते--पीते निज की ईश्वर मे तथा ईश्वर की निज मे भावना कर योगी अपने समस्त कर्मों को ईश्वर मे अर्पण कर देता है। ईश्वरेच्छा मे अपनी इच्छा मानकर कर्म के फल की आकाक्षा को त्यागना ही ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण है। ईश्वर को विस्मृत कर किया गया कर्म सर्वथा अभिमानपूर्वक होता है। अत उसका समर्पण ईश्वर मे नही होता। निज को ईश्वरस्थ जान कर ही भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जागृत होता है। यही भावना द्वारा ईश्वर मे निमग्न होना है ॥४२॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४३॥

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

ईश्वर मे सर्वभावार्पित योगी को समाधिसिद्धि होती है जिसके माध्यम से वह सभी अभिलपित विपयो को—जो देहान्तर, देशान्तर या कालान्तर मे हो चुके है या हो रहे हैं—यथार्थरूप से जान लेता है। अन्यान्य यमनियम दूसरे

प्रकार से समाधिसिद्धि मे सहायक होते हैं। पर ईश्वरप्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक है, क्योकि वह समाधि के अनुकूल भावनास्वरूप है। यही भावना शरीर को निश्चल (आसनस्थ) और इन्द्रियो को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप मे परिपक्व होकर अन्त मे समाधि मे परिणत हो जाती है।

किन्तु यदि ईश्वरप्रणिधान ही समाधिसिद्धि का हेतु है तो अन्य योगाङ्गो की क्या आवश्यकता है ? वस्तुत असयत अनियमित होकर दौडने-फिरने से या विषयजनित विक्षेप काल मे समाधि नही हो सकती। समाधि का अर्थ ही ध्यान की प्रगाढ अवस्था है और ध्यान है धारणा की एकतानता। अत समाधिसिद्धि कहने मे समस्त योगाङ्ग स्वत. कथित हो जाते हैं ॥४३॥

यमनियमो मे से किसी एक के नष्ट हो जाने पर सभी व्रत नष्ट हो जाते है। अत —

यमनियमानुष्ठानमशेषत ॥४४॥

सम्पूर्ण यम-नियमो का अनुष्ठान (करना चाहिये)।

यम-नियमो मे से एक की भी अवहेलना या उपेक्षा योगी को करना उचित नहीं। सभी का समान महत्व है। कूर्मपुराण (२-११-६९,७०) मे लिखा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं दमो तप ।
सन्तोष. सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषत ।
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ॥

ब्रह्मचर्यादि मे से किसी एक का अनुष्ठान न करने पर शेष सभी व्रतो का लोप हो जायेगा। इस सन्दर्भ मे महर्षि मनु का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है—

यमान् सेवेत सतत न नियमान् केवल बुध ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० ४-२०४

यमो की उपेक्षा करके केवल नियमो का सेवन न करे। जो ऐसा करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है ॥४४॥

यम-नियमो के अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियो का क्रमश. निरूपण करने के पश्चात् योग के तीसरे अग 'आसन' का निर्देश करते हैं—

स्थिरसुखमासनम् ॥४५॥

निश्चल और सुखावह (उपवेशन) आसन है।

स्थिरता का अर्थ है—देह मे कही चचलता का न उभरना और सुख का तात्पर्य है—अभिमत आसन पर पर्याप्त समय तक बैठे रहने पर किसी अग में पीडा का अनुभव न होना। जिसमे किसी प्रकार की व्यथा या कष्ट अनुभव

हो या शरीर के अस्थैर्य की सभावना रहे वह योगागभूत आसन नही है। आसन से वैठने का स्थान भी ऊँचा-नीचा या ऊबड-खाबड न होकर समतल होना चाहिये। बिछाने का आसन भी उपयुक्त होना चाहिये—न इतना गदीला कि आलस्य वढकर निद्रा चित्त को अभिभूत करले और न इतना खुरदरा कि उसके स्पर्श से अग मे चुभन या दुखन हो। जिस व्यक्ति को जो आसन अनुकूल हो उसी का निरन्तर अभ्यास करते हुए स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु प्रत्येक स्थिति मे 'त्रिरून्नत स्थाप्य समे शरीरम्' (श्वेत २-८) वक्ष, ग्रीवा और सिर को उन्नत करते हुए मेरुदण्ड या रीढ को सीधा रखना चाहिये। आसन की स्थिरतासिद्धि के लिये युक्ताहारविहार नितान्त आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति के लिये आसनसिद्धि अत्यन्त दुष्कर है ॥४५॥

आसनसिद्धि का फल बताते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४६॥

उससे (आमनसिद्धि होने मे) द्वद्वो द्वारा अभिभूत नही होता।

सुख-दु ख, भूख-प्यास, गरमी-सरदी आदि के कारण मनुष्य को पीडा होती है। पीडा मूलत एक प्रकार की चचलता है। स्थिरता द्वारा चचलता अभिभूत होती है। आसन-स्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने से उसकी सहिष्णुता वढती है। सहनशक्ति का विकास होने पर सुख-दु ख आदि द्वन्द्व योगी को पीडित नही करते। आसनजयी की यह स्थिति योगाभ्यास के नैरन्तर्य मे बडी सहायक होती है ॥४६।

अगले कुछ सूत्रो मे योग के चौथे अग 'प्राणायाम' के स्वरूप, भेद तथा उसकी सिद्धि से प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करते हैं—

श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद प्राणायाम ॥४७॥

श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना प्राणायाम है।

वाह्यस्य वायोराचमन श्वास'—वाह्यवायु का आचमन करना अर्थात् भीतर लेना 'श्वास' और 'कौष्ठ्यस्य वायोर्नि सारण प्रश्वास'—अन्दर कोठे के वायु को वाहर निकालना 'प्रश्वास' है। इन दोनो की स्वाभाविक गति मे विच्छेद—रुकावट डाल देना 'प्राणायाम' कहाता है।

श्वास-प्रश्वास नियमित रूप मे बिना व्यवधान के सदा चलते रहते हैं। प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया की समाप्ति तो जीवन की समाप्ति है। अत श्वास-प्रश्वास की गति को सर्वथा रोका नही जा सकता, उसमे अन्तर डाला जा सकता है। इस प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वास रूप प्राण वन्द न होकर उसका आयाम-विस्तार होता है। उसमे श्वास-प्रश्वास की अवधि बढ जाती है। अनेक श्वास-प्रश्वास का एक प्रश्वास वन जाता है। अभ्यास करते-करते

सौ सांसो की जगह एक ही सास लेकर काम चल जाता है। गीता मे योग की एक परिभाषा 'योग कर्मसु कौशलम्' की है। एकाग्रता के विना कुशलता नहीं आ सकती—यह हमारे दैनिक व्यवहार मे स्वत. सिद्ध है। जव हम किसी गहरे विचार मे निमग्न होते हैं अथवा किसी विषय मे तन्मय होकर देखते-सुनते हैं तो हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया अनायास निरुद्ध हो जाती है। यही चित्त की एकाग्रता है जिसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन प्राणायाम है।

आसन योग का साक्षात् अग नही है। परन्तु आसन सिद्ध किये विना प्राणायाम का सुविधापूर्वक किया जाना सभव न होने से योग मे उसका उपयोग प्राणायाम द्वारा अपेक्षित है। इसी कारण उसका योगागों मे समावेश है। योग के आठ अगो मे पहले पाँच वहिरङ्ग और अन्तिम तीन अन्तरग वताये गये हैं। प्राणायाम को उन तीन अन्तरग अगो के अनुष्ठान मे एक प्रकार की आधार शिला समझना चाहिये। अतः जिस प्राणरोध के साथ चित्त को भी रुद्ध या एकाग्र किया जाता है वास्तव मे वही योगाङ्ग प्राणायाम है। प्राणायामगत चित्तस्थैर्य ही धारावाही क्रम से परिवर्धित होकर अन्त में समाधि के रूप मे परिणत होता है। चित्तवन्धन की चेष्टा न करके केवल श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करने से चित्त स्थैर्य को प्राप्त नही करता। फलत चित्त की स्थिरता तथा निर्विषयता का उत्कर्ष न होने पर वह योगाङ्गभूत प्राणायाम न होकर केवल तमाशा है। मृत्तिका के अन्दर प्रोथित रहकर लोगो को तमाशा दिखाकर पैसा कमाने वाले योगी नहीं होते। न उनकी तथाकथित समाधि योग समाधि होती है। प्राणरोध समाधि का वाह्य लक्षण है, आभ्यन्तरिक लक्षण नही ॥४७॥

रेचकपूरकसहशुद्धकुम्भकभेदाच्चतुर्विधः प्राणायामः ॥४८॥

रेचक, पूरक, सहकुम्भक तथा शुद्धकुम्भक भेद से प्राणायाम चार प्रकार का है।

रेचक, पूरक और कुम्भक ही क्रमश. वाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भ वृत्ति कहलाते हैं। जव प्राण का व्यापार वाहर की ओर हो अर्थात् वायु का वाहर की ओर रेचन (निकालना) किया जाये तो वह 'रेचक' अथवा 'वाह्य-वृत्ति' प्राणायाम कहाता है। जव प्राण का व्यापार भीतर की ओर हो अर्थात् वायु वाहर से भीतर को भरा जाये तो वह 'पूरक' अथवा 'आभ्यन्तरवृत्ति' प्राणायाम कहाता है। जव इन दोनो का अभाव हो अर्थात् वायु को जहां का तहां रोक रक्खा जावे तो वह 'कुम्भक' अथवा 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम होता है। कुम्भक मे रेचक और पूरक दोनों के अनन्तर प्राण को वहीं रोके रहना होता है। इस प्रकार एक प्राणायाम—एक रेचक, एक पूरक और दो कुम्भक प्राणायामो से मिलकर वनता है अर्थात् रेचक और पूरक दोनो के अन्त में होने से कुम्भक का एक ही प्राणायाम मे दो वार प्रयोग होता है।

रेचक के बाद कुम्भक और पूरक के बाद कुम्भक–ये दोनो यथाक्रम बाह्य और आभ्यन्तर प्राणवायु की अपेक्षा रखते हैं। सापेक्ष अर्थात् रेचक और पूरक की अपेक्षा रखने से ये 'सहकुम्भक' कहाते हैं।

जब रेचक-पूरक के बिना कुम्भक किया जाये अर्थात् स्वाभाविक रूप मे प्राणवायु जहा चल रहा है, वही रोक दिया जाये तो वह 'शुद्धकुम्भक' अथवा 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' प्राणायाम कहाता है। यह प्राणायाम रेचक-पूरक की उपेक्षा कर किया जाता है। दूसरो की अपेक्षा यह दु साध्य है किन्तु निरन्तर अभ्यास से रेचक-पूरक के बिना ही प्राण को जहा का तहा रोकने मे कोई असुविधा नही होती।

प्राणायाम एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस विषय के विशेषज्ञ के मार्गदर्शन मे ही इसका प्रशिक्षण लेना तथा अभ्यास करना उचित है। प्राणायाम करते समय प्रारम्भ मे व्याहृतियुक्त गायत्री मन्त्र का, तदनन्तर व्याहृतियो का और अन्त मे केवल ओङ्कार का जप अवश्य करना चाहिये ॥४८॥

तत· विशुद्धिर्मलानां ज्ञानस्य दीप्तिश्च ॥४६॥

उससे मलसमूह की विशुद्धि तथा ज्ञान की दीप्ति होती है।

अनुभवी मनीषियो ने कहा है–'तपो न पर प्राणायामात्' अर्थात् प्राणायाम से बढकर अन्य कोई तप नही। यह एक ऐसा अनुष्ठान है जिसके द्वारा शरीर और मन दोनो के मल एक साथ दूर होते हैं। शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और नीरोग होता है। आत्मा के ऊपर अज्ञानमूलक कर्म का आवरण है। इस आवरण के रहते उपासना अथवा अध्यात्म की ओर किसी की प्रवृत्ति नही हो सकती। और अविद्यारूप यह अज्ञान और तत्प्रेरित कर्म एव उनका सस्कार प्राणायाम द्वारा ही शिथिल होता है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा शरीर तथा मानस मल दूर होकर ज्ञान का आलोक होता है।

शारीर मलो के दूर होने के सन्दर्भ मे महर्षि मनु का कथन है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥ मनु ६-७१॥

जिस प्रकार अग्नि मे तपाये जाने पर सुवर्णादि धातुओ के मल दग्ध होकर वे शुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियो (बाह्य एव अन्तर) के दोष दूर होकर वे निर्मल हो जाती हैं।

शरीर मे दो प्रकार की नाडिया होती हैं। एक–शिरायें जो समस्त शरीर से हृदय मे जाती हैं और दूसरी–धमनिया जो हृदय से समस्त शरीर मे पहुचती हैं। समस्त शरीर के व्यापारो मे प्रयोग मे आने से जो रक्त अशुद्ध हो जाता है वह शिराओ द्वारा हृदय मे पहुचाया जाता है। हृदय उस अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिये फेफडे मे भेज देता है। फेफडा स्पज की भाति छोटे-छोटे असख्य

कोशो का समुदाय है। ये कोश एक मासपेशी की भाति खुलते और वन्द होते रहते है। जब ये कोश खुलते हैं तव एक ओर से तो हृदय से आया अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर मे श्वास के द्वारा आया शुद्ध वायु एकत्र हो जाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जिसमे जो वस्तु नही होती वह उसी को दूसरी मे से अपनी ओर खीचती है। इस नियम के अनुसार रक्त मे से कार्वन वायु निकल कर श्वास के वायु मे और श्वास के द्वारा आये वायु मे से ओपजन निकल कर रक्त मे चला जाता है। शुद्ध हुआ रक्त धमनियो द्वारा समस्त शरीर मे चला जाता है और अशुद्ध वायु श्वास द्वारा वाहर निकल जाता है। यह कार्य शरीर मे हर समय होता रहता है।

अव यदि श्वास के द्वारा पर्याप्त शुद्ध वायु फेफडो मे न पहुचे अथवा फेफडे के सव कोशो मे न पहुचे अथवा अशुद्ध वायु समस्त कोशो मे से निकल कर वाहर न चली जाये तो क्या परिणाम होगा ? निश्चय ही, पर्याप्त वायु के फेफडो मे न पहुचने से जहा एक ओर खासी, दमा, यक्ष्मा आदि फेफडो से सम्वन्धित रोग उत्पन्न होगे वहा दूसरी ओर हृदय से आया अशुद्ध रक्त विना शुद्ध हुए लौट कर सारे शरीर मे चला जायेगा। इसका फल रक्त विकार होगा। इन दुष्परिणामो से वचने के लिये आवश्यक है कि फेफडो को भरपूर वायु मिले और एक भी कोना ऐसा न रहे जहा वायु न पहुचे। प्राणायाम यही काम करता है।

प्राणायाम द्वारा जव श्वास वाहर रोक दिया जाता है तो कुछ समय पश्चात् ही मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रवल इच्छा उत्पन्न होती है। तव भीतर श्वास लेते समय स्वभावत श्वास तीव्र वेग के साथ आधी के सदृश फेफडो मे पहुचता है और जिस प्रकार आधी का वेग नगर और घरो के भीतर सर्वत्र और दूर-दूर तक प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार प्राणायाम करते समय वेग के साथ श्वास द्वारा लिया गया वायु फेफडो के एक-एक कोश तक पहुच जाता है। ऐसी अवस्था मे न फेफडो मे कभी कोई विकार हो सकता है और न रक्त ही दूषित होता है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर और इन्द्रियो के मलो को दूर कर शुद्ध एव स्वस्थ रखने का सर्वोत्तम साधन है।

मन तथा इन्द्रिया सदा प्राण का अनुगमन करते हैं। प्राणायाम द्वारा जव प्राण वश मे हो जाता है तो मन तथा इन्द्रिया स्वत ही आत्मा के अधीन हो हो जाते है। तव विपरीत क्रम मे न होकर आत्मा के अनुशासन मे क्रमश प्राण, मन और इन्द्रिया प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

प्राणायाम की उपयोगिता, महत्ता एव प्रशसा के सन्दर्भ मे मनुस्मृति के अध्याय ६ का श्लोक ७० द्रष्टव्य है। मनु जी कहते है—

प्रणव तथा व्याहृति मे युक्त गायत्री मन्त्र का जप करते हुए विधिपूर्वक सध्या करते हुए प्रतिदिन कम-से-कम तीन वार तीनो प्राणायाम अवश्य करने

चाहियें। ब्रह्मज्ञान निमित्त अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लिये प्राणायाम परम तप है। यथाकाल, यथाशक्ति और अधिक प्राणायाम करना मलो के निवारण मे और अधिक फलप्रद होता है।

यदि किसी यति तपस्वी से दिन या रात मे अनजाने मे किसी को कोई कष्ट पहुच जाता है, तो उसके प्रायश्चित्त रूप मे स्नान आदि से शुद्ध होकर वह प्राणायाम करे। इससे उस अवाछनीय का चित्त पर कोई मलिन प्रभाव नही पडता ॥४९॥

धारणासु च योग्यता मनस· ॥५०॥

और सब धारणाओ मे मन की योग्यता होती है।

प्राणायाम मे आध्यात्मिक देश की भावना निरन्तर अनुभव करनी पडती है। आध्यात्मिक देश मे ही चित्त का बन्धन धारणा कहाती है। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा चित्त को उन देशो मे बाधने की योग्यता होना स्वत सिद्ध है। प्राणायाम के अनुष्ठान से राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि दोषो के दूर हो जाने पर शुद्ध चित्त धारणा आदि योगागो के अनुष्ठान की पूर्ण योग्यता–क्षमता प्राप्त कर लेता है ॥५०॥

अब योग के पाचवें अग 'प्रत्याहार' का लक्षण तथा फल कथन करते हैं—

स्वविषयसंयोगाभावे इन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकरणं प्रत्याहार· ॥५१॥

अपने विषयो से सबन्ध न रखने पर इन्द्रियो का चित्त की स्थिति के अनुरूप हो जाना प्रत्याहार है।

इन्द्रियो का नेता मन अथवा चित्त है। इसके आदेश अथवा सहयोग के बिना बाह्य इन्द्रियो का अपने विषयो से सम्पर्क होने पर भी उन विषयो का ज्ञान नही हो सकता। जब यम-नियमादि के अनुष्ठान से सस्कृत हुआ चित्त ही उनसे विमुख हो जाता है तो इन्द्रिया अपने आप शिथिल हो जाती हैं। प्रत्याहार मे चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है। जैसे समस्त मधु मक्खिया अपनी रानी मधुमक्खी का अनुगमन करती हैं--उसके साथ-साथ उडती और बैठती हैं उसी प्रकार प्रत्याहार मे इन्द्रिया चित्त की अनुगामिनी बनी रहती है। चित्त के विषय लोलुप होने पर उनमे प्रवृत्त होती तथा चित्त के निरुद्ध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयो से विमुख होकर चित्त की स्थिति के समान जो इन्द्रियो की स्थिति है वही प्रत्याहार है। ऐसी स्थिति मे इन्द्रियो के जय अथवा उनको वश मे करने के लिये किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नही रहती। "प्रत्याहार" योग के बहिरग भाग का अन्तिम स्तर है ॥५१॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५२॥

उससे (प्रत्याहार से) इन्द्रिया पूर्णतया वश मे हो जाती हैं ।
प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियो मे वह शक्ति नही रह जाती जिससे वह आत्मा को वलात् विषयो की ओर खीच कर ले जा सकें। उस अवस्था मे 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि' नही रहती और 'हरन्ति प्रसभ मन' बीते काल की बात हो जाती है ।

कुछ विद्वानो के मत मे शब्दादि विषयो मे आसक्ति का अभाव ही इन्द्रिय-जय है । कुछ लोग वेद निर्दिष्ट विषयो मे प्रवृत्ति तथा निषिद्ध मे अप्रवृत्ति को इन्द्रियजय मानते है । ऐसे लोग भी हैं जो पराधीन न होकर स्वेच्छा से विषयो मे प्रवृत्ति को इन्द्रिजय कहते हैं । कुछ आचार्यो के मत मे राग-द्वेष के अभाव मे सुख दु ख का का अनुभव न करते हुए तटस्थ भाव से विषयोपभोग करना इन्द्रियजय है । वस्तुत ये सभी प्रच्छन्न इन्द्रियलौल्य हैं एव परमार्थ के लिये विघ्न-रूप हैं । इन्द्रियो की परमावश्यता यही है कि वे किसी भी अवस्था मे विषयो मे प्रवृत्त न हो । जिसने अग्निदाह को जान लिया है वह कभी भी अग्नि मे हाथ डालने की इच्छा नही करेगा—न आसक्ति से, न अनासक्त भाव से, न स्वतत्र भाव से और न परतत्र भाव से । विषयो के साथ भोगभावना से सम्बन्ध, चाहे किसी भी रूप मे हो, मनुष्य को कभी भी पतित कर सकता है । प्रत्याहार-जनित इन्द्रियजय ही योगियो के लिये उपादेय है ॥५२॥

अव योग के छठे अग 'धारणा' का स्वरूप तथा लाभ कथन करते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥५३॥

चित्त का देशविशेष मे वाधना—केन्द्रित कर देना धारणा है ।

प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता का प्रारम्भ हो जाता है । धारणा, ध्यान और समाधि के रूप मे उसमे अभिवृद्धि तथा पूर्णता प्राप्त होती है । प्राणायाम आदि मे भी धारणा का अभ्यास होता है परन्तु वहा धारणा की मुख्यता न होकर मात्र भावना होती है । धारणा और ध्यान के रूप मे इस भावना का विकास होता है । जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमे चित्त वद्ध किया गया है) ज्ञान रहता है और जव प्रत्याहृत इन्द्रिय समूह स्वविषय का ग्रहण नही करते तव प्रत्याहारमूलक वैसी धारणा ही समाधि की अगभूत धारणा होती है । अल्प समय तक चित्त का एकाग्र होना 'प्रत्याहार' मे भी है । परन्तु वहा मुख्यत इसी वात पर वल होता है कि इन्द्रिया चित्त की अनुगामी हैं ।

धारणा के अभ्यास के निमित्त चित्त को वाधने के लिये नाभिचक्र, नासिकाग्र आदि देह के किसी अग को लक्ष्य वनाया जा सकता है अथवा कागज़ या गत्ते पर चिह्न वना कर सामने टागा जा सकता है । उस देहाग अथवा चिह्न विशेष

को एकाग्र भाव से देखते हुए आखे बन्द करके अधिकाधिक काल तक उसी की वृत्ति प्रवाहित करते हुए चित्त को वही बाधे रहना चाहिये ।।५३।।

ततः प्रत्ययान्तरस्याभावः ।।५४।।

उस(धारणा) से अन्य प्रत्ययो (ज्ञानवृत्तियो) का अभाव हो जाता है ।

धारणा मे चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने की चेष्टा मे न्यूनाधिक्य समय के अन्तर से विषयान्तर वृत्ति उभरती है । उसको हटाते रह कर चित्त को निर्धारित लक्ष्य प्रदेश मे अधिकाधिक समय तक बाध कर रखना पर्याप्त श्रम-साध्य है । परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से विषयान्तर वृत्ति शिथिल होकर एकाग्रता को बल मिलता है जो योग के सातवे अग 'ध्यान' की सिद्धि मे सहायक होता है ।।५५।।

ध्यान के स्वरूप और उसके अनुष्ठान का फल बताते हैं—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।।५५।।

उस लक्ष्य प्रदेश मे प्रत्यय (ज्ञानवृत्ति) की एकाग्रता ध्यान कहाती है ।

चित्त वृत्ति का नाम 'प्रत्यय' और प्रयत्नो के एकरस प्रवाह का नाम 'एकतानता' है । योगी के चित्त मे ध्येयमात्र को विषय करने वाली विजातीय वृत्तियो के व्यवधान से रहित जो सजातीय वृत्तियो की एकतानता उदय होती है उसी का नाम ध्यान है । धारणा मे प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति केवल अभीष्ट देश पर आबद्ध रहती है । परन्तु उसी देश मे प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति खण्डित धारा के रूप मे प्रवाहित रहती है । अभ्यासबल से जब वह अखण्ड धारा का रूप धारण कर लेती है तब उसे ध्यान कहते हैं । यह चित्तस्थैर्य की अवस्था विशेष है । ध्यान-शक्ति उत्पन्न होने पर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान कर सकते है । योगानुष्ठान के सन्दर्भ मे विषयान्तर से सर्वथा असम्पृक्त एकमात्र ध्येय परमेश्वर है । अत जिस प्रकार नदी समुद्र मे प्रवेश करती है उसी प्रकार ईश्वर को छोड अन्य किसी पदार्थ का स्मरण न करते हुए उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान मे निमग्न रहना 'ध्यान' है ।।५५।।

ध्यानान्निर्विषयं मनः ।।५६।।

ध्यान के फलस्वरूप मन विषय रहित हो जाता है ।

मन या चित्त के स्थिर हो जाने पर चित्तानुगामिनी समस्त इन्द्रिया विषयो मे प्रचरित होने से अवरुद्ध हो जाती हैं । तब मन की अशेष वृत्तिया आत्मचिन्तन–केवल आत्मचिन्तन मे प्रवृत्त रहती हैं । आत्मचिन्तन की इस निर्बाध स्थिति मे साधक अपने आप को भूल जाता है, बाह्य विषयो का कही दूर-दूर तक पता नही चलता ।।५६।।

अब योग के अन्तिम स्तर समाधि का विवेचन-उसके लक्षण तथा उसकी सिद्धि से होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।।५७।।

अपनी ध्यानात्मक प्रतीति से रहित, केवल ध्येयरूप से प्रतीत होने वाले उक्त ध्यान का ही नाम समाधि है।

ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है जो चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। चित्त की जिस एकाग्र अवस्था मे ध्याता-ध्येय-ध्यान तीनो की प्रतीति होती है उसे 'ध्यान' कहते हैं । उस स्थिति मे ध्याता अनुभव करता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। ध्यान जब 'अर्थमात्रनिर्भास' होता है अर्थात् ध्याता ध्यान मे इतना लीन हो जाता है अथवा जब ध्यान इतना प्रगाढ हो जाता है कि उसमे केवल ध्येय की ही ख्याति होती रहती है तब वह समाधि होती है। यद्यपि ध्यान उस समय विद्यमान रहता है (क्योकि ध्यान मे ही तो ध्येय भासता है) तथापि ध्याता को उसकी प्रतीति नही होती । ध्यान के होते हुए भी उसकी प्रतीति न होना 'स्वरूपशून्य' के समान है। तात्पर्य यह है कि जब अपनी सत्ता विस्मृत हो जाती है और केवल ध्येयविषयक सत्ता-आत्मतत्त्व की ही उपलब्धि होती है अर्थात् ध्येय से अपना पृथक्त्व प्रतीत नही होता, ध्येय विषय पर इस प्रकार का चित्तस्थैर्य समाधि है।५७।।

तत्रात्मसाक्षात्कारः ।।५८।।

वहा (समाधि मे) आत्मसाक्षात्कार होता है।

समाधिदशा मे ध्याता और ध्येय का भेद नही रहता । जैसे अग्नि मे पडा हुआ लोहा भी अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार समाधि मे ब्रह्म का साक्षात्कार होकर जीवात्मा परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। जल मे डुबकी लगा कर थोडी देर भीतर रुकने वाले मनुष्य के समान समाधि अवस्था मे जीव प्रभु मे मग्न होकर फिर बाहर आ जाता है। साख्य दर्शन (५-१-१६) मे समाधि अवस्था का वर्णन करते हुए कहा—'समाधि सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' अर्थात् मोक्ष के समान समाधि मे भी ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार तथा परमार्थसिद्धि सभव है ।।५८।।

समाहितचित्त योगियो के लिये आवश्यक अनुष्ठानो के अनतर व्युत्थितचित्त साधको के लिये अपेक्षित साधनो का निर्देश करते हैं—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।।५९।।

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

जिनका चित्त पहले से शुद्ध होता है ऐसे समाहित चित्त वाले व्यक्ति योग

के अन्तरग साधनो के अनुष्ठान मे अनायास प्रवृत्त हो जाते हैं। किन्तु जो अभी विक्षिप्तचित्त हैं उनके लिए पहले वहिरग साधनो के अनुष्ठान के द्वारा चित्त को निर्मल करना आवश्यक है। वहिरग साधनो मे अन्यतम साधन क्रियायोग है। योग या चित्तस्थैर्य को उद्देश्य कर जो क्रियायें की जाती हैं अथवा जो क्रियायें वा कर्म योग के सहायक साधन हैं वे क्रियायोग कहाते है। वे कर्म मुख्यत तीन प्रकार के हैं—तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। विषयसुख के त्याग अर्थात् जिन कर्मो से आपातत सुख होता है, कष्ट सहन करके भी उन कर्मो के विरोध की चेष्टा करना 'तप' है। द्वन्द्वो को हसते खेलते सहन करने से वासना क्षीण होने लगती है। ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिससे शारीर धातुओ की विषमता न होती हो एव जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाता हो। आत्मविषयक मनन व चिन्तन करना, तत्सम्वन्धी साहित्य का अध्ययन करना तथा प्रणव आदि मन्त्रो का 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' के आधार पर जप करना 'स्वाध्याय' है। अनन्य भक्तिभाव से 'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पूर्वेषामपि गुरु' परमेश्वर का आराधन—चिन्तन करना तथा समस्त कार्य कर्मफलाकाक्षा का परित्याग कर परमेश्वर मे समर्पण की भावना मे करना 'ईश्वरप्रणिधान' है ॥५९॥

क्रियायोग के फल का कथन करते है—

क्रियायोगानुष्ठानात् क्लेशक्षयः ॥६०॥

क्रियायोग के अनुष्ठान से क्लेशो का क्षय हो जाता है।

क्लेशो की क्षीण अवस्था क्रियायोग द्वारा निष्पन्न होती हैं। क्लेश सदा चित्त को विक्षिप्त वनाये रखते है। इससे एकाग्रता मे वरावर वाधा वनी रहती है। क्रियायोग के द्वारा अशुद्धि का क्षय होकर चित्त स्थैर्य की ओर अभिमुख होता है ॥६०॥

अव क्रियायोग से क्षीण होने वाले क्लेशो का निर्देश करते है—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशा ॥६१॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाच क्लेश हैं—

सब क्लेशो का सामान्य लक्षण है—कष्टदायक विपर्यस्त ज्ञान। जन्ममरणादि दु ख का हेतु होने से ये भाव मनुष्यमात्र को कष्ट पहुचाते हैं। इसी कारण इन्हे 'क्लेश' कहते हैं। किन्तु आदि चार क्लेश अविद्यामूलक हैं। अत कहा है—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम् ॥६२॥

(अस्मिता आदि) अगलो का क्षेत्र—उद्गमस्थान अथवा मूलकारण अविद्या है।

अस्मिता आदि चारो क्लेशो का उत्पत्तिस्थान—आधारभूत कारण अविद्या है। अविद्या, मिथ्याज्ञान, अविवेक अथवा विपर्यय को कहते हैं। इसलिए जब तत्वज्ञान अथवा विवेकख्याति का प्रादुर्भाव होता है तो अविद्या का नाश हो जाने से शेष सब क्लेश भी निःशेष हो जाते हैं। इस विषय मे महाभारत (शा प. २११-१७) मे कहा है—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुन ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुन. ॥

अर्थात् अग्निदग्ध बीज जैसे पुन अकुरित नही होता वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध होने पर इन क्लेशो के द्वारा आत्मा पुन क्लिष्ट नही होता।

क्लेश दग्धबीज हो जाने से योगी जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। क्लेशो के समूल उच्छिन्न हो जाने से पुनर्जन्म के अभाव मे उसका यह देह चरम देह होता है ॥६२॥

इस अविद्या या मिथ्या ज्ञान का कारण बताते हैं—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥६३॥

इन्द्रियो और सस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।

'दुष्ट ज्ञानमविद्या'—जो वस्तु जैसी नही वैसी दीखना अविद्या है—'अतस्मिस्तदितिज्ञानमविद्या'। ऐसा दो ही कारणो से होता है—इन्द्रियदोष से या सस्कार-दोष से। इन्द्रियदोष है—वात, पित्त आदि शारीर धातुओ के विकृत होने से इन्द्रियो के द्वारा विषय को यथार्थ रूप मे ग्रहण करने की क्षमता मे कमी हो जाना। विभिन्न कारणो से विविध रोग हो जाते हैं। नेत्रो मे कामला रोग हो जाने पर सभी पदार्थ पीले दिखाई पडते है। प्रकाश की कमी के कारण भी चाक्षुष प्रत्यक्ष दुष्ट हो जाता है क्योकि उस अवस्था मे आख ठीक कार्य नही कर पाती। अनुमान मे भी इन्द्रियदोष से मिथ्या अनुमान हो जाता है जैसे धूल को धुआ समझकर अग्नि का अनुमान। ये सब इन्द्रियदोष के ही अन्तर्गत हैं। सस्कारदोष से मिथ्याज्ञान तब होता है जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो और उससे सस्कार भ्रान्त हो जाये। रजत जैसी चमकती सीपी को देख कर आत्मा मे स्थित रजत के सस्कार के कारण उसे रजत समझ लेना सस्कार दोष का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त एक और भ्रान्ति भी होती है जिसे निरालम्ब भ्रम (Hallucination) कहते हैं। जैसे किसी के न आने पर भी पैरो की आहट का आभास अथवा किसी के न बुलाने पर भी किसी के आवाज के सुनने का भ्रम। यह सस्कारजन्य विशुद्ध मानस भ्रान्ति है। इन सभी भ्रान्तियो का तात्पर्य 'अन्यस्मिन् अन्यत् निश्चिनोति' अर्थात् अन्य मे अन्य की बुद्धि है। यही अविद्या है ॥६३॥

अविद्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या ॥६४॥

जो वस्तु जैसी है उसे वैसा न समझ कर अन्यथा–विपरीत समझना अविद्या है।

अनित्य, अशुचि, दु ख तथा अनात्मा मे क्रमशः नित्य, शुचि, सुख, तथा आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है। यद्यपि अविद्या के विविध रूप हैं, किन्तु यहा प्रस्तुत सन्दर्भ मे केवल उन्ही का उल्लेख किया है जो आत्मा के बन्ध के मुख्य कारण हैं—

अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योग २-३)

इस प्रकार विनाशी पदार्थों मे नित्य बुद्धि, अपवित्र शरीरादि मे पवित्र बुद्धि, दु खरूप विषयभोगादि मे सुखबुद्धि तथा देहेन्द्रियादि अचेतन पदार्थों मे आत्मबुद्धि का नाम 'अविद्या' है ॥६४॥

अब अविद्या के कार्य अस्मिता का लक्षण करते हैं—

बुद्ध्यादिप्राकृतपदार्थेष्वात्मबुद्धिरस्मिता ॥६५॥

बुद्धि आदि प्राकृत जड पदार्थों मे आत्मबुद्धि 'अस्मिता' है।

द्रष्टा आत्मा चेतन तत्त्व है और बुद्धि आदि देखने के साधन प्रकृति के कार्य हैं। शुद्ध, चेतन एव अपरिणामी तत्त्व आत्मा तथा अशुद्ध रागादि मलो का जनक जड एव परिणामी बुद्धितत्त्व एक जैसे कैसे हो सकते हैं? फिर भी मोह के कारण मनुष्य दोनो को एक मान बैठता है। परिणामत उसमे अहकार का उदय होता है और वह 'अहमस्मि'–'मैं हू' जैसा व्यवहार करता है। यही 'अस्मिता' है। औपनिषद् लोग इसी को 'हृदयग्रथि' कहते हैं। जब विवेक के द्वारा अस्मिता के निवृत्त हो जाने पर रागद्वेषादि निवृत्त हो जाते है तब पुरुष को मोक्षपद की प्राप्ति हो जाती है। मुण्डकोपनिषद् (२-२-८) मे इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

प्रकृति-पुरुष के विवेक द्वारा परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार होने से अविद्या के निवृत्त हो जाने पर हृदयग्रन्थि अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है और समस्त सशय निवृत्त होकर जन्म-मरण के हेतु सम्पूर्ण कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। अविद्या और अस्मिता मे इतना अन्तर है कि अनात्मा मे आत्मबुद्धि को अविद्या और सुखदु खविशिष्ट आत्मा मे आत्मबुद्धि अस्मिता है। इसके अतिरिक्त अविद्या कारण है, अस्मिता उसका कार्य ॥६५॥

राग का लक्षण करते है—

सुखानुस्मृतिपूर्व तत्साधने तृष्णा रागः ॥६६॥

सुख की अनुस्मृतिपूर्वक उसे पाने की तृष्णा राग है।

जो सुख मनुष्य एक वार भोग लेता है उसे याद करके वार-वार भोगना चाहता है। सुखजनक लुभावने विषयो की ओर उसका स्वाभाविक आकर्षण होता है। इस प्रकार पहले भोगे हुए सुख को पाने की उत्कट भावना को 'राग' कहते हैं ।६६॥

द्वेष का लक्षण करते हैं—

दु खानुस्मृतिपूर्वो दु·खे मन्युर्द्वेष. ॥६७॥

दु ख की अनुस्मृतिपूर्वक दु ख के प्रति मन्यु द्वेप है।

दु ख की स्थिति मे मनुष्य कभी नही पडना चाहता। एक वार दुख भोग लेने पर सदा उससे वचना चाहता है। प्रतिकूलताओ को न आने देने अथवा उन्हे नष्ट कर देने की जो भावना जागृत होती है उसी का नाम 'द्वेप' है। वह प्रतिरोध या प्रतीकार की भावना व्यक्ति के चित्त को व्यथित कर कभी-कभी उसे अत्यन्त कुत्सित कार्य करने को उत्तेजित कर देती है ॥६७॥

अव अन्तिम पाचवे क्लेश का लक्षण करते हैं।

जातमात्रस्य मरणत्रासोऽभिनिवेशः ॥६८॥

प्राणिमात्र मे मृत्यु का भय अभिनिवेश है।

प्राणिमात्र मे सदा वने रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नही चाहता। वडे से वडा विद्वान् भी मृत्यु के नाम से भय खाता है। इसी क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं। जिसने मरणत्रास का पहले कभी अनुभव नही किया वह मृत्यु से कभी नही डरेगा। इसी से पूर्वजन्मो का निश्चय होता है जहा प्राणी ने मृत्यु का तीव्र दुःख अनुभव किया हुआ है। इस सर्वाधिक भयकर दु ख से सदा के लिए मुक्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है ॥६८॥

नवम अध्याय

मनोविज्ञान

मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराश्चान्त करणचतुष्टयम् ॥१॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहकार अन्त करण-चतुष्टय कहाते है ।

जिस तत्त्व से मन का निर्माण हुआ है वह आकाश मण्डल मे सूक्ष्मरूप से सर्वत्र विद्यमान है । इसी तत्त्व को महत्तत्व अथवा अन्त करण का नाम दिया गया है । इसी को विश्वमानस कहते हैं । सृष्टि के आदि मे ऋषियो के मानस मे वेदज्ञान का प्रकाश इसी मानस द्वारा आई तरगो से हुआ था । यदि मनुष्य अपने मन का सम्वन्ध इस तत्त्व से जोडने मे समर्थ हो जाये तो उसके अनुभव की गति दूर-दूर तक हो जाती है । इसी तत्त्व का एक अश मानव हृदय मे रह कर काम करता है । इसे मन कहते है । ऐतरेय उपनिषद् (२-४) मे कहा है—"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदय प्राविशत्" अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय मे प्रविष्ट हो गया । यहा चन्द्रमा से मन की रचना कही गई है । अन्यत्र कहा है–"चन्द्रमा मनसो जात" अर्थात् चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुई है । इससे स्पष्ट है कि मन तथा चन्द्रमा का उपादान एक ही है । यह भी स्पष्ट है कि जिस महत्तत्व से इन दोनो की रचना हुई है वह चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान तत्त्व है । उसी को शिवसकल्प मन्त्रो मे 'ज्योतिषा ज्योति' कहा है । मन, बुद्धि, चित्त और अहकार के समुच्चय को 'अन्त करण' अथवा केवल 'मन' कहते हैं ॥१॥

किन्तु चार होने पर भी यह एक ही है—

नैतत्तत्त्वचतुष्टय मनः स्थित्यवबोधकत्वात् ॥२॥

ये चार तत्त्व नही हैं, एक मन की ही स्थिति के द्योतक होने से ।

मन, बुद्धि, चित्त और अहकार एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतत्र तत्त्व नही हैं, अपितु एक मन की विभिन्न शक्तियुक्त कार्य करने की स्थिति विशेष के बोधक हैं । विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिये एक कार्यालय के विभिन्न विभागो की भाँति उसके विभिन्न नाम पड गये हैं । अर्थात् मन=मननात्मक स्थिति (=सकल्प-विकल्प), बुद्धि=विवेचनात्मक स्थिति (=निश्चय), चित्त =चेतनात्मक स्थिति (=स्मरण) और अहकार=स्व की प्रमुखता की स्थिति (=अभिमान अथवा धृति) । मनस्तत्त्व का एक भाग ज्ञानेन्द्रियो द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर कर्मेन्द्रियो द्वारा कर्म मे प्रवृत्त होता है । इसे 'मन' कहते हैं । इसी मनस्तत्त्व के दूसरे भाग को जो मस्तिष्क मे रहकर ज्ञानेन्द्रियो

द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कर तदनुसार आवश्यक कार्य करने का आदेश देता है, 'बुद्धि' कहते हैं। इसी अन्त करण के एक भाग में ज्ञान क्षेत्र के अनुभव तथा कर्मक्षेत्र के सस्कार अकित होते है और समय आने पर स्मृति रूप मे उभरते रहते हैं। अन्त करण का यह भाग 'चित्त' कहाता है। ये तीन विभाग व्यापृत मन के हैं, क्योंकि इसकी क्रियाये आत्मा के नियन्त्रण मे प्रकट रूप मे होती रहती हैं। इमीलिये इसे उद्बुद्ध मन भी कहते हैं। इमी मनोमय तत्त्व अथवा अन्त करण का चौथा भाग 'धृति' अथवा 'अहकार' कहाता है। इस विभाग द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं जिनका आत्मा को प्रत्यक्ष रूप मे ज्ञान नही होता। आत्मा मे एक बार स्थायी आदेश मिल जाने के पश्चात् अभ्यास के कारण ये कार्य स्वत होते रहते है। हर समय आत्मा से आदेश लेते रहना नही पडता। इस प्रकार 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही मन के विभिन्न कार्यों मे हेतु होने से विभिन्न नामो से पुकारा जाता है ॥२॥

फिर भी मन स्थूल देह का अग नही है—

देहातिरिक्तं मन ॥३॥

मन देह से भिन्न है।

कर्म सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम पुनर्जन्म का सिद्धान्त है और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम कर्म सिद्धान्त है। जिन कर्मो का फल इस जन्म मे नही मिलता उनको भोगने के लिये जन्मान्तर ग्रहण करना पडता है। इससे स्पष्ट है कि इस जन्म के अभुक्त कर्म सस्कार के रूप मे आत्मा के साथ लगे रहकर अगले जन्मो मे चले जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त मस्तिष्क सहित शरीर के भस्म हो जाने पर कर्मों के सस्कारो का भौतिक आधार तो सर्वथा नष्ट हो जाता है। अत यदि संस्कारो के अधिष्ठान अन्त करण का आधार मस्तिष्क आदि ज्ञान के साधनो को माना जाये तो देहान्त के साथ ही समस्त सस्कारो का भी अन्त मानना पडेगा और सस्कारो के अभाव मे पुनर्जन्म न हो सकेगा। अत सस्कारो का आधार कोई ऐसा होना चाहिये जो पूर्वजन्म के शरीर मे भी था और उस देह के भस्म हो जाने पर ज्यो-का-त्यो इस जन्म मे भी आत्मा के साथ चला आया है। अतः मस्तिष्क आदि अगो से भिन्न अन्त करण को मानना होगा जिसमे प्रत्येक अनुभव के सस्कार सचित रहते हैं और उन्हीं सस्कारो को साथ लिये वह जन्म-जन्मान्तर मे आत्मा के साथ जाता रहता है ॥३॥

जैसे मन देह से भिन्न है वैसे ही आत्मा से भी भिन्न है—

आत्मनश्चापि ॥४॥

और आत्मा से भी (मन भिन्न है)।

जिस प्रकार शरीर से अतिरिक्त मन की सत्ता है उसी प्रकार मन से भिन्न आत्मा की सत्ता है। इन्द्रियें, मस्तिष्क और मन आदि सभी आत्मा के साधन मात्र हैं। इनमे कोई भी ऐसा नही जो चेतनावान् हो और पदार्थों का अनुभव कर सकता हो। अत आत्मा और इन सब साधनो का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का अथवा साधक और साधन का है। इन्द्रियो तथा अन्त करण मे जो प्रकाश है वह आत्मा के सान्निध्य के कारण है। मन का काम सकल्प-विकल्प करना है। यदि मनुष्य सकल्प-विकल्प की इस प्रक्रिया को देख सकता है तो स्पष्ट है कि देखने वाला दृश्य से भिन्न है। विचार की प्रक्रिया 'मन' है। उस प्रक्रिया को देखने वाला मन से भिन्न है, वही 'आत्मा' है। जैसे शरीर और मन मे भेद है वैसे ही मन और आत्मा मे भेद है। जैसे द्रष्टा बन कर मन शरीर को देख सकता है वैसे ही मन को द्रष्टा बनकर आत्मा देख सकता है ॥४॥

इस मन के रहने का स्थान बताते हैं—

हृत्प्रतिष्ठम् ॥५॥

(मन का) आवास हृदय मे है।

मन के रहने का स्थान हृदय है। परन्तु कौन-सा हृदय ? हमारे शरीर मे दो हृदय है। उनमे से एक हमारी छाती के बायें भाग मे स्तन के नीचे और दूसरा सिर मे ब्रह्मरन्ध्र मे। इस दूसरे हृदय मे आत्मा और आत्मा के साथ प्राण का वास है। जैमे पुरुष की छाया सदा उसके साथ रहती है, वैसे ही प्राण छाया की भाँति आत्मा के साथ लगे रहते हैं। यद्यपि प्राण शरीर मे भिन्न-भिन्न स्थानो मे रहते हुए कार्य कर रहे है तथापि इन सबका केन्द्र शिर मे रहने वाला हृदय ही है—'शिरो वै देववाहनम्'। यही हृदय अन्त करण का आधार है। विज्ञानी आत्मा को जहाँ रहकर ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह स्थान भी यह मस्तिष्क वाला हृदय ही है। जिस गुहा (ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ—कठ. २-६-१६)मे उपासक आत्मा और उपास्य ब्रह्म एक साथ रहते हैं (ईश्वर सर्व-भूताना हृद्देशे तिष्ठति-गीता) वह हमारे शरीर के उत्कृष्ट भाग शिर मे विद्य-मान हमारा ब्रह्मरन्ध्र का मस्तिष्क वाला हृदय ही है। इसी मे अन्त करण-चतुष्टय का वास है ॥५॥

अब मन का आन्तर इन्द्रिय के रूप मे वर्णन करते है—

बहि ष्ठानीतरेन्द्रियाणि मनस्त्वन्तरिन्द्रियम् ॥६॥

जहाँ अन्य इन्द्रिया बाहर स्थित है वहा मन अन्दर रहने वाली इन्द्रिय है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिये बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पडता है, क्योकि विषयरूप भोग सामग्री बाह्य जगत् मे ही उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दु ख होता है।

आत्मा शरीर के भीतर रहता है। बाहर उसकी गति नहीं। इसलिये उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिये सम्पर्क अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिये एक ऐसे सहायक तत्त्व की आवश्यकता है जिसमे दोनो के गुण हो। अर्थात् आत्मा की भांति अभौतिक और शरीर की भांति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतो का विकार न होने से मन-बुद्धि-चित्त-अहकार इन चारो का सम्मिलित रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नही जा सकता। इसलिये वह सर्वथा अभौतिक है। परन्तु क्योकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अशो से बना है, इसलिये वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है और भौतिक होने के कारण इन्द्रियो के निकट है। इस कारण वह आत्मा और शरीर दोनो के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी को 'मन' कहते हैं। परन्तु मन भी शरीर से बाहर नही जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य सम्पादन के लिये उसे भी ऐसे सहायकों की अपेक्षा होती है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हो। इन्ही को इन्द्रिया कहते हैं। पचभूतो से उत्पन्न न होने पर भी भूतो के गुणों का ग्रहण कराने के कारण इन्द्रिया भौतिक कहाती हैं।

इन्द्रिया करण हैं, किसी के साधन हैं। साधारणतया बाह्य विषयो के साथ सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है। इसलिये बाह्य साधन की दृष्टि से इन्हे बाह्य करण कहा जाता है। परन्तु मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का साधारण अर्थ ग्रहण करने मे कभी भी बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये इन्हें अन्त करण कहा जाता है। स्मृति आदि स्थलो मे मन का अन्तर विषयो से सीधा सम्पर्क रहने से उसे आन्तर इन्द्रिय माना गया है। जिस प्रकार बाह्य विषयो के ज्ञान के निमित्त इन्द्रियो को अपने-अपने विषय मे प्रवृत्त करने के लिये मन की आवश्यकता है उसी प्रकार आन्तरिक अर्थो तथा व्यवहारो—मनन, चिन्तन, स्मरण, सकल्प—के ग्रहण करने के लिये भी अन्त करण अथवा आन्तर इन्द्रिय के रूप मे आत्मा को मन की आवश्यकता है। इन्द्रियो से स्वतंत्र रहकर भी मन भीतर के कार्यकलापो—सकल्प-विकल्प, चिन्तन-मनन, भूख-प्यास, सुख-दु ख का अनुभव, रक्त संचार, पाचनक्रिया आदि की व्यवस्था करता है ॥६॥

समस्त इन्द्रियों में मन इतना महत्त्वपूर्ण क्यो है। इसका कारण बताते हैं—

तच्च ज्ञानक्रिययोरधिष्ठानत्वादुभयात्मकम् ॥७॥

और वह (मन) ज्ञान और क्रिया दोनो में साधन रूप होने से उभयात्मक है।

बाह्यान्तर इन्द्रियो के बीच मे मन उभयात्मक है क्योंकि ज्ञानेन्द्रियो और

कर्मेन्द्रियो दोनो के साथ उसका सम्बन्ध है । मन के सहयोग के विना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय मे प्रवृत्त नही होती । जब आत्मा को बाह्य जगत् के जानने की इच्छा होती है तो वह अपनी इच्छाशक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहने वाली विचार तरग को उत्पन्न करता है । ये विचार तरग सवेदन-तन्त्रिकाओ (ज्ञानतन्तुओ) मे से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्र विन्दु से जा टकराती हैं जिसका वह विषय होता है । इस प्रकार बाहर के विषय से सम्बन्ध होते ही उसका स्वरूप लिये वह तरग उन्ही सवेदन तत्रिकाओ के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र मे लौट कर मन को सौंप देती है और इस प्रकार आत्मा को अपने इच्छित विषय का ज्ञान हो जाता है । ज्ञान को प्राप्त करने पर यदि उस विषय मे कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरक तत्रिकाओ (क्रिया-तन्तुओ) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म मे प्रवृत्त हो जाती है । ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर यदि मन सकल्प-विकल्प मे फस जाता है तो कर्मेन्द्रियो को आदेश देने से पहले वुद्धि से परामर्श कर लेता है । दोनो अवस्थाओ मे मन कार्य करता है । अत वह उभयात्मक कहाता है ॥७॥

अव मन के द्विविध कार्य का विस्तार से वर्णन करते हैं—

ज्ञानेन्द्रियाणामधिष्ठातृ दैवम् ॥८॥

ज्ञानेन्द्रियो का अधिष्ठाता दैव (मन) है ।

मन हृदय मे रहकर काम कर रहा है । शिवसकल्प विषयक मन्त्रो (यजु ३४,१-६) मे उसके दो भाग किये गये है–दैव तथा यक्ष । दैव मन का पाचो ज्ञानेन्द्रियो पर अधिकार हैं । अत सब ज्ञानेन्द्रिया उसी के नियन्त्रण मे रहकर काम करती है । प्रकाशमान और विषयो के प्रकाश का साधन होने से इन्द्रियो को 'देव' कहते हैं । इन देवो का नियामक होने से अन्त करण का यह भाग 'दैव' अथवा 'ज्योतिपा ज्योति' कहाता है । प्रकाश का ही अपर नाम ज्ञान है । अत ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य शक्ति जिन करणो मे विद्यमान है उन्हे इन्द्रिय कहते है, क्योकि ऐश्वर्य वाले की सज्ञा इन्द्र (चिदि ऐश्वर्ये) है । आत्मा का भी एक नाम इन्द्र है । समस्त इन्द्रिया आत्मा अर्थात् इन्द्र का ही काम करती हैं । इसलिये भी इनका नाम इन्द्रिय है ।

आत्मा से आदेश प्राप्त मन के द्वारा प्रेरणा पाकर ज्ञानेन्द्रिया अभीष्ट विषय से सम्पर्क कर तद्विपयक ज्ञान सूचना ज्ञान-तन्तुओ के द्वारा मन तक पहुचा देती हैं । जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसका उसी से सन्निकर्ष होता है । इन्द्रिया भौतिक हैं, भूतो से इनकी यथायथ उत्पत्ति होती है । जैसे पृथिवी से घ्राण, अग्नि से चक्षु आदि । अत प्रत्येक इन्द्रिय अपने आधारभूत तत्त्व के अर्थ को ही ग्रहण करती है, अन्य को नही । इसी कारण चक्षु का शब्द से अथवा नासिका

का रूप से सम्पर्क होना असम्भव है। मन के सयोग के विना कोई इन्द्रिय अपने विषय मे प्रवृत्त नही होती। कभी-कभी किसी विषय का अपनी इन्द्रिय पर प्रवल आघात मन की प्रेरणा न होने पर भी विषय से सम्वन्ध कर उसे जानने के लिये इन्द्रिय को विवश कर देता है। जैसे-सुपुप्तावस्था मे किसी मनुष्य को मेघगर्जन सुनने की कोई इच्छा नही हो रही। न उस अवस्था मे मन कोई कार्य कर रहा है। परन्तु अचानक ही मेघ के भयंकर गर्जन और विजली की कडक की ध्वनि उसके कान मे टकराकर उसे सुनने के लिये विवश कर देती है। ऐसी अवस्था मे भी यह नही कहा जा सकता कि मन के सयोग के विना इन्द्रिय अपने कर्म मे प्रवृत्त हो गई। वस्तुत यह सयोग और इसकी प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म तथा त्वरित है कि हम उसे अनुभव नही कर पाते।

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव तदु सुप्तस्य तथैवैति" (यजु. ३४-१)—वाह्याभ्यन्तर विषयो का प्रत्यक्ष करने के लिये दैव मन जैसे जाग्रत अवस्था मे इन्द्रियो की सहायया से कार्य करता है वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था मे भी आन्तर इन्द्रिय के रूप मे सस्कार रूपी चित्रो का प्रत्यक्ष करने मे सचेष्ट रहता है ॥८॥

मन का लिग-चिन्ह वताने के लिये कहा—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिर्मनसो लिङ्गम् ॥९॥

एक साथ (अनेक) विषयों की प्राप्ति न होना मन का लिग है।

चक्षु आदि इन्द्रियो के समान मन रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर रूप-रस-गन्ध आदि सभी विषयो को ग्रहण करता है। जव जिस विषय को ग्रहण करना चाहता है, उस विषय से सम्वन्ध रखने वाली इन्द्रिय से सम्पर्क कर उसके द्वारा अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार रूप-रसादि गुणरहित भी मन रूप-रसादि समस्त गुणो को ग्रहण करने मे समर्थ है। परन्तु सव विषयो को ग्रहण करने में पूर्णत. समर्थ और अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी वह एक काल में एक से अधिक विषय का ग्रहण नही कर सकता। गन्ध के समय रूपादि का तथा रूप के समय गन्धादि का अनुभव नहीं हो सकता। एक समय मे एक से अधिक इन्द्रियो से काम लेना और इस प्रकार एक से अधिक विषयो का ज्ञान प्राप्त करना मन के सामर्थ्य से वाहर है। भले ही एक साथ अनेक इन्द्रियां अपने-अपने ग्राह्य विषय से सम्वद्ध हो किन्तु जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का सान्निध्य होगा उस समय उसी के विषय का ज्ञान आत्मा को होगा। यदि उस समय मन आन्तर इन्द्रिय के रूप मे अन्तर्मुखी होकर गहन चिन्तन मे लीन होगा तो खुली होने पर भी न आख देख सकेगी और न कान सुन सकेंगे।

वाह्य ज्ञानेन्द्रिय का अपने अर्थ से सन्निकर्ष होने पर भी कभी ज्ञान होने और कभी न होने से भी स्पष्ट है कि जव ज्ञान होता है तो केवल उसी एक

विषय का होता है जो किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है और जिसे मन का सहयोग प्राप्त है। अर्थात् जब मन किसी इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है तो उसके ग्राह्य विषय का ज्ञान होता है, अन्यथा नही। अणु परिमाण होने से मन के लिये एक काल मे एक से अधिक इन्द्रिय के साथ सहयोग करना सभव नही। अत एक क्षण मे अनेक विषयो की प्राप्ति भी सभव नही ॥९॥

किन्तु हम एक साथ अनेक क्रियाओ को होता देखते हैं और मन के सहयोग के बिना ऐसा हो नही सकता। अतः एक काल मे अनेक विषयो की उपलब्धि सभव ही नही, प्रत्यक्ष है। इस आपत्ति को पूर्वपक्ष के रूप मे प्रस्तुत किया—

न युगपदनेकज्ञानक्रिययोरुपलब्धे. ॥१०॥

एक साथ अनेक ज्ञानो तथा क्रियाओ की उपलब्धि होने से (एक साथ अनेक विषयो की उपलब्धि न होना मन का लिंग) नही।

एक समय मे अनेक ज्ञानो तथा क्रियाओ का होना प्रत्यक्ष देखने मे आता है। एक व्यक्ति बैठा हुआ रेडियो द्वारा प्रसारित गाना भी सुन रहा है, समाचार पत्र भी पढ रहा है और किसी मित्र से बातें भी करता जाता है। मन्त्र भी बोलता जाता है और बायें हाथ से समिधा तथा दायें हाथ से स्रुवा मे घी भर कर आहुति भी देता जा रहा है। वाणी से किसी को कह रहा है कि कल आकर रुपये ले जाना और मन मे सकल्प कर रहा है–'कल इसके आने से पहले ही मैं घर से निकल जाऊँगा, नर्तकी गा भी रही है और नाचने की प्रक्रिया मे एक साथ हाथ, पैर, नेत्र, मुख आदि अगो का विभिन्न मुद्राओ मे सचालन भी कर रही है। इस प्रकार एक काल मे अनेक ज्ञानो तथा क्रियाओ का प्रत्यक्ष हो रहा है और 'यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते' के अनुसार इनमे से कुछ भी मन के सहयोग के बिना नही हो रहा। अत एक साथ अनेक विषयो की उपलब्धि न होने को मन का चिह्न या लक्षण मानना युक्तियुक्त नही है ॥१०॥

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं—

आशुसञ्चारात्तद्वत् प्रतीतिः ॥११॥

तीव्र गति के कारण ऐसी प्रतीति होती है।

अत्यधिक वेग के साथ मन के कार्य करने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। एक साथ अनेक ज्ञानो तथा क्रियाओ की प्रतीति केवल भ्रम है। वस्तुत मन विभिन्न इन्द्रियो के साथ क्रमपूर्वक सयुक्त होकर उस-उस विषय को ग्रहण करता है। परन्तु मन इतना चचल है–इतनी तीव्र गति से इधर उधर आता जाता है कि उसके क्रम को पकडना या अनुभव करना सभव नही। इस कारण विविध ज्ञानो तथा चेष्टाओ के वास्तव मे क्रमपूर्वक होने पर भी उनके एक साथ

होने का भ्रम हो जाता है। चित्रपट पर दिखाई देने वाला दृश्य न जाने कितने क्रमिक चित्रो का सश्लिष्ट रूप होता है, परन्तु तीव्र गति से चलने के कारण उनमे से प्रत्येक का पृथक् रूप दिखाई नही पडता। एक मिनट में सहस्रो वार घूमने वाला चक्र प्रत्येक क्षण मे अपना स्थान परिवर्तन करता है किन्तु देखने मे वह वैसा प्रतीत न होकर स्थिर जैसा ही दीखता है। फिर मन की गति का कहना ही क्या ! व्यावहारिक दृष्टि से हम समूचे वाक्य या पद को एक साथ पढ रहे प्रतीत होते है। परन्तु वास्तव मे वाक्य मे एक-एक पद का और प्रत्येक पद मे एक-एक वर्ण का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। प्रारम्भिक पाठ हम इसी प्रकार पढते हैं। परन्तु कालान्तर मे अभ्यास के कारण वैसा करते प्रतीत नही होते। लगता है कि जैसे हम पूरा वाक्य एक वारगी पढ गये। एक वर्ण के उच्चारण-काल मे दूसरे वर्ण का उच्चारण असभव है। परन्तु यह सब कार्य क्रमपूर्वक इतनी तीव्र गति से होता है कि उस क्रम को पृथक्-पृथक् रूप मे पकड पाना हमारे लिये असभव है। एक काल मे अनेक ज्ञान व क्रियाओ का आभासमात्र होता है। किन्तु वह यथार्थ न होकर केवल भ्रम है ॥११॥

अगले सूत्र के द्वारा मन के यक्ष रूप की व्याख्या की गई है—

कर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृ यक्षम् ॥१२॥

कर्मेन्द्रियो का अधिष्ठाता यक्ष मन है।

कर्मेन्द्रियो का अधिष्ठाता होने से उनके द्वारा होने वाले समस्त कार्य यक्ष मन के नियन्त्रण मे होते हैं। दैव मन और उसके अधीनस्थ इन्द्रिया सत्त्वगुण प्रधान तत्त्वो से वनी हैं। यक्ष मन मे रजोगुण प्रधान है और उसके अधीनस्थ कर्मेन्द्रियो का निर्माण भी रजोगुणप्रधान भूतो से हुआ है। अपनी इच्छाशक्ति के वल पर ही यक्ष मन कर्मेन्द्रियो को अपने-अपने कार्यों मे प्रवृत्त करता है। इन्द्रियो की तुलना मे मन अत्यन्त सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है। वह आत्मा के निकट भी है। अत. स्वय जड होता हुआ भी आत्मा के चैतन्य प्रभाव को ग्रहण कर चेतन की भाति कर्म करना आरम्भ कर देता है। इन्द्रियो तक उसकी पहुच है। अत उन्हे प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओ को पूर्ण करने मे समर्थ है। मन की अपेक्षा इन्द्रिया स्थूल हैं। अत आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को ग्रहण करने मे असमर्थ हैं। परन्तु प्राण तन्तुओ के द्वारा मन की दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर कर्म मे प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मा की इच्छा होने पर मन के आदेश मे पैर चलने लगते हैं, वाणी वोलने लगती है, आखो से आसू वहने लगते है, पायु तथा उपस्थ मल वाहर फेंकने लगते हैं।

जिस प्रकार दैव मन को भीतर के अनुभवो एव कार्यों मे वाह्य इन्द्रियो की अपेक्षा नही होती उसी प्रकार भीतर की क्रियाओ के करने मे यक्ष मन को भी इन्द्रियो की आवश्यकता नही होती। इसलिये विचारार्थ भीतर प्रश्नोत्तर

करते हुए वह वाणी के विना ही वोलता रहता है और विना पैरो से चल कर कही पहुच जाता है ।

सामान्य कार्यों के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन मे यज्ञादि के जितने अनुष्ठान करता है उनमे उसका यही मन यक्ष अथवा यजमान वनता है । "येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति" (यजु ३४-२)—वुद्धिमान् कर्मनिष्ठ विद्वान् जिसके द्वारा कर्मयज्ञो का अनुष्ठान करते हैं वह यक्ष मन ही है । जिस कर्मयज्ञ का यजमान मन है उसका व्रह्म आत्मा और ऋत्विक् इन्द्रिया हैं । इस सन्दर्भ मे गीता (३-७) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

> यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
> कर्मेन्द्रियै· कर्मयोगमसक्त स विशिष्यते ।।

अर्थात् जो इन्द्रियो को मन के वशीभूत कर और आसक्ति का परित्याग कर कर्मेन्द्रियो से कर्मयोग को आरम्भ करता है वह सर्वश्रेष्ठ है ।

एक क्षण के लिये भी मनुष्य निष्क्रिय नही रह सकता । जिस समय उसमे जो गुण प्रधान होता है उस समय उसी प्रकार के कर्मो मे उसकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये जव मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने यक्ष मन को सत्त्वगुणप्रधान बना लेता है तो उसकी समस्त क्रियाओ का प्रवाह आत्मिक शान्ति की ओर चल पडता है ।

आत्मा के एक लिंग ज्ञान का साधन दैव मन है तो उसके दूसरे लिंग प्रयत्न का साधन यक्ष मन है ।।१२।।

सुषुप्ति की अवस्था मे मन कार्य करना बन्द कर देता है और मन के बिना कुछ हो नही सकता । तव फिर उस अवस्था मे हो रहे कार्य कैसे होते है ? इस समस्या का समाधान अगले सूत्र द्वारा किया गया है—

धृतिश्च गूढव्यापृत मन ।।१३।।

अदृष्टरूप मे कार्य करने वाले मन की सज्ञा धृति है ।

यजुर्वेद (३४-१) के अनुसार मन जिस प्रकार 'जाग्रतो दूरमुदैति'—जाग्रतावस्था में कार्य करता है, 'सुप्तस्य तथैव'—उसी प्रकार सुषुप्तावस्था मे भी कार्य करता रहता है । परन्तु हम जानते हैं कि सुषुप्ति मे अपनी सहायक इन्द्रियो सहित मन, बुद्धि, चित्त—सभी तमोगुण से अभिभूत हो अपना-अपना काम बन्द कर देते हैं । सव शिथिल होकर—थक कर सो जाते हैं । चित्त के सस्कारो का व्यापार भी स्वप्नावस्था तक रहता हैं । गाढ निद्रा मे पहुचने पर शात हो जाता है । किन्तु उस अवस्था मे भी रक्त सचार, हृदय का स्पन्दन, प्राणो का सचालन, नियत समय पर आख खुल जाना आदि बहुत सी क्रियायें अव्यक्त रूप मे होती रहती है । कभी-कभी जव हम बुद्धि से किसी विषय मे निर्णय नही कर पाते तो थक कर या तग आकर विचार करना छोड देते हैं । प्रात· काल उठते ही

हम देखते हैं कि जिस विषय मे हम जाग्रत अवस्था मे भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कोई निश्चय नही कर पाये थे वह हमे हस्तामलकवत् प्राप्त हो गया। कभी कभी जाग्रत अवस्था मे भी ऐसा होता है कि जब हम किसी विषय का सर्वथा परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने पर भी याद न आने वाली बात बैठे बिठाये अपने आप याद आ जाती है–बिना बुलाये आ टपकती है। हम प्रात ४ बजे उठने का सकल्प करते हैं। सकल्प करके सो जाते हैं। ठीक ४ बजे बिना घडी का अलार्म बजे हमारी आख खुल जाती है--मानो हमे किसी ने हाथ पकड़ कर उठा दिया हो। क्या यह सब बिना किसी के किये अपने आप हो जाता है ? नही, यह ऐसी सत्ता है जिसके बिना कुछ नही हो सकता। जब गाढ निद्रा में तमोगुण की वृत्ति बुद्धि और चित्त सहित दैव और यक्ष मन को हाथ पैर बाध कर सुला देती है, तब आवश्यक कार्यों मे मन का 'धृति' नामक विभाग प्रवृत्त होता है। रात्रि सेवा (Night duty) के लिये यह स्थायी रूप मे नियुक्त है। जब निद्रा के कारण व्यापृत मन की शक्तिया शिथिल होकर शात हो जाती हैं और विघ्न डालने वाला कोई नही रहता तो धृति मन को एकाग्र होकर चिन्तन-मनन करने का अवसर मिलता है और इस कारण समस्या का तत्काल निर्णय हो जाता है।

धारण करने का नाम धृति है। अन्त करण के इस भाग का यह नाम उसके अनन्त शक्तियो के धारण करने के कारण पडा है। धृति मन जिस पदार्थ को एक बार ग्रहण कर लेता है उसे सभाल कर रखने और समय पर बिना मागे लौटा देने का उसका अभ्यास एव स्वभाव है। जड होते हुए भी अलार्म घड़ी की भाति धृति मन अपने अन्दर प्रवाहित भावना तरग के कारण नियत समय पर अपना कार्य कर डालने का अभ्यस्त है।

धृति मन का यह सब कार्य आत्मा के नियत्रण मे हुआ करता है। परन्तु स्वय आत्मा को भी इसका पता नही रहता। पता रहता तो निश्चिन्त होकर सो न पाता और प्रात उठने पर "आज तो सोने मे बड़ा आनन्द आया, दीन दुनिया का कुछ पता ही न रहा" न कह सकता। जैसे किसी मनुष्य को पैर हिलाते रहने या कागज़ लपेटते रहने की आदत पड जाती है। वह यह क्रिया करता रहता है, किन्तु उसे इसका अनुभव नही होता। ठीक इसी प्रकार आत्मा के धृति मन से अपने नियन्त्रण मे काम कराते हुए भी उसे यह पता नही रहता कि ये क्रियायें मैं ही कर-करा रहा हूँ। उसके ये कार्य चिरकाल के अभ्यास के कारण स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। धृति मन को उसने कुछ स्थायी निर्देश दे रक्खे हैं और वह तदनुसार कार्य करता रहता है। उसे हर बार आदेश लेने की आवश्यकता नही पडती ॥१३॥

मन का स्वरूप वर्णन करते हैं—

सङ्कल्पविकल्पात्मकं मन. ॥१४॥

सकल्प विकल्प करना मन का स्वभाव है ।

भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारो को जन्म देना मन का काम है। जीवन मे ऐमे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य दोराहे या चौराहे पर खडा होकर सोचता है—'किङ्करोमि क्व गच्छामि'—मैं क्या करू और कहा जाऊ। कर्तुमकर्तुम--न्यथाकर्तुम् समर्थ होते हुए भी वह कोई निर्णय नही कर पाता। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता" (गीता ४-१३)—बडे-वडे मनीषी किंकर्तव्यविमूढ हो जाते हैं। कर्म के विषय मे ही नही, ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता के विषय मे भी अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। स्वय मन के भीतर ही सघर्ष होता देखा जाता है। 'ऐसा करना उचित है या अन्यथा' का विचार करते-करते मनुष्य कभी-कभी भयकर मानसिक रोगो से ग्रस्त हो जाता है ॥१४॥

ऐसी अवस्था मे निर्णय लेने के लिये हमे बुद्धि के पास जाना पडता है। क्योकि—

व्यवसायात्मिका बुद्धि. ॥१५॥

निश्चय करने वाली वुद्धि है ।

बाह्य जगत् का ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा आन्तर इन्द्रिय मन की सकल्प-विकल्पात्मक सामग्री मस्तिष्क को सौंप दी जाती है। उस पर युक्तियो तथा प्रमाणो से तर्क-वितर्क करके निश्चय की स्थिति तक पहुचना वहा पर स्थित वुद्धि का काम है। साधारणतया दैव मन द्वारा प्राप्त सूचनाओ के आधार पर तत्काल निर्णय करके बुद्धि, यक्ष मन को कर्मेन्द्रियो को आवश्यक कार्यवाही मे प्रवृत्त करने का आदेश दे देती है। समस्या के गम्भीर होने पर यदि उस विषय मे कुछ और ज्ञातव्य होता है तो बुद्धि दैव मन को, और अधिक एकाग्र हो, उस विषय मे और अधिक जानकारी प्राप्त करने की प्रेरणा करती है। पूरी जानकारी मिल जाने पर बुद्धि अपना अन्तिम निर्णय दे देती है। कुछ करना आवश्यक होता है तो यक्ष मन को तदनुसार कार्य करने की प्रेरणा करती है। यदि उस विषय मे कोई कार्यवाही करना आवश्यक नही समझती तो उसे सस्कार के रूप मे चित्त को सौंप कर निश्चिन्त हो जाती है। इस प्रकार जहा किसी विपय का विवेचन कर उसका निर्णय करना बुद्धि का काम है वहा आवश्यकतानुसार दैवमन तथा यक्षमन से काम लेना भी उसका काम है। शिवसकल्प मन्त्रो मे इसी की सज्ञा 'प्रज्ञान' है।

इस समस्त क्रिया को मात्र शारीरिक अथवा यान्त्रिक नही माना जा सकता। भौतिकवादियो के अनुसार मस्तिष्क मे ही एक ऐसा स्थल है जहा सवेदनतन्त्रिकाओ (ज्ञानतन्तुओ) द्वारा वाह्य जगत् की जानकारी मस्तिष्क मे पहुच जाती है और वही से प्रेरक-तन्त्रिकाओ (क्रियातन्तुओ) द्वारा प्रेरणा पाकर कर्मेन्द्रिया

अपने कार्य मे प्रवृत्त हो जाती हैं। यह सारी प्रक्रिया मस्तिष्क द्वारा अपने आप होती रहती है। उनके मत मे शरीर एक स्वचालित यन्त्र के समान है। जैसे हम स्टेशनो पर रक्खी तोलने की मशीन मे १० पैसे का सिक्का डालते हैं और उस पर खडे होते ही मशीन मे से स्वत भारसूचक छपा हुआ टिकट बाहर निकल आता है वैसे ही किसी परिस्थिति विशेष के उपस्थित होने पर शरीर मे स्वतः क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगती है। बायें हाथ पर ततैया बैठते ही ज्ञान-तन्तुओ द्वारा मस्तिष्क को सूचना पहुचने पर क्रियातन्तुओ द्वारा दायें हाथ को सदेश मिल जाता है कि बायें हाथ पर पहुच कर ततैये को हटादो। तनिक सा विचार करने पर पता चलता है कि जिस प्रकार यन्त्र मे सदा एक जैसी अनुक्रिया होती है उस प्रकार मनुष्य मे सदा एक जैसी निश्चित अनुक्रिया नही होती। एक व्यक्ति पहाड से फिसल गया, किन्तु नीचे गिरता-गिरता रास्ते मे वृक्ष की टहनी पा उसे पकड़ कर लटक गया। उस समय उसके बायें हाथ पर ततैया बैठ गया। स्वचालित यन्त्र की भाति स्वत अनुक्रिया होने का अर्थ है कि वह तत्काल दायें हाथ से बाये हाथ पर बैठे ततैये को हटादे। परन्तु वह सोच मे पड जाता है—"यदि ततैये को नही हटाता तो वह काटेगा और उससे पीडा होगी। यदि हटाता है तो टहनी हाथ से छूट जायेगी और वह नीचे गिर कर मर जायेगा। मर जाने से तो ततैये के काटने से होने वाली पीडा को सहने मे ही कल्याण है।" अन्तत. वह टहनी को न छोड़ने का निर्णय करता है। सकल्प-विकल्प के बीच झूलते हुए यह निर्णय कौन करता है? निश्चय ही स्वचालित मशीन ऐसा नही कर सकती। यह काम 'प्रज्ञान मन' अथवा 'बुद्धि' के द्वारा होता है।

बुद्धि का लोक अन्त.करण का प्रकाशमय लोक है। शिवसकल्प मन्त्रो मे भी प्रज्ञान अथवा बुद्धि को 'अन्त ज्योति' (अन्दर की ज्योति अथवा प्रकाशस्वरूप) कहा है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश मे विषयो का सदा यथार्थरूप ही प्रकट हो। आख की पुतली पर पडे जाले की भाति तमोगुण के बढ जाने पर बुद्धि का प्रकाश भी धुधला पड जाता है। ऐसी अवस्था मे दूषित बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं देख पाती। कभी-कभी तो वह उसके स्वरूप के सर्वथा विपरीत देखने लगती है। अन्त करण को चेतन करने वाला आत्मा है और बुद्धि अन्त करण का ही एक भाग है। फलत. आत्मा का उस पर प्रभाव है। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है उसी प्रकार चैतन्य के प्रभाव को बुद्धि का क्षेत्र तत्काल ग्रहण करता है। अत आत्मा अपनी इच्छा शक्ति के बल से बुद्धि के क्षेत्र को नियन्त्रित कर उसे रजोगुण एव तमोगुण के पजे मे फसने से बचा सकता है। एतदर्थ उसे अपने अधिकार का प्रयोग करना होगा। चैतन्यरूप होने से आत्मा सबका स्वामी है। अन्त करण जड होने से उसके अधीनस्थ है। आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधीन इन्द्रिया—यह स्वाभाविक क्रम है। इतरथा अन्धपरम्परा ॥१५॥

अब अन्त करण के तृतीय अग 'चित्त' का विवेचन करते हैं—

स्मृत्यधिष्ठानं चित्तम् ॥१६॥

स्मृति का आधार चित्त है।

अन्त'करण का वह भाग जिसमे ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो के अनुभव सस्कार रूप मे अकित रहते है, चित्त कहाता है। मस्तिष्क मे काम करने वाले किसी विशेष ज्ञानतन्तु मडल को चित्त नही कहते। चित्त तो सत्त्व-रज-तम से बना हुआ विस्तृत तत्त्व है जिसमे इन गुणो के न्यूनाधिक्य के कारण कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। यही चित्त सस्कारो का आधार है। चित्त मे अनेकानेक वृत्तिया उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है किन्तु नष्ट होने पर भी उनका प्रभाव शेष रह जाता है जिसे वासना या सस्कार कहते है। सस्कारो से वृत्तिया और वृत्तियो से सस्कार बनते रहते हैं। यदि विरोधी भावनाओ से आत्मा इन्हे उखाड न फेंके तो ये सस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चित्त मे बने रहते हैं ॥१६॥

स्मृति का लक्षण करते हैं—

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृति· ॥१७॥

सस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहाता है।

इन्द्रियो द्वारा किसी विषय का अनुभव होने पर उसके सस्कार आत्मा मे सन्निहित हो जाते हैं। कालान्तर मे अनुकूल निमित्त अथवा उद्बोधक पाकर वे पुन ज्ञान के रूप मे उभर आते हैं। इस सस्कारजन्य ज्ञान का नाम 'स्मृति' है। यह 'याद आना' किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नही। अत मन=चित्त की सिद्धि मे स्मृति का प्रामाण्य स्वत सिद्ध है। जिस इन्द्रिय के द्वारा जो प्रथम जाना गया या किया गया था, कालान्तर मे उस इन्द्रिय का प्रयोग न होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त अनुभव की याद उसके सस्कारो के फलस्वरूप ही बनी रहती है। इस प्रकार इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान 'ज्ञान' कहाता है और सस्कारजन्य ज्ञान 'स्मृति' ॥१७॥

अब स्मृति का स्वरूप कथन करते हैं—

अनुभवानुरूपमर्थस्य स्मरणं स्मृतिः ॥१८॥

अनुभव के अनुरूप अर्थ का स्मरण होना स्मृति है।

पहले कभी इन्द्रियो के द्वारा जैसा जाना था वैसा ही स्मरण होना स्मृति कहाता है। जैसा कोई पदार्थ देखा सुना जाये पदार्थ के न रहने पर भी वह वैसा ही जान पडे—यह उसका स्मरण है। कैमरे की प्लेट पर हाथी का मात्र आकार ही आता है और वह भी उतना बडा जितनी बडी प्लेट। किन्तु मन की प्लेट पर हाथी उतना ही बडा अकित होता है जितना बडा देखा जाता है।

कैमरे की प्लेट पर आम का केवल आकार वन कर रह जाता है। परन्तु जव हमे खाये हुए आम का स्मरण होता है तो उसके रूप, रग, आकार, भार, स्वाद, गन्ध आदि सभी का मानस प्रत्यक्ष होता है। जव किसी मित्र का स्मरण होता है जो हमे एक सप्ताह पूर्व मिला था तो उसके रूपरग, वेषभूषा, अंगो का सचालन, वातचीत आदि सव वैसा ही दिखाई सुनाई देने लगता है जैसा मिलते समय देखा सुना था। इस प्रकार अतीत का ज्यो का त्यो स्मरण होना ही स्मृति कहाता है ॥१८॥

जन्मजन्मान्तर के और इस जन्म के भी अनुभवो के सस्कार चित मे कहा-कहा दवे पडे रहते हैं—इसका हमे ज्ञान नही होता। जव कोई सस्कार ऊपर आकर स्मृति के रूप मे प्रकट हो जाता है तभी हम उसे जान पाते हैं। परन्तु कभी-कभी प्रयाम करने पर नही जान पाते। अगले सूत्र मे इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है—

सचेतनावचेतनाचेतनभेदात्तिस्रोऽवस्थाश्चित्तस्य ॥१९॥

सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन भेद से चित्त की तीन अवस्थायें हैं।

कुछ मस्कार तो स्मरण करते ही अनायास हमारे स्मृति पटल पर उभर आते है। कुछ ऐसे होते हैं जो प्रयास करने पर उद्‌भूत हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते है जिन्हे हम प्रयास करने पर भी नही ढूढ पाते। चित्त अथवा चेतना के विभिन्न स्तरो के कारण ऐसा होता है। चेतना की तीन अवस्थायें है—सचेतन अवचेतन तथा अचेतन। सचेतनावस्था नदी के जल की ऊपरी सतह के समान है। पानी की ऊपरी सतह के नीचे जो पानी है वह अवचेतनावस्था का प्रतीक है। अचेतनावस्था धरती के धरातल को स्पर्श करती हुई जलधारा के समान है।

जिन अनुभवो को प्राप्त किये अधिक समय नही वीता होता अथवा समय-समय पर आवश्यकता पडते रहने मे जो हमसे दूर नही हो पाते उनके सस्कार जल की ऊपरी सतह पर तैरते हुए पदार्थो के समान हैं। ये सस्कार हमारे सचेतन मन मे वने रहते हैं और आवश्यकता होने पर सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

कभी-कभी चित्त के गहरे जल मे ध्यान की डुवकी लगाकर ही हम अपने अभीष्ट सस्कार को जगाने मे समर्थ होते हैं। प्राय' अनुभवकाल मे की गई हमारी उपेक्षा इसमे कारण होती है। यदि अनुभव के समय मनन तथा निदि-ध्यानन से मस्कार को परिपक्व कर चित्त को अर्पण किया जाये तो अवचेतन चित्त निश्चय ही उसे सभाल कर रखता है और आवश्यकता पडने पर उसे निकालकर दे देता है। परन्तु इसके लिये उससे कुछ कहना सुनना पडता है और कार्यसिद्धि में कुछ समय भी लगता है। कभी-कभी किसी प्रवल सहकारी

सस्कार के उद्भूत होने पर ही अपेक्षाकृत निर्वल सस्कार की स्मृति हो पाती है। जैसे—किसी व्यक्ति को साधारणतया न पहचान पाने पर भी हम उसे एक झटके के साथ तव पहचान जाते हैं जव वह हमे याद दिलाता है कि एक वार रात्रि के समय भयकर वर्षा और आधी से वचने के लिये वह हमारे बरामदे के कोने मे चुपचाप बैठ गया था और हमने चोर समझकर उसे ललकारा था। पर्याप्त समय तक प्रयोग मे न आने के कारण भी कुछ सस्कार निर्वल पड जाने से अवचेतनावस्था मे चले जाते हैं। थोडे से प्रयास से ही वे वाहर आ जाते हैं।

कभी-कभी गहरा गोता लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट सस्कार को नही जगा पाते। अत्यधिक प्रयास करने—वार-वार माथा टकोरने पर भी हमे सफलता नही मिलती। इनमे कुछ सस्कार तो ऐसे होते हैं जिन्हे हम सर्वथा अनुपयोगी समझकर कूडे करकट की कोठरी मे डाल देते हे। तव कभी अकस्मात् आवश्यकता पड जाने पर भी हमारे लिये उन्हे ढूंढ निकालना सम्भव नही रहता। कभी-कभी दूषित विचारो के आने पर हम उन्हें मन मे से धकेल कर बाहर फेक देते हैं। परन्तु एक वार आने वाला जाने का नाम नही लेता। इसलिये वाहर जाने की वजाय वे हमारे मन के एक कोने—अन्तस्तल अथवा अचेतन स्तर मे छुपकर जा वैठते हैं। कुछेक को हम स्वय समाज भय के कारण छुपाकर विठा देते हैं। कुछ सस्कार हमारी अतृप्त वासनाओ से उद्भूत होते हैं। ये सभी अचेतन मे जमा हो जाते हैं। किसी भी सस्कार का सर्वथा नाश नही होता किसी भी अवस्था मे वह रहे, रहेगा अवश्य। ऐसे उपेक्षित अथवा दवे पडे सस्कार भी कभी-कभी विना वुलाये आ धमकते हैं और हम उन्हे पहचानने को विवश हो जाते हैं। स्वप्नावस्था मे न जाने कब-कव के और कहा-कहा के सस्कार विभिन्न रूपो मे प्रकट हो जाते हैं। अचेतनावस्था को प्राप्त सस्कार मनुष्य के विक्षिप्त अथवा मूर्च्छित हो जाने पर मुखर हो जाते हैं। कोई-कोई सस्कार मानसिक तनाव मे वदल कर रोग का रूप धारण कर लेते हैं ॥१९॥

अन्त मे अन्त करण के चतुर्थ अग 'अहकार' का निरूपण करते हैं—

अहंवृत्तिकोऽहङ्कार ॥२०॥

अह जिसकी वृत्ति है वह अहकार है।

आत्मा अपने लिये सदा 'अहम्' पद का प्रयोग करता है। इस अवस्था मे अन्त करण मे आत्मा का भान होता है। अभिमान (मैं) की भावना का साधन होने से उसकी सज्ञा 'अहकार' है जो धृति मन का वह रूप है जिसमे आत्मा की शक्तियो का आभास होता है। स्वाग्रह अथवा शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा मे अहकार की ही अभिव्यक्ति है। चेतना मे वर्तमान जीवन की प्रेरणा देने वाला मूलस्रोत अहकार ही है ॥२०॥

अगले कुछ सूत्रो मे मन की कतिपय शक्तियो एवं उसके गुणो का उल्लेख किया है—

सुषारथिमनः ॥२१॥

मन चतुर सारथी है।

अच्छा सारथि घोडो को जिधर चाहता है चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और वलिष्ठ होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोडे इतने सधे हुए हो कि उनका एक-एक पग सारथि की इच्छानुसार पडे। सारथि के घोडो को नियन्त्रण मे रखने के लिये रस्सी की आवश्यकता होती है। वेद मे ऐसी रस्सी को 'अभीशु' नाम से पुकारा गया है। 'अभीशु' का पदार्थ है—अभि=सम्मुख—इशु=ऐश्वर्यवाला अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना। मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ मे 'अभीशु' का अर्थ होगा—सचालन तथा नियन्त्रण मे समर्थ। समर्थ सारथि वही होगा जिसमे अपनी शक्तियो का इच्छानुसार प्रयोग करने का साहस होगा। जाग्रत तथा सुषुप्तावस्था मे दूर-दूर तक दौड़ लगाने वाले मन को यदि वह कान पकडकर नही विठा सकता और इसके विपरीत स्वय उनका अनुगामी वन जाता है तो उसे 'सुषारथि' क्या, सामान्य अर्थों मे भी सारथि नही कहा जा सकता। अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न यथास्थान पहुचाने वाला ही सुषारथि पद का अधिकारी है ॥२१॥

जविष्ठमजिरम् ॥२२॥

(मन) सर्वाधिक वेगवान् तथा कभी जीर्ण न होने वाला है।

भौतिक जगत् मे प्रकाश की गति सवसे तीव्र मानी जाती है—एक सेकण्ड मे एक लाख छियासी हज़ार मील। किन्तु मन की गति का गणित की भाषा मे निश्चय करना असम्भव है। इसीलिये उसके लिये आतिशय्यवोधक 'जविष्ठ' पद का प्रयोग किया गया है। जविष्ठ मन वड़ी से वडी वाधा आने पर भी कार्य सिद्धि से पहले नहीं रुकेगा। मनस्वी व्यक्ति ही "कार्यं वा साधयेय शरीर वा पातयेयम्" जैसी घोषणा करने का साहस कर सकता है। यही जविष्ठ मन स्वेच्छाचारी हो जाने पर क्षण भर मे मनुष्य को मृत्यु के मुख मे धकेल देता है। यमनियमादि के द्वारा इसकी वृत्तियो को वश मे करना ही योग है।

इन्द्रियो के शिथिल, निष्क्रिय अथवा नष्ट हो जाने पर भी मन की सत्ता यथायथ वनी रहती है। शरीर के वूढा हो जाने पर भी मन जवान वना रहता है। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' भर्तृहरि के इस कथन मे मन के 'अजिर' होने की ही प्रकारान्तर से व्याख्या है ॥२२॥

त्रिकालज्ञानसाधनम् ॥२३॥

तीनो कालो का ज्ञान कराने वाला है ।

यजुर्वेद (३४-४) मे मन की शक्तियो का वर्णन करते हुए कहा है–"येनेद भूत भुवन भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्"–यह मन भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब पदार्थों को ग्रहण करने वाला है । यह ठीक है कि जड होने के कारण मन मे ज्ञान नही है और अल्पज्ञ होने के कारण आत्मा भी त्रिकालज्ञ नही है । किन्तु आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो अल्पज्ञ होते हुए भी अपने अन्दर विशाल ज्ञान के भण्डार का सग्रह करने का सामर्थ्य रखता है और उसके ससर्ग से अथवा उसका साधन होने के कारण मन को उस ज्ञान से सम्बद्ध माना जा सकता है । जो आज क-ख-ग भी नही पहचानता, एक दिन आता है जव वह पूछे जाने पर वता देता है कि आज से ५ वर्ष पूर्व सूर्यग्रहण कब हुआ था अथवा आज से १० वर्ष वाद कव होगा । इसी प्रकार अन्य ग्रहो की गति और उनके उदयास्त की व्यवस्थादि के सम्वन्ध मे भी यथार्थ उत्तर दे सकता है । इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर वह भविष्यत् की योजनायें वनाता है । स्वाध्याय, अनुभव, परीक्षण तथा ज्ञानियो के ससर्ग से आत्मा का ज्ञान वढता हुआ नित्यप्रति देखा जाता है । ज्ञानी जीवात्माओ की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनन्त है । सत्त्वगुण प्रधान हो जाने पर जव जीवात्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपने ज्ञान को न जाने कितना वढा लेता है । उस अवस्था मे त्रिकालज्ञ, तत्त्वदर्शी परम पुरुष का ज्ञान जीवात्मा को अपनी शक्ति से सम्पन्न करने लगता है । जव साधारण मनुष्य भी स्वामी के निकट होने पर उसके ऐश्वर्य को अपना कहने लगते हैं तो मुक्ति पर्यन्त आत्मा का साथ देने वाले मन को तादात्म्यभाव से त्रिकालज्ञ कह दिया जाये तो विशेष आपत्ति की वात नही ।

परन्तु उस अवस्था मे भी जीवात्मा परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नही वन सकता । परमात्मा के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने की न उसे आवश्यकता है और न उसमे सामर्थ्य । अत जीवात्मा को उतना ही ज्ञान प्राप्त होता है जितने की उसके जीवन मे उपयोगिता सभव है । मन्त्र मे 'भूत-भविष्यत्-वर्तमान' से पूर्व 'इदम्' पद जोडे जाने से वे ही पदार्थ अभिप्रेत है जो जीवात्मा के सन्निहित हैं । यजुर्वेद (३८-२६) का यह मन्त्र इस विपय को सर्वथा स्पष्ट कर देता है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे, तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षित मयि गृह्णाम्यक्षितम् ।

इस मन्त्र मे प्रयुक्त दो शब्द–ऊर्जा तथा तावन्तम्–वडे महत्त्वपूर्ण हैं । 'ऊर्जा' पद से दो भाव झलकते हैं । एक तो यह कि जीवात्मा प्रकट कर रहा है कि मेरी शक्ति इतने ही पदार्थों का ज्ञान ग्रहण करने तक सीमित है और दूसरा

यह कि मैंने अपने सत्त्वगुण प्रधान मन की ज्ञान ग्रहण की शक्ति को जागृत कर लिया है। 'तावन्तम्' भी पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा मे भूलोक और द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की उसे अपेक्षा है ॥२३॥

ज्ञानमात्रस्याधिष्ठानम् ॥२४॥

सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय है।

आत्म दर्शन अथवा ईश्वरीय शक्तियो का प्रकाश होने पर मन, बुद्धि आदि अन्त करण के सभी अग चमक उठते हैं। तव चित्त मे प्रतिभा शक्ति का उदय होता है। उससे सूक्ष्म से सूक्ष्म, छिपी हुई, दूरस्थ एव अतीत की वस्तुओ का ज्ञान होने लगता है। जीवात्मा आन्तर एव वाह्य सब तत्त्वो की यथार्थता-उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। सृष्टि के सब रहस्य हस्तामलकवत् उसे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। सब भावो के अधिष्ठाता परम पुरुष के गुणो का आभास होने पर समस्त ज्ञान उसे अपने भीतर प्रतिष्ठित दीखता है। ज्ञान का पर्याय वेद है। "यस्मिन्नृच सामयजूषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभावाविरा"—समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत ऋग्वेदादि उसे अपने भीतर वैसे ही ओतप्रोत दीखते हैं जैसे रथ की नाभि मे अरे। वस्तुत जीवात्मा के लिये अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान उसमे सन्निहित है। शिक्षा, अभ्यास, ईश्वरोपासना आदि साधनो के द्वारा उसका प्राकट्यमात्र होता है ॥२४॥

काम सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन ॥२५॥

काम, सकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी और भी—ये सभी मन हैं अर्थात् ये सब मन की वृत्तिया हैं ॥२५॥

शुभाशुभगुणानामिच्छा काम ॥२६॥

उत्तम व्यवहारो का आचरण करने और बुरो को छोड देने का नाम 'काम' है ॥२६॥

तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा सङ्कल्प ॥२७॥

शुभ गुणो को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करने की इच्छा 'सकल्प' है ॥२७॥

संशय्य निश्चयकरणेच्छा विचिकित्सा ॥२८॥

प्रथम शका करके ठीक निश्चय करने के लिये किया गया सन्देह 'विचिकित्सा' है ॥२८॥

सत्यादिगुणेष्वत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा ॥२९॥

सत्य आदि गुणो मे निश्चय से विश्वास करने का नाम 'श्रद्धा' है ॥२९॥

अधर्मादिषु सर्वथाऽविश्वासोऽश्रद्धा ॥३०॥

अधर्म, अन्याय आदि दुर्गुणो से विरत रहना 'अश्रद्धा' कहाती है ॥३०॥

सुखदुःखहानिलाभेष्वपि धर्माऽत्यागोधृतिः ॥३१॥

सुख-दु ख, हानि-लाभ होने पर भी धर्म पर अडिग रहना 'धृति' कहाती है ॥३१॥

तद्विपरीता अधृति ॥३२॥

इसके विपरीत व्यवहार को 'अधृति' कहते है ।

सत्यधर्मानाचरणेऽसत्यधर्मावरणे सकोचो ह्री ॥३३॥

सत्कर्मो के न करने तथा असत्कर्मों के करने मे जो सकोच होता है उसे 'ह्री' कहते हैं ।

शुभगुणधारिका वृत्तिर्धी ॥३४॥

श्रेष्ठ गुणो को धारण करने वाली वृत्ति का नाम 'धी' है ॥३४॥

पापाचरणे भयवृत्तिर्भी. ॥३५॥

पाप कर्म करने मे डरते रहना 'भी' है ।

अव साक्षात्कार के लिए आवश्यक साधनो का निरुपण करते हैं—

श्रवण मनन निदिध्यासनञ्च साधनत्रय साक्षात्कारार्थम् ॥३६॥

श्रवण-मनन-निदिध्यासन—ये तीन साक्षात्कार के साधन हैं ।

जव तक लक्ष्य की प्राप्ति—ब्रह्म का साक्षात्कार न हो तव तक इन साधनो का अनुष्ठान आवश्यक है । किसी एक साधन द्वारा याथातथ्य ज्ञानार्जन सभव नही । निदिध्यासन पर्यन्त सभी साधन समान रूप से अनुष्ठेय हैं । इतना ही नही, प्रयोजन पूरा होने तक साधनो का निरन्तर अभ्यास तथा उनकी आवृत्ति भी अपेक्षित है ॥३६॥

अगले सूत्रो मे साक्षात्कार तथा उसके साधनो—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की व्याख्या की गई है—

स्वरूपागमनं साक्षात्कारः ॥३७॥

किसी वस्तु के स्वरूप–गुण–कर्म–स्वभाव को याथातथ्य जान लेना 'साक्षात्कार' है ॥३७॥

ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा गुरुवचनादान श्रवणम् ॥३८॥

शान्तचित्त हो एकाग्रमन से गुरु (आप्त पुरुषो) के उपदेश को ग्रहण करना 'श्रवण' कहाता है। इसी का निर्देश करने के लिये उपनयन तथा वेदारम्भ सस्कार के समय आचार्य शिष्य को 'मम वाचमेकमना जुषस्व' की प्रेरणा करता है। मन के सयोग के विना न आख देख सकती है और न कान सुन सकते हैं। अत साक्षात् गुरुमुख से उपदेश ग्रहण करते समय अथवा स्वाध्याय द्वारा परोक्षरूप से उनके सान्निध्य मे चित्त की वृत्तियो का निरोध करके एकाग्रमन होना अनिवार्य है ॥३८॥

श्रुतस्य चिन्तनमेकान्ते मननम् ॥३९॥

सुने हुए पर एकान्त देश मे वैठकर विचार करना 'मनन' है।

श्रवण का वल मनन है। 'मय्येवास्तु मयि श्रुतम्'—जो हम सुनें वह हमारे भीतर रहे। सुने हुए का जव तक अच्छी तरह मनन नही किया जाता तो न वह पूरी तरह समझ मे आता है और न वह स्थिर अथवा दृढ होता है। युक्तियो से ज्ञान का अनेकविध परीक्षण आवश्यक है। वक्ता अथवा ज्ञानियो के सानिध्य मे मन मे उठने वाली शकाओ का समाधान अनिवार्य है। हम नित्यप्रति कितनी ही वातो को जानते और भूलते रहते हैं। ज्ञान प्राप्त करते समय हमारी उपेक्षा ही हमारी विस्मृति का कारण होती है। अत प्राप्त ज्ञान को परिपक्व करने के लिए उसका गम्भीरतापूर्वक मनन करना आवश्यक है ॥३९॥

ध्यानयोगादात्मनि चित्ताधान निदिध्यासनम् ॥४०॥

अवधान से मन को एकाग्र कर आत्मा मे उसकी प्रतिष्ठा करना 'निदिध्यासन है। एक वार उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह केवल शब्द-ज्ञान है। मनन के द्वारा उसमे परिपक्वता एव स्थैर्य आता है। परन्तु इतने से साक्षात्कार नही होता। उस ज्ञान को आत्मा के कोष मे स्थापित करना निदिध्यासन कहाता है। निदिध्यासन उस अवस्था का नाम है जिसमे मनुष्य समाधिस्थ हो यह देखता है कि जैसा सुना था और मनन द्वारा निश्चय किया था वैसा ही है। श्रवण तथा मनन द्वारा प्राप्त ज्ञान का एक प्रकार से यह मानस प्रत्यक्ष है।

वृहदारण्यक उपनिषद (४-५-६) का वचन है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य."। जव तक व्रह्म का साक्षात्कार नही हो

जाता तब तक श्रवण-मनन-निदिध्यासन की प्रक्रिया चालू रखना आवश्यक है ॥४०॥

किन्तु इतने शक्तिशाली और सक्रिय होने पर भी इन्द्रियो व मन मे कर्तृत्व या भोक्तृत्व नही है । क्योकि—

कर्त्ता भोक्ता हि जीवात्मा देहेन्द्रियान्त करणजडत्वात् ॥४१॥

देह, इन्द्रिय और अन्त करण के जड होने से कर्त्ता व भोक्ता निश्चय ही आत्मा है ।

मूल प्रकृति से लेकर पचभूतपर्यन्त जितने तत्त्व हैं सब जड प्रकृति के परिणाम है । इन्ही मे मन, बुद्धि, चित्त और अहकार हैं । अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी मन प्रकृति का ही विकार है । द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता होने के लिए चेतना चाहिए । जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नही हो सकती । अत मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधन के रूप मे की गई है, ज्ञाता के रूप मे नही ।

आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नही है । उसकी स्वतन्त्र सत्ता है । आत्मा चेतना का आश्रय है । आत्मा के अत्यन्त निकट होने से मन, इन्द्रिय आदि मे भी चेतना की चमक उत्पन्न हो जाती है । तत्त्वत इनका निर्माण प्रकृति मे होने के कारण ये भौतिक एव जड हैं । इनमे जो चेतना की झलक दीख पडती है वह आत्मा के सान्निध्य—उसकी समीपता के कारण है—जैसे स्फटिक मणि मे समीपस्थ फूल का रग अथवा लोहे मे चुम्बक की शक्ति ।

अन्त करण के द्वारा जितने ज्ञान तथा अनुभव होते हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा है । अन्त करण, इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जड होने से साधन मात्र हैं जिनका उपयोग आत्मा करता है । ये ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता नही । इन्द्रियो तथा मन मे प्रकाश है अवश्य । परन्तु वैसा नही जिसे चैतन्य कहा जा सके । सूर्य मे प्रकाश है और वह अपने प्रकाश से वृक्ष को प्रकाशित भी कर देता है । परन्तु जड होने से यह नही जानता कि 'यह वृक्ष है' । इसी प्रकार मन और इन्द्रिया ससार के पदार्थों को प्रकाशित तो कर देती हैं । परन्तु उन्हे जान नही पाती । जानने की शक्ति जीव मे है जिसमे स्वय अपना प्रकाश अथवा चैतन्य है । सूर्य के प्रकाश मे चक्षु के द्वारा वृक्ष को देखकर जीवात्मा कहता है—'यह वृक्ष है ।' ऐसा न सूर्य कह सकता है और न चक्षु, क्योकि अनुभव का आश्रय जो आत्मा का चैतन्य है वह न सूर्य मे है और न चक्षु मे ।

चेतन होने से जीवात्मा ही देहेन्द्रिय तथा अन्त करणादि साधनो के द्वारा कर्त्ता और भोक्ता है । जैसे श्रोत्रादि वहिष्करणो से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयो को ग्रहण करके जीव सुखी-दु खी होता है वैसे ही अन्त.करण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहकार के द्वारा सकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान का करने वाला जीवात्मा ही पाप-पुण्य कर्त्ता तथा उनके फलस्वरूप सुख-दु ख का

भोक्ता होता है। वही शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा तथा हर्ष-शोक को अनुभव करता है। जिस प्रकार तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नही उसी प्रकार देहेन्द्रिय, अन्त करण और प्राणरूप साधनो से पाप-पुण्य का कर्त्ता जीव ही सुख-दु ख का भोक्ता है, जड अन्त करणादि नही ॥४१॥

प्राणियो का मन सदा किसी न किसी कार्य मे सलग्न रहता है। सदैव चचल व वदलती रहने वाली मन की दशाओ अथवा योग की परिभाषा मे प्रत्यय अर्थात् परिदृष्ट मनोभाव या वोधसमूह को वृत्ति कहा गया है। ये वृत्तिया असख्य हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी पाच वर्गों मे परिगणित हैं। वे वर्ग हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः मनोवृत्तयः ॥४२॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाच मनोवृत्तिया हैं ॥४२॥
अव क्रमपूर्वक इन पाचो वृत्तियो की व्याख्या करते हैं—

भूतार्थप्रतिष्ठं यथार्थज्ञान प्रमाणम् ॥४३॥

यथाभूतवोध अथवा यथारूपप्रतिष्ठ यथार्थज्ञान 'प्रमाण' कहाता है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सभव, और अभाव—ये आठ प्रमाण हैं। शब्द प्रमाण का ही अपर नाम आगम प्रमाण है। इन प्रमाणो के द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है ॥४३॥

अतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञान विपर्ययः ॥४४॥

अन्य मे अन्य की भावना करके होने वाला मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' कहाता है।

मिथ्याज्ञान वह चित्तवृत्ति है जो पुरोवर्त्ती वस्तुतत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित नही होती, जैसे—अन्धकार आदि दोष के कारण रज्जु को सर्प या सीप को चादी समझ वैठना। किसी पदार्थ का अपने मे भिन्न दीखना किन्ही दोषो के कारण होता है। ये दोष साधन (इन्द्रियादि) गत भी हो सकते हैं और विषय एव सस्कारगत भी। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान का ही एक नाम अविद्या है जो पञ्चपर्वा अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश सज्ञक पाच क्लेशो से युक्त है। यही यथाक्रम तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र भी कहाते हैं। तत्त्वज्ञान मे विपर्यय का नाश हो जाता है ॥४४॥

वस्तुशून्यत्वेऽपिशब्दज्ञानजन्यो विकल्प ॥४५॥

विषयगत वस्तु न होने पर भी शब्दज्ञान से उभरने वाली वृत्ति 'विकल्प' कहाती है। विकल्प मे शब्द होता है किन्तु वस्तु नही; पद होता है, पदार्थ नही।

ऐसा अभेद मे भेद की और भेद मे अभेद की कल्पना के कारण होता है। यह लोक व्यवहार है। "पानी से हाथ जल गया" सभी कहते, सुनते और स्वीकार करते है। पानी मे जलाने वाली अग्नि नही है। परन्तु पानी से छूते ही हाथ जल जाने पर हम पानी और आग के भिन्न होते हुए भी उनके एक होने की कल्पना कर लेते हैं और और इस प्रकार वस्तु=अग्नि न होने पर भी शब्द ज्ञान मात्र से पानी से हाथ का जलना मान लेते है। इसी प्रकार हम 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य' तथा 'राहु का सिर' जैसे प्रयोग करते हैं। वस्तुत चितिशक्ति ही पुरुष है अर्थात् पुरुष और चैतन्य एक ही हैं। इसी प्रकार राहु और सिर एक हैं, सिर से भिन्न राहु का अस्तित्व नही है। तथापि जैसे हम पानी और आग मे–भेद मे अभेद की कल्पना करते हैं, वैसे ही यहा अभेद मे भेद की कल्पना कर पुरुष और चैतन्य तथा राहु और सिर मे एकता रहने पर भी व्यवहार सिद्धि के लिये उन्हे भिन्न कहना वैकल्पिक व्यवहार है।

विकल्पवृत्ति का अन्तर्भाव न प्रमाणवृत्ति मे हो सकता है और न विपर्यय वृत्ति मे। प्रमाणवृत्ति और विपर्ययवृत्ति दोनो मे वस्तु का सद्भाव आवश्यक है जवकि विकल्प वृत्ति का उद्भावन विषयवस्तु के अभाव मे होता है। प्रमाण-वृत्ति यथार्थज्ञान है जवकि विपर्यय वृत्ति तथा विकल्पवृत्ति दोनो मिथ्याज्ञान हैं। परन्तु विपर्यय वृत्ति तभी तक रहती है जब तक भ्रम रहता है। भ्रम दूर होते ही ज्ञाता रज्जु को रज्जु और सीप को सीप कहने लगता है। परन्तु विकल्प वृत्ति मे यह स्थिति नहीं आती। यह जान लेने पर भी कि पानी का स्वभाव शीतल होने से उसमे जलाने की शक्ति नही है मनुष्य वार-वार यही कहता है कि 'पानी से हाथ जल गया'। इस प्रकार वस्तु के सद्भाव मे यथार्थज्ञान प्रमाणवृत्ति है, वस्तु के सद्भाव मे मिथ्याज्ञान (अवसान की सभावना के साथ) विपर्यय वृत्ति है और वस्तु के अभाव मे मिथ्याज्ञान विकल्पवृत्ति है। वस्तु के न होने पर भी तद्विषयक उच्चरित शब्द से होने वाने ज्ञान के प्रभाव से ही श्रोता के मन मे इस वृत्ति का उदय हो जाता है ॥४५॥

तमसावृता वृत्तिर्निद्रा ॥४६॥

तमोगुणप्रधान वृत्ति 'निद्रा' है। निद्रा नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। जाग्रतकाल मे ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रिया और अन्त.करण चेतनभाव से चेष्टा करते हैं। स्वप्नकाल मे ज्ञानेन्द्रिया तथा कर्मेन्द्रिया जड अर्थात् निश्चेष्ट रहती हैं। केवल चिन्ताधिष्ठान सक्रिय रहता है। सुषुप्ति मे समस्त इन्द्रिया तथा चिन्ता-धिष्ठान सर्वथा निश्चेष्ट रहते हैं। अत इन्द्रियो और मन से होने वाले अनुभवो का उस अवस्था मे सर्वथा अभाव रहता है। वाह्यान्तर ज्ञानाभाव की प्रतीति भी एक ज्ञान है जो निद्रा की अवस्था मे होता है। यदि ऐसा न होता तो जागने पर कोई 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मुझे कुछ पता नही) के साथ ही 'सुख-

महमस्वाप्सम्' (मैं सुख से सोया) कैसे कहता। निद्रा मे भी मन की विशेष स्थिति वनी रहती है। 'सुख मे मोया' वह स्मृतिरूप ज्ञान सुपुप्ति मे होने वाली अनुभूति का चोतक है। अत यह मन की ही वृत्ति है।

सुषुप्ति की तुलना समाधि से की जाती है। निद्रा मे क्रियाशीलता अवरुद्ध हो जाती है। अत उस अवस्था मे एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। परन्तु वह समाधिकाल की स्थिरता से सर्वथा भिन्न होती है। निद्रा ज्ञानरहित, अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है जवकि समाधि ज्ञानसहित, स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु गदला जल निद्रा है, स्थिर और निर्मल जल समाधि है ॥४६॥

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ॥४७॥

सस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'स्मृति' कहाता है। स्मृतिकाल मे पूर्वानुभूत विषयो का ही पुन अनुभव होता है। किसी अननुभूत विषय की स्मृति कभी नही होती। किसी वस्तु या व्यवहार का अनुभव हो जाने पर उस का सस्कार मन मे वना रह जाता है। कालान्तर मे उपयुक्त उद्‌बोधक उपस्थित हो जाने पर आत्मा मे सन्निहित वह सस्कार उद्‌भूत होकर अनुभूत विषय को प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार की वृत्ति का नाम स्मृति है। सस्कार सदा अनुभूति के समान होते हैं और स्मृति सदा सस्कारो के अनुरूप होती है। स्वप्न अवस्था भी स्मृति का ही एक रूप है। निद्रादि दोषो के कारण उस अवस्था मे कभी-कभी पूर्वानुभूत विषयो मे कुछ उलट फेर हो जाता है। परन्तु मर्वथा अननुभूत विषय की स्मृति वहा भी नही होती ॥४७॥

त्रिगुणात्मक होने के कारण समस्त वृत्तिया सुख-दु ख-मोहात्मिका हैं। आत्मा स्वरूप से त्रिगुणातीत है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क मे आने से ही वह अविद्यादि क्लेशो से त्रस्त होता है। उनसे छुटकारा पाने के लिए वृत्तियो का निरोध आवश्यक है। परन्तु यह सभव नही दीखता। पूर्वपक्ष के रूप मे इसकी सभावना मे वाधक कठिनाई का उल्लेख करते हैं—

न हि मनोवृत्तिनिरोध वृत्तिसंस्कारचक्रावर्त्तनात् ॥४८॥

वृत्ति और सस्कार के चक्र की आवृत्ति होने से मन की वृत्तियो का निरोध नही हो मकता। जो सस्कार मन मे अकित हो गये, आगे उन्ही के अनुसार वृत्तियां वनेंगी। जैसी वृत्तिया होगी वैसे ही सस्कार वनेंगे। पुन उन्ही सस्कारो के अनुरूप वृत्तिया वनेंगी और फिर··· । इस प्रकार वृत्तियो से सस्कार और सस्कारो से वृत्तिया वनते जाने का चक्र स्वचालित यन्त्र के समान निरोध पर्यन्त चलता रहेगा। इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य एक वार जैसा वन गया, अवश सदा वैमा ही वना रहेगा। उसके उद्धार का अवसर कभी भी न आ सकेगा ॥४८॥

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अध्यात्मवृत्त्या तन्निरोध ॥४६॥

अध्यात्मवृत्ति से उनका निरोध हो सकता है। मनुष्य किसी भी वृत्ति या सस्कार को विरोधी भावना से नष्ट कर सकता है और उसके स्थान पर उसके विरोधी सस्कारो को मन की भूमि मे प्रतिष्ठित कर सकता है। मन मे विक्षेप के सस्कारो का उदय हो जाने पर उनके दूर करने का उपाय है–'एकतत्त्वाम्यास' अर्थात् अभ्यास द्वारा किसी एक तत्त्व पर वृत्ति को टिकाना। चित्तवृत्ति को किसी भी दूसरे तत्त्व पर न जाने देने से विक्षेप के सस्कारो से छूट मन एकाग्र होने लगता है। अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होना भी मन की वृत्तियो का क्षेत्र है। शुद्ध सात्त्विक होने के कारण ये वृत्तिया राग द्वेषादि को उत्पन्न न कर व्यक्ति को समाधि-दशा की ओर अग्रसर करती है और समाधि की अन्तिम दशा मे इन वृत्तियो का प्रवृत्त होना स्वत समाप्त हो जाता है। प्रकृति से सम्पर्क टूट जाता है और इस प्रकार वृत्तियो को परमेश्वर की ओर मोडते ही उनका निरोध हो जाता है ॥४६॥

प्रकृति के तीन गुण–सत्त्व, रज और तम ससारस्थ समस्त पदार्थों मे व्याप्त होकर रहते हैं। मानव मन भी इनसे प्रभावित है। परन्तु एक काल मे एक गुण प्रधान होता है, शेष दो गौण। जिस काल मे जो गुण प्रधान होता है उस समय वह आत्मा और मन को अपने समान कर लेता है। अगले कुछ सूत्रो में इन गुणो से प्रभावित मन की स्थिति का वर्णन किया गया है—

प्रीतिसंयुक्त प्रशान्तमिव शुद्धाभं सात्त्विकं मनः ॥५०॥

जब आत्मा और मन मे प्रसन्नता हो और वह प्रशान्त के सदृश शुद्धभाव-युक्त हो तो समझना चाहिये कि सत्त्वगुण प्रधान है और रजोगुण एव तमोगुण गौण है ॥५०॥

वेदाभ्यासतपःज्ञानधर्मक्रियात्मचिन्तादिभिः तत्प्रतीति ॥५१॥

वेदो के अभ्यास, तप, ज्ञान मे वृद्धि, धर्मयुक्त कार्यों मे प्रवृत्ति, आत्मचिन्तन आदि से किसी व्यक्ति के सत्त्वगुण प्रधान होने का पता चलता है। ऐसा व्यक्ति सबको जानना चाहता है, गुणो को ग्रहण करता रहता है, धर्माचरण मे रूचि रखता है और सदा ऐसे कार्य करता है जिन्हे करने पर मन मे हर्ष और उल्लास होता है। जो कुछ करता है, नि स्वार्थ भाव से प्राणिमात्र के हितार्थ करता है ॥५१॥

अब रजोगुण प्रधान आत्मा व मन के विषय मे कहते हैं—

दु:खसमायुक्तमप्रीतिकरञ्च-राजसम् ॥५२॥

जब आत्मा और मन दुःखी जान पड़ें, प्रसन्नता का अभाव हो और चित्त मे

चचलता हो तो रजोगुण प्रधान होता है और सत्त्वगुण तथा तमोगुण गौण रहते है ॥५२॥

अधैर्यासत्कार्यंपरिग्रहाजस्रविषयोपसेवादिभि तत्प्रतीतिः ॥५३॥

जव रजोगुण का उदय और सत्त्वगुण तथा तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तो धैर्यत्याग, असत्कार्यों मे प्रवृत्ति और विषय सेवन मे निरन्तर प्रीति होती है। ऐसे व्यक्ति मे अर्थलोलुपता प्रवल होती है और जैसे भी हो प्रसिद्धि चाहता है ॥५३॥

तमोगुण प्रधान व्यक्ति के गुण लक्षण कहते हैं—

मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकमप्रतर्क्यमविज्ञेयञ्च तामसम् ॥५४॥

जव मोह अर्थात् सासारिक पदार्थों तथा सम्वन्धो मे फसे हुए आत्मा व मन मे विवेक न रहे, तर्क-वितर्क रहित तथा विषयो मे आसक्त हो और जिसे समझना कठिन हो तो वहा तमोगुण प्रधान और रजोगुण गौण समझने चाहियें ॥५४॥

लोभस्वप्नक्रौर्ययाचिष्णुतानास्तिक्यादिभि तत्प्रतीति ॥५५॥

लोभ, आलस्य, क्रूरता, मागने की प्रवृत्ति, नास्तिकता आदि तमोगुण प्रधान मन व आत्मा के लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति की रूचि प्राय. ऐसे कार्यों के करने मे रहती है जिनके करने मे भय, शका और लज्जा का अनुभव होता है। उसमे काम वासना भी प्रवल होती है ॥५५॥

अव उन प्रेरको-आवेगो-इच्छाओ का निरूपण करते हैं जिनसे प्रभावित होकर मानव जीवन चल रहा है—

पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणाश्चैषणात्रयम् ॥५६॥

पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैपणा—ये तीन एषणायें प्रत्येक व्यक्ति के मन मे उभरती हैं। ये मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की प्रेरक भी हैं और उसके अधिकाश दु खो का कारण भी। पुत्रैषणा का मूल काम भावना मे, वित्तैषणा का परिग्रहण भावना मे तथा लोकैषणा का स्वाग्रह भावना अथवा अहकार मे है। इन एषणाओ से कैसे निपटा जाये ? एतदर्थ तीनो का पृथक्-पृथक् विश्लेषण अभीष्ट है—

पुत्रैपणा—सामान्यत. इसे काम के नाम से पुकारा जाता है। अथर्ववेद (१९-५२-१) मे काम के विषय मे कहा—

कामस्तदग्रे समवर्त्तत मनसो रेत प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥

अर्थात् "काम मन में वीजरूप से सवसे पहले हुआ और उसने वहुत वडे काम का विस्तार किया।" यह सारा सूक्त काम के स्वरूप वर्णन से भरा है।

अथर्ववेद मे ही अन्यत्र (६-२-१६) काम को सम्बोधित करके कहा गया है–"काम जज्ञे प्रथम.–तत. त्वमसिज्यायान्, विश्वहा महान्, तस्मै ते काम नम इत्करोमि।" अर्थात् पहले-पहले काम ही उत्पन्न हुआ। इसलिये वह सबसे महान् है। वह विश्व का सहार भी कर सकता है। इसलिये उसे नमस्कार है।

जो काम इतना उपयोगी है कि उसके विना काम नही चल सकता और इतना भयकर भी कि वह विश्व का सहार कर सकता है, ऐसे काम से निपटना सरल काम नही है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार काम विपयक विचारो का दमन करने से वे भीतर-ही-भीतर सक्रिय रहते हैं और इस प्रकार मनुष्य का मानसिक सन्तुलन विगड जाने से मन मे तनाव रहने लगता है। अत दमन करने के स्थान मे विपय भोगकर कामैषणा की तृप्ति करने मे ही कल्याण है। परन्तु वास्तव मे विषयभोग की शान्ति क्षणिक शान्ति है। कुछ ही काल वीतने पर यह शान्ति और अधिक अशान्ति का कारण वन जाती है। अनुभव यही वताता है–"न जातु काम· कामानामुपभोगेन शाम्यति'–अर्थात् कामनायें उनका उपभोग करने से कभी शान्त नही होती। इन्द्रिया विषयो से उत्तेजित होकर विषय-भोग के द्वारा कुछ देर के लिये शान्त हो जाती हैं। परन्तु विषय-भोग का चस्का पड जाने से वार-वार उन्ही मे प्रवृत्त होती हैं। जब प्रकृति मे इन्द्रियो के विपय विद्यमान हैं तो उन्हे सर्वथा विरत करना भी आसान नही है। इस विकट स्थिति मे कामैषणा को मर्यादित एव नियन्त्रित करना ही एकमात्र उपाय है। काम एक महती शक्ति है। उसका सर्वथा दमन सभव नही, खुलकर खेलने देना सुरक्षित नही। अत उसका उदात्तीकरण कर उसे सर्जनात्मक कार्य मे प्रवृत्त कर देना चाहिये। कामैषणा को पुत्रैषणा के रूप मे परिवर्तित कर देना चाहिये। भौतिक दृष्टिकोण मे विषय-भोग मुख्य है, सन्तान का आजाना उसका आनुषगिक फल है। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण मे सन्तानोत्पत्ति मुख्य है, विषयभोग उसका साधन है। गृहस्थाश्रम का उद्देश्य विषय-भोग न होकर मानव-निर्माण करना है। इस महान् निर्माण कार्य मे व्यस्त व्यक्ति काम के अधीन न होकर उससे सेव्य-सेवक का सम्बन्ध जोड कर रहता है।

वित्तैषणा–परिग्रहण की मूल प्रवृत्ति भी माननीय व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक "Hindu View of life" मे लिखा है–The urge which gives rise to property is something fundamental in human nature Unless we can change the constitution of human mind we cannot eradicate the idea of property." अर्थात् मनुष्य मे सग्रह या सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रवृत्ति इतनी मूलभूत है कि मानव मन के स्वरूप को बदल कर ही उसे हटाया जा सकता है। इसलिये काम विषयक मूलप्रवृत्ति की भांति परिग्रह की प्रवृत्ति का भी उदात्तीकरण करना ही उचित है। उसे नष्ट नही किया जा सकता, मर्यादित किया जा

सकता है। वैदिक समाज व्यवस्था मे सामान्य आयु के सौ वर्षों मे मात्र २५ वर्ष (गृहस्थाश्रम) ही पैसा कमाने के लिये निर्धारित है। गृहस्थियो में भी पैसा कमाना केवल वैश्य का धर्म है। वैश्य भी केवल अपने लिये न कमा कर सारे समाज के लिये कमाता है। उसके लिये वेद का आदेश है—'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर' अर्थात् सौ हाथो से कमाये तो हज़ार हाथो से बांटे। २५ वर्ष तक वित्तैषणा को भोगने से एषणा की तृप्ति भी हो जाती है और भोगने के अनन्तर स्वेच्छा से ही त्याग कर देने से व्यक्ति उसमे लिप्त भी नही होता। इस प्रकार वित्तैषणा को सीमित तथा मर्यादित कर उसका उदात्तीकरण हो जाता है।

लोकैषणा—स्वाग्रह अथवा अहकार की मूलप्रवृत्ति मानव व्यवहार का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि लोग उसे बडा समझें और उसका सम्मान करें। यही लोकैषणा है। इसी को महत्वाकाक्षा कहते हैं। अग्रेज़ी की एक लोकोक्ति के अनुसार 'Fame is the last infirmity of a noble mind'--यश की कामना साधुस्वभाव व्यक्ति की सबसे अन्तिम कमज़ोरी है। पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से सर्वथा मुक्त व्यक्ति के लिये भी लोकैषणा से मुक्त होना कठिन है। ब्रह्मर्षि कहाने के लिये विश्वामित्र ने क्या कुछ नही किया ? 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' की इच्छा से मनुष्य उचित अनुचित कुछ भी करने के लिये तत्पर हो जाता है। अपने 'अहम्' की तुष्टि के लिये बडे से बडे व्यापक हितो का बलिदान कर देता है। वस्तुत लोकैषणा की सिद्धि का मूलमत्र है—त्याग और सेवा। चार दिन की वाहवाही लूटने के लिये भी त्याग और सेवा का ढोग करना आवश्यक है। ऐसी वाहवाही पोल खुलने पर निन्दा मे बदल जाती है। वानप्रस्थ के रूप में जो सब कुछ त्याग देता है और सन्यासी के रूप मे जन सेवा मे जुट जाता है वही स्थायी कीर्ति के पाने का अधिकारी होता है। लोकैषणा के विषय मे आदर्श दृष्टिकोण यही है।

तीनों एषणाओ के सम्बन्ध मे इस प्रकार विचार करने से उनका दुरुपयोग रोक कर उनकी शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है ॥५६॥

अगले कतिपय सूत्रो मे आत्मा के पाच कोशो का विवेचन करते हैं—

सदेहस्यात्मनः पचचकोशाः ज्ञानकर्मोपासनादिनिष्पादनार्थम् ॥५७॥

ज्ञान-कर्म-उपासना आदि व्यवहारो को सम्पन्न करने मे सहायक आत्मा के पाच कोश हैं। वस्तुत ये कोश स्वय आत्मा के न होकर शरीरस्थ आत्मा के साधन रूप हैं ॥५७॥

त्वचातोऽस्थिपर्यन्तमन्नमयः ॥५८॥

त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त अन्नमय कोश है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला

स्थूल शरीर ही प्राणी का अन्नमय कोश कहाता है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच महाभूतो से इसकी रचना हुई है। पञ्चभूतो का श्रेष्ठतम रूप अन्न है। सब औषधियो का साररूप होने से अन्न को 'सर्वौषध' कहते है। अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते (अन्नाद्रेत, रेतस पुरुष) उसी से बढते और अन्त मे उसी मे लीन हो जाते हैं। अन्न खाया जाता है परन्तु यह खा भी जाता है उन्हे जो जीने के लिये नही खाते, अपितु खाने के लिये जीते है। ससार को भोगा जाता है। परन्तु जो भोगो का दास हो जाता हैं उसे भोग खा जाता है। भोगो मे लिप्त ऐसा व्यक्ति ही कहता है—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता'। अत अन्नमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर को ही सब कुछ मानकर अहर्निश उसी की उपासना मे व्यस्त व्यक्ति शाश्वत सुख पाने की आशा नही कर सकता ॥५८॥

अन्नमय कोश अथवा स्थूल शरीर से भिन्न किन्तु उसी के भीतर इस शरीर का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'प्राणमय कोश' कहते हैं—

प्राणापानसमानोदानव्यानादियुक्त प्राणमय ॥५९॥

प्राण (भीतर से बाहर निलकने वाला वायु), अपान (बाहर से भीतर आने वाला वायु), समान (भरीर मे रस पहुचाने वाला नाभिस्थ वायु), उदान (अन्न-पान खीचने वाला कठस्थ वायु) तथा व्यान (शरीर मे रक्त सचालन करने तथा उसे शक्ति प्रदान कर कर्म मे प्रवृत्त करने वाला वायु) आदि से युक्त 'प्राणमय-कोष' है। आकाश से सूक्ष्म प्राणतत्त्व है। यह प्राणतत्त्व विश्व भर मे व्याप्त है। उसी से प्राणमय कोश की रचना हुई है। प्राणतत्त्व का स्रोत सूर्य है ('आदित्यो ह वै प्राण'—प्रश्नोपनिषद्)। देव, मनुष्य, पश्वादि सभी प्राण से अनुप्राणित हैं। 'प्राणो हि भूतामानायु' (तैत्तिरीय) अर्थात् प्राण ही सब भूतो की आयु है। इसीलिये उसे 'सर्वायु' कहा जाता है। जो प्राण को सब कुछ मानकर उसकी उपासना करते है वे अपनी सारी आयु भोगते हैं। इस प्राणमय कोश का आत्मा वही है जो अन्नमय कोश का है। प्राणमय कोश सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत है ॥५९॥

प्राणमय कोश से भिन्न किन्तु उसी के भीतर इस प्राणमय कोश का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'मनोमय कोश' कहते हैं—

मनसोऽहङ्कारपञ्चकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठानं मनोमयः ॥६०॥

मन के साथ अहकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियो से युक्त 'मनोमय कोश' है। प्राणतत्त्व से सूक्ष्म मनस्तत्त्व है जो प्राणतत्त्व की भाति सर्वत्र व्याप्त है। सर्वत्र व्याप्त होने से मन की गति शब्द से भी तीव्र है। इसी मन-स्तत्त्व से मनोमय कोश बना है। यह मनोमय कोश भी सूक्ष्म-शरीर के अन्तर्गत आत्मा है और इसका भी आत्मा वही है जो प्राणमय कोश का है। जो मनुष्य अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मान कर इनकी उपासना करते हैं वे भोग्य पदार्थों,

प्राण शक्ति तथा मानसिक शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु ब्रह्म को नहीं पा सकते ॥६०॥

इस मनोमय कोश से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर इसका आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'विज्ञानमय कोश' कहते हैं—

बुद्धिश्चित्तं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि विज्ञानमयः ॥६१॥

आत्मा के ज्ञान प्राप्ति के साधन बुद्धि, चित्त तथा नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा एवं नासिका ज्ञानेन्द्रिय से युक्त कोश 'विज्ञानमय कोश' कहाता है। 'प्रकृतेर्महान्'-प्रकृति से उत्पन्न 'महत्तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है जिससे विज्ञानमय-कोश बनता है। यह विज्ञानमय कोश भी सूक्ष्म-शरीर अन्तर्गत है। लौकिक तथा आध्यात्मिक सभी कार्य विज्ञान के द्वारा सम्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग विज्ञान को ही सब कुछ मान कर उसकी उपासना करते हैं। वे शरीर के पापो से छूट कर सब कामनाओ को प्राप्त करते हैं। विज्ञानमय- कोश का आत्मा वही है जो मनोमय कोश का है ॥६१॥

विज्ञानमय कोश से भिन्न, इसके भीतर, इसका आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'आनन्दमय कोश' कहते हैं—

प्रीतिप्रसादावानन्दः कारणरूपाप्रकृतिश्चानन्दमय ॥६२॥

जो प्रीति, प्रसन्नता, न्यूनाधिक आनन्द तथा कारणरूप प्रकृति से युक्त है वह 'आनन्दमय कोश' है। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था ही 'आनन्द तत्त्व' है जिससे आनन्दमय कोश बनता है। आनन्दमय कोश मे विचरने वाला ब्रह्म को ही अपना आधार बनाता है। 'रसो वै स'—आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करने वाले को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। आनन्दमय कोश कारण शरीर मे अन्तर्भूत है ॥६२॥

आत्मा को सुख-दुःखादि का भोग शरीर धारण के बिना नही हो सकता। इस शरीर का क्या स्वरूप है—इसका विवेचन अगले सूत्रो मे किया है—

स्थूलसूक्ष्मकारणतुरीयभेदाच्चतुर्विधं शरीरम् ॥६३॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय भेद से शरीर चार प्रकार का होता है ॥६३॥

सर्वप्रथम स्थूल शरीर का स्वरूप निरूपण करते हैं—

चक्षुषोर्विषयभूतः स्थूलदेहः ॥६४॥

आँखों से दिखाई देने वाला 'स्थूल शरीर' है। आदि सर्गकाल की अमैथुनी सृष्टि को छोड़ कर स्थूल शरीर माता पिता के सयोग से उत्पन्न होता है। चालू सर्गकाल मे भी स्वेदज तथा ऊष्मज कृमि कीट आदि अयोनिज होते रहते

हैं। आत्मा का स्थूल शरीर बदलता रहता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का साधन रूप है। उसी के द्वारा सूक्ष्म शरीर का बाह्य जगत् से सम्पर्क होता है। अतः स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियन्त्रित होते हैं ॥६४॥

अब सूक्ष्म शरीर का स्वरूप कथन करते हैं—

पञ्चप्राणाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चसूक्ष्मभूतानि मनोबुद्धिरित्येतानि सूक्ष्मशरीरम् ॥६५॥

पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच सूक्ष्मभूत, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह घटको से युक्त 'सूक्ष्मशरीर' है।

सर्ग के आदि मे प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक सूक्ष्म-शरीर सम्बद्ध हो जाता है। इस शरीर का परित्याग एक ही बार-प्रलय होने पर अथवा तत्त्व ज्ञान हो जाने पर—किया जाता है। जीवात्मा का विविध योनियो मे ससरण सूक्ष्मभूतो से घटित सूक्ष्म शरीर के द्वारा होता है जो मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा को अवेष्टित किये रहता है। जैसे बीज मे वृक्ष रहता है वैसे ही सूक्ष्म-शरीर मे स्थूल शरीर के बीज रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों मे सस्कार क्षीण होकर, कर्मों का भोग न रहने से जब आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है तभी सूक्ष्म शरीर छूटता है। प्रलय की अवधि मे भी आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर नही रहता। परन्तु, क्योकि सूक्ष्म शरीर का सहारा लिये बिना आत्मा स्थूल शरीर से काम नही ले सकता, इसलिये मुक्ति काल के समाप्त होने अथवा प्रलयोपरान्त सर्गकाल मे जब भी जीवात्मा शरीर धारण करता है तभी पहले की तरह सूक्ष्म-शरीर उसके साथ सम्बद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म-शरीर पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच सूक्ष्मभूत तथा मन और बुद्धि (अहकार)—इन सबके सूक्ष्म तत्त्वो का सश्लिष्ट शरीर है। इसमे ये तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे समाविष्ट रहते हैं। प्राण समस्त करणो (पाच ज्ञानेन्द्रिय के साथ पाच कर्मेन्द्रियो को मिलाकर दस बाह्यकरण तथा मन एव बुद्धि अन्त करण) के सामान्य वृत्तिमात्र है। सूक्ष्म-शरीर के घटक अवयवो के रूप मे प्राणो का यही अर्थ अपेक्षित है। पाच तन्मात्र (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) पाच सूक्ष्मभूत हैं। करण अनाश्रित नही रह सकते। अत पाच तन्मात्र उनके आश्रयभूत माने जाते हैं। सूक्ष्म-शरीर स्थित ज्ञानेन्द्रियो से तात्पर्य स्थूल शरीर के दिखाई देने वाले चक्षु-श्रोत्र आदि से नही है, वरन् इनकी सूक्ष्म शक्तियो से है। दिखाई देने वाली इन्द्रियाँ तो उनके गोलकमात्र हैं जो ज्ञानेन्द्रियो की अन्तर्हित सूक्ष्म शक्ति से प्रेरित होकर ही क्रियाशील होते हैं। इन पाचो ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति स्थूल-भूतो से पूर्व पच तन्मात्राओ के साथ-साथ होती है।

सूक्ष्म शरीर कर्मों का अधिष्ठान है जिसमे सस्कार भौतिक रूप मे सचित रहते हैं। इन सस्कारो के अनुरूप वृत्तिया बनती हैं और वृत्तियो के अनुसार

मनुष्य कर्म मे प्रवृत्त होता है। अन्नमय आदि कोशो का बीजमय रूप भी सूक्ष्म शरीर मे सन्निहित रहता है। सूक्ष्म शरीर को माध्यम बनाये विना अभौतिक आत्मा भौतिक शरीर से काम नही ले सकता। जब आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर मे विचार तरग उठती है तभी स्थूल शरीर मे क्रिया होती है।

सूक्ष्म-शरीर के अन्तर्गत करणो के व्यापार के कारण ही यह प्रतीति होती है कि इन सबके पीछे एक चेतन सत्ता है। इसलिये सूक्ष्म-शरीर को ही लिङ्ग शरीर भी कहा जाता है। वस्तुतः जब इन करणो की प्रधानता को दृष्टि मे रख कर निर्देश किया जाता है तभी उसे इस नाम से व्यवहृत किया जाता हैं।६५॥

तीसरे शरीर—कारण शरीर को स्पष्ट करते हैं—

प्रकृतिरूपत्वात् सर्वव्यापकं कारणशरीरम् ॥६६॥

कारण शरीर प्रकृति रूप होने से विभु है।

सूक्ष्म शरीर के १७ घटको मे १२ करण आधेय अथवा आश्रित हैं और पाच सूक्ष्मभूत या तन्मात्र आधारभूत तत्त्व हैं। कारण शरीर का अर्थ है प्रकृति जिससे सभी पदार्थों का निर्माण हुआ है। आधारभूत प्रकृति के ये तन्मात्र सूक्ष्म शरीर की रचना मे उपादान कारण होने से उसकी रचना के लिये मूल प्रकृति रूप हैं। इसीलिये कारण शरीर को प्रकृति रूप कहा जाता है। प्रकृति रूप होने से कारण शरीर को विभु कहा जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कारण शरीर व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्याप्त है।

स्थूल शरीर की रचना में जीवात्माओ का सहयोग रहता है। अत प्रत्येक जाति के शरीरों में समानता रहने पर भी अवयव भेद के कारण उन शरीरो को एक-दूसरे से भिन्न पहचाना जा सकता है। परतु सूक्ष्म तथा कारण शरीर ईश्वरीय रचना होने के कारण व्यक्ति रूप से भेद होने पर भी रचना की दृष्टि से समान हैं। इस समानता के कारण ही सब जीवो के कारणशरीर को 'एक' कह दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह नही समझना चाहिये कि कारणशरीर व्यक्ति-रूप से सब जीवों का एक ही होता है। व्यवहार मे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के आधार पर जो भेद देखने मे आता है उसका कारण इन्द्रियादि के गोलक हैं, न कि स्वत इन्द्रियो की रचना अथवा उनकी अन्तर्हित सूक्ष्म शक्ति।

सुषुप्ति अथवा गाढ निद्रा मे सूक्ष्म शरीर का व्यापार भी बन्द हो जाता है। उस अवस्था मे कारण शरीर ही रहता है। सुषुप्ति मे किसी भी प्रकार के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का अनुभव नही होता। इस समानता के आधार पर ही कारण शरीर और आनन्दमय कोश को परस्पर सन्तुलित किया जाता है ॥६६॥

चौथे तुरीय शरीर की व्याख्या करते हैं—

समाधिसंस्कारजन्य शुद्धस्वरूपं तुरीयम् ॥६७॥

समाधि-सस्कार-जन्य शुद्ध शरीर 'तुरीय शरीर' कहाता है।

स्थूलादि शरीर जड तत्त्व हैं और आत्मा से भिन्न हैं। परन्तु तुरीय शरीर आत्मा की ही एक विशेष स्थिति है जो आत्मसाक्षात्कार होने पर प्रकाश मे आती है। स्थूल, सूक्ष्म-लिङ्ग अथवा कारण नाम से व्यवहृत किये जाने वाले सभी शरीर भौतिक अथवा प्राकृत हैं और आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक हैं—भले ही अत्यधिक सूक्ष्मता के कारण किसी को अभौतिक कह दिया जाये। इस समाधिजन्य तुरीय शरीर का पराक्रम मुक्ति मे भी सहायक रहता है। इसी अभौतिक अथवा सकल्पमय शरीर से जीवात्मा मुक्ति मे आनन्द का उपभोग करता है। वास्तव मे यह आत्मा का स्वाभाविक गुणरूप है अर्थात् आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नही है ॥६७॥

अब जीवात्मायुक्त शरीर की अथवा शरीरस्थ चेतना की अवस्थाओ का वर्णन करते हैं—

जागृतस्वप्नसुषुप्तितुरीयभेदेनावस्थाश्चतुर्विधाः ॥६८॥

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें हैं। इन सब अवस्थाओ से जीव पृथक् है। अत ये जीवात्मा युक्त शरीर की अथवा शरीरस्थ चेतना की ही अवस्थायें हैं ॥६८॥

अब क्रमश चारो अवस्थाओ का विवेचन करते हैं—

बहिर्ज्योतिरेकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् जागरितस्थान ॥६९॥

जाग्रतावस्था मे जीवात्मा बहिर्मुख होकर कार्य करता है। उसकी गति प्रायश बाह्य विषयो की ओर होती है। उस अवस्था मे पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाच कर्मेन्द्रिय, पाच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहकार—ये उन्नीस उसके निरन्तर सहायक रहते हैं। बहिर्मुख होने की अवस्था मे आत्मा मन के साथ सयुक्त होकर प्राणो को प्रेरणा करके इन्द्रियो को अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त करता है। जाग्रतावस्था मे स्थूल जगत् का उपभोग करने के कारण जीवात्मा 'स्थूलभुक्' कहाता है ॥६९॥

अन्तर्ज्योति सूक्ष्मभुक् स्वप्नस्थान ॥७०॥

पुरुषार्थ करते हुए जब मनुष्य थक जाता है तो तमोगुण प्रधान होकर उसकी समस्त इन्द्रियो को शिथिल कर देता है। उस अवस्था मे इन्द्रियो के मन मे प्रविष्ट हो जाने से बाह्य जगत् से आत्मा का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु रजोगुण की कुछ भी मात्रा जब तक बनी रहती है तब तक मन काम करता रहता है। इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। इस अवस्था मे मन अपने

वासनारूप सस्कारो से अनुभूत विषयो का प्रत्यक्ष करता है। बाह्येन्द्रियो के असमर्थ हो जाने से विवश होकर आत्मा अन्तर्मुख अथवा अन्तर्ज्योति हो जाता है। स्वप्नावस्था मे जीवात्मा का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है। अत. उस अवस्था मे वह स्थूल शरीर से भोग न करके सूक्ष्म शरीर मे स्थित सूक्ष्म इन्द्रियो से विचारमय सूक्ष्म जगत् का उपभोग करता है। इसीलिये उस अवस्था मे जीवात्मा 'सूक्ष्मभुक्' कहाता है।

'अपाणिपादो जवनोग्रहीता' इत्यादि के भाव को लेकर गोस्वामी तुलसीदास ने परमेश्वर के सम्बन्ध मे लिखा—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। बिनु कर कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ योगी॥

स्वप्नावस्था मे जीवात्मा की ठीक यही स्थिति होती है। बिना इन्द्रियो के सहयोग के वह सब कुछ करता है, किन्तु वही जो जागृत मे देखा सुना होता है। जागृतावस्था मे जैसे व्यवहार, आचरण, भावना व विचार होते हैं उनकी प्रतिच्छाया स्वप्नावस्था मे पड़ती है। उन्ही के सहारे वह अपनी सृष्टि बनाता बिगाड़ता रहता है। उस अवस्था में रथ, घोडे, सड़कें, नदी, तालाब, पुत्र, कलत्र बन्धु, बान्धव आदि कुछ नही होता। परन्तु शरीर से बाहर गये बिना सकल्पमात्र से उनकी रचना कर लेता है। रजोगुण की कुछ मात्रा होने से चचल होने के कारण मन एक स्थान पर टिक नहीं सकता। अत 'कही की ईंट कही का रोडा' लेकर वह 'भानमती का कुनबा' जोड़ लेता है। किसी सस्कार का कोई और किसी का कोई अग लेकर एक नई वस्तु घड़ डालता है। किसी सस्कार मे मनुष्य की छाया देख ली, वहा से झट चलकर दूसरे सस्कार मे पक्षी के पंख देख लिये और मनुष्य के साथ पक्षी के पख जोड़कर केवल सस्कारो के बल पर उड़ते हुए मनुष्य की कल्पना कर डाली। वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार स्वप्न मे मनुष्य के उडने की कल्पना वह तब करता है जब उसके शरीर मे वायु प्रधान होता हैं। इसी प्रकार पित्त प्रधान होने पर अग्नि मे जलने आदि तथा कफ प्रधान होने पर जल में तैरने या डूबने के स्वप्न दिखाई देते है। जो तत्त्व शरीर में प्रधान होता है वही मन मे भी प्रधान होता है और उसका स्वप्न पर प्रभाव पड़ना अवश्यभावी है।

कभी-कभी स्वप्न मे ऐसे दृश्य और घटनायें भी देखने मे आती हैं जिन्हें हमने अपने जीवन मे कभी भी नही देखा सुना होता। वास्तव मे मन में सहस्रो जन्मो के सस्कार रहते हैं जो हमारी कभी न कभी देखी सुनी वस्तुओ के प्रतिबिम्ब होते हैं। ऐसे दृश्यों अथवा घटनाओ का सम्बन्ध चित्त पर पडे किसी अन्य जन्म के संस्कारों से होता है।

स्वप्न स्मृति रूप है। स्वप्न की स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान न होते हुए भी तद्वत् प्रतीत होती है॥७०॥

चेतोमुखः आनन्दभुक् सुषुप्तस्थान ॥७१॥

सुषुप्ति मे जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान से आनन्द भोगता है। यह अवस्था तामसी एव अज्ञानमूलक है। फिर भी जागने पर 'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुख से सोया)–यह अनुभव उस अवस्था मे दुःखादि की अनुभूति के अभाव को प्रकट करता है। सुषुप्ति मे 'इन्द्रियो के साथ-साथ मन, बुद्धि आदि सभी करणो के विशेष व्यापारो तथा वृत्तियो का अभाव हो जाता है। परन्तु इन समस्त करणो के सामान्य व्यापार प्राण की क्रिया बराबर बनी रहती है। उस अवस्था मे करणो का अपने गोलको से सम्बन्ध न रहकर वे अपने आश्रयभूत तन्मात्र मे अवस्थित रहते हैं। यह अवस्थिति करणो की विशेष वृत्ति की अवरोधक होने से सुषुप्ति की प्रयोजक है।

गाढ निद्रा मे शरीर सर्वथा जड हो जाता है। शरीर और मन सभी से जीवात्मा का सम्बन्ध टूट सा जाता है। तब उसकी कोई कामना न रहने से वह आनन्दमय हो जाता है। इसीलिये सुषुप्ति काल मे विद्यमान आत्मा को 'आनन्दभुक्' कहा जाता है। अपने स्वाभाविक ज्ञान के द्वारा ही वह इस आनन्द को भोगता है। यही आत्मा का 'चेतोमुख' होना है। सुषुप्तावस्था मे वह न किसी से बोलता है, न किसी की सुनता है, न कुछ खाता है, न सूघता है, न किसी को देखता है, न किसी को छूता है–क्योकि वहा उसके अतिरिक्त बोलने, सुनने खाने, सूघने, देखने या छूने को कुछ होता ही नही। उस अवस्था मे आत्मा ही आत्मा रहता है, अन्य कुछ नही रह जाता।

'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' कहकर सुषुप्ति को समाधि और मोक्ष के समकक्ष रख दिया गया है। परन्तु जहा मोक्ष मे आनन्द की अनुभूति ज्ञानसहित और शरीर रहित अवस्था मे होती है वहा समाधि मे ज्ञानसहित और शरीरसहित अवस्था मे तथा सुषुप्ति मे ज्ञानरहित और शरीरसहित अवस्था मे होती है। सुषुप्ति मे जीवात्मा का सम्बन्ध कारण शरीर से होता है ॥७१॥

समाधावानन्दमये ब्रह्मस्वरूपे स्थितः आप्तकामः तुरीयस्थान ॥७२॥

तुरीयावस्था मे जीवात्मा पूर्णकाम हो समाधि मे ब्रह्मानन्द मे स्थित होता है। यह अवस्था अदृष्ट तथा अनिर्वचनीय है। इसके प्राप्त होने पर ससार के सभी प्रपच शान्त हो जाते है और अद्वैत अवस्था का आभास होने लगता है। केवल आत्मा की सत्ता ही साररूप मे रह जाती है। यह चेतना का शुद्ध रूप है–ऐसा रूप जिसमे चेतना पर पडे सब भौतिक आवरण छट जाते हैं। इस रूप मे वह सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन–इन तीनो स्तरो को लाघकर भावातीत अवस्था मे पहुच जाता है। तुरीय शरीर के द्वारा ही इसकी सद्धि होती है ॥७२॥

विषय-निर्देशिका

अ

अगमेजयत्व २५२
अगुष्ठमात्र जीव ७०
अशाशि भाव २०६
अकाय २८-३३
अकृताभ्यागम ६५,६७
अक्षर २४१
अग्नि-ईश्वर नाम ५९
अग्नि तत्त्व १२४,१८२
अग्नि स्फुलिंग २०६
अचेतन मन २९४
अज २४१
अजा २३९
अणु १८३
अणु परिमाण ६८
अत्यन्त-शब्दार्थ १३५
अदृष्टार्थ शब्द १६
अद्वितीय २३१
अद्वैत का अर्थ २३१
अधर्म १२५
अधिष्ठान २०३
अधृति २९९
अध्यात्मवृत्ति ३०५
अध्यारोप (अध्यास) २०९
अनन्त ३९
अनवस्था दोष १८६
अनवस्थितत्त्व २५२
अनादि पदार्थ १९९
" " वेदान्त मे २३५
अनावृत्ति १४०
अनावृत्ति, मुक्ति से १३४-४२
अनित्यवाद १६७
अनुच्छित्तिधर्मा ६७
अनुप्रवेश २३३
अनुमान प्रमाण १४
अनेक कर्मों से एक जन्म ११६
अन्त'करणचतुष्टय २८१
अन्त करण जड है ३०१
अन्त करणोपाधि २०१, २०३, २०८
अन्तराय (विघ्न) २४९
अन्तर्यामी २३१
अन्नमय कोश ३०८
अन्वय-व्यतिरेक २१८
अप् १२४,१८२
अपरत्व १२५
अपरिग्रह २५९
अपवर्ग १२२
अप्राप्त का निषेध ४७
अभयत्वादि, पुण्याचरणेच्छा मे ८०
अभाव प्रमाण १७
अभाव से भावोत्पत्ति १६४-६७
अभाववाद १७०
अभिन्ननिमित्तोपादान २२५
अभिनिवेश २८०
अभौतिक शरीर १४३
अभ्यास २४८
अभ्युदय १
अमैथुनी सृष्टि १८५-८६
अयमात्मा ब्रह्म २२७,२२९

अयोध्या ७१
अयोनिज १८५-८६
अरस्तू १०७
अर्थापत्ति १७
अलब्धभूमिकत्व २५१
अल्पज्ञ २१६
अवक्षेपण १२६
अवचेत मन २६४
अवतार ३४-३६
अवयवावयवी ३१
अवस्थायें ३१३
अविद्या २१६,२७७-७९
,, अल्पज्ञ का गुण २१६
,, का लक्षण २७९
अविद्यादि क्लेश २७७
अविद्योपाधि २१५
अविरति २५१
अव्यक्त १५४
अव्यपदेश्य १२
अव्यभिचारी १२
अश्रद्धा २६९
अष्टचक्रा ७१
अष्टमैथुन २५७
अष्टाग योग २५३
असत् का भाव १५७
असत् से उत्पत्ति का अर्थ १६३
असत्कार्यवाद १६३
असम्प्रज्ञात समाधि २४७
अस्तेय २५६
अस्मिता २७९
अहं ब्रह्मास्मि २२७,२३०
अहंकार १७९,२६५
अहिंसा २५४

आ

आइकन १०८
आकाश १२४-२५,१८३
,, का आभास २०२
,, का गुण (लिंग) १८३
आकाश का प्रतिविम्ब १०२
,, की उत्पत्ति १८४
,, मे नीलापन २०३
आकुंचन १२६
आकृति १६६
आकृति भेद १६६
आठ प्रमाण १०
आत्मा (देखो जीव भी)
आत्मा १२४-२५
,, अनेक ७४-७५
,, अविनाशी ६७
,, का प्रत्यक्ष १३-६६
,, का वास ७०
,, का लय नही ७०,१२९
,, के लिंग (गुण) ७३-७४
,, देह परिमाण नही ६९
,, देह से अतिरिक्त ६३-६४
,, भोक्ता ७६, ३०१
,, विभु नही ६८
,, स्वभाव से बद्ध नही १२०
,, ,, ,, मुक्त ,, ,,
आदिसृष्टि मे अनेक प्राणी उत्पन्न १९३
,, ,, अमैथुनी शरीर १८५-८६
,, ,, युवा शरीर १९३
आधिदैविक ११९
आधिभौतिक ,,
आध्यात्मिक ,,
आनन्दभुक् ३१५
आनन्दमय कोश ३१०

आप्त का लक्षण ९
आप्त प्रमाण ९
आभास २०२-०४
आम्नाय (वेद)-ईश्वरीय ज्ञान ३
आयु ९९
आलस्य २५०
आश्रय २१५
आश्रयाश्रयिभाव २५
आसन २५४-२६८

इ

इच्छा ७३, १२५
इतरेतराभाव १७०
इन्द्र २८५
इन्द्रिय ,,
,, आन्तर २८३
,, जड ३०१
,, वाह्य २८४, ३०१, ३०३
,, भौतिक २८४
इन्द्रिय दोष २७९
इन्द्रियो की रचना भूतो से ३०१
इन्द्रियो के बिना ईश्वर कर्त्ता ३३
इमर्सन १०९
इलेक्ट्रॉन १५३
इसलाम ९७

ई

ईक्षण १५८
ईश्वर, अकाय २८-३३
,, अनादि १९९
,, अपरिणामी २२४
,, उपादान कारण नही १५२, २२३
,, एक है ५९
ईश्वर का अनुप्रवेश २३२
,, ,, अन्त नही ३९
,, ,, अवतार नही ३४-३६
,, ,, प्रत्यक्ष १८
ईश्वर ,, सर्वोत्तम नाम ५४
,, की उपासना २४६
,, दया व न्याय ३८
,, ,, प्रेरणा ८०
,, ,, मूर्त्ति नही ४०-४८
,, ,, सर्वज्ञता २०१
,, ,, सहायता ९१
,, ,, सिद्धि १९-२७
,, ,, व्यापकता २८-२९, २२५
,, के अनन्त नाम ५८-५९
,, ,, गौणिक (नैमित्तिक) नाम ५८
,, ,, विना सृष्टि रचना नही १५८
,, जगद्रूप नहीं २१९
,, जन्म नही लेता ३४-३६
,, जीवो को उत्पन्न नही करता ६६, १४२
,, निराकार २८-३३
,, न्यायकारी ३८
,, पाप क्षमा नही करता ८८
,, प्रेरयिता ७८
,, भोक्ता नही १५९
,, मे इच्छा नही १५९-६०
,, मे भ्रमादि नही २०१
,, सब कुछ नही कर सकता ७८
ईश्वर प्रणिधान २६७, ७६
ईश्वरासिद्धे १९८
ईश्वरीय प्रेरणा ८०
,, सहायता ९१
,, सामर्थ्य की सफलता १६०
ईसाइयत ९७

उ

उष्मा १६६
उत्क्षेपण १२६
उत्पत्ति १७१
उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय १६४
उपनिषदो मे त्रैतवाद २३६
उपमर्दन १६५
उपमान १५
उपयोगिता १६०
उपरति १४८
उपादान कारण १५२, २२३
उपाधि २०६, २१५
उपासना २४६-४७
„ का फल ६२
„ सगुण-निर्गुण ६३
उभययोनि ११८

ऊ

ऊर्जा १५७
ऊर्णनाभि २२६

ए

एकतत्त्वाभ्याम ३०५
एषणात्रय ३०६

ऐ

ऐकात्म्य २१७
ऐतिह्य १७
ऐम्पीडोक्लीज़ १०७
ऐश्वरी सृष्टि १८६-८७

ओ

'ओ३म्' ईश्वर का निज नाम ५२
ओ३म् की व्याख्या ५३-५८

क

कपिल-नास्तिक नही १९८
करण-अन्त. २८३,३११
„ बाह्य „
कर्त्ता का लक्षण ७५
कर्त्ता-भोक्ता-ज्ञाता चेतन ही ३०१
कर्त्ता के विना क्रिया नही १५८
कर्त्ता ही भोक्ता ७७, ८३
कर्म का लक्षण १२६
कर्म के प्रकार ८४, १२५
कर्म के विना फल नही ८२,१६६
कर्मफल कव तक १०३
कर्मफल कालान्तर मे ८५
कर्मफल दाता ईश्वर ८०-८१
कर्मफल स्वय नही ८१
कर्मयोनि ११७
कर्मविपाक १०३
कर्मानुसार जन्म ६७-६८
कर्मानुसार फल ८०, १६१
कर्मानुसार योनि ६६-१०२
कर्मेन्द्रियां २८८, ३०६
कर्मों का कर्त्ता जीव ७६-७७
कर्मों का प्रेरक ७८, ८०
कल्पना २१४
कल्पकल्पान्तर मे समान सृष्टि १६५
काण्ट १०८
काम २६८
कायिक तप २६५
कारण का कारण नहीं १६३
कारण का स्वरूप १६३
कारण, कार्य से पूर्व १६२
कारण के गुण कार्य में २२-२३, २३५
कारण के भेद १५१
कारण शरीर ३१२

कार्य-कारण सम्बन्ध १६२-६३, २२२
कार्य नित्य नही १६८,१६४
कार्य से पूर्व कारण १६२
कार्योपाधि से जीव ब्रह्म नही २३५
काल १२४, १२५
कृतघ्नता ६३
कृतहानि ६५, ६७
कोश ३०८
कैवल्य २१८
क्रियमाण कर्म ८४-८५
क्रियातन्तु २८५, २६१
क्रियायोग २७६
क्लेश २७७
क्लार्क १६३
क्षणिकवाद १७५-७६
क्षमा नही ८७-८८
क्षमादान से हानि ८७

ग

गन्ध १२५, १८३
गमन १२६
गुण का लक्षण १२४
गुण, द्रव्य के बिना नही २१५
गुणो का प्रत्यक्ष १३, १८
गुणो की सख्या १२५-२६
गुरुत्व १२५

घ

घटाकाश २४०
घ्राण १८३

च

चतुर्विध शरीर ३१०
चित्त २६३-६४
चित्तविक्षेप २४६
चित्तवृत्ति २४७-४८
चिदाभास २१४
चेतन के विना क्रिया नही १५८
चेतन मन २६४
चेतना ३०१, ३१३
चैतन्य ३०१

ज

जगत् अनादि नही १६४
जगत् का उपादान १५२,२१६,२२३
जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से नही १५२,२१६
,, ,, ,, माया से नही २१६
जगत् रचना के कारण २५१
जगत् दु ख रूप नही १७६
जगत् प्रवाह से अनादि १६४
जगत् मिथ्या नही २२२
जड पूजा से ज्ञान का नाश ५२
जड मे चेतन के बिना गति नही १६,१५८
जन्म ६४,१२२
जन्म, अनेक ६६
जन्म कर्मानुसार ६७-६८
जन्म-मृत्यु की परिभाषा ६४
जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नही २१४
जल १२५, १८२
जागृतावस्था ३१३
जाति ६६, १०१
ज्ञान ७३
ज्ञान-कर्म-उपासना के समन्वय से मुक्ति १४६
ज्ञान युगपत् नही २८६
ज्ञान तन्तु २८५,२६१
ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया २८४-८५
ज्ञानेन्द्रिया २८५,३१०

जीव (देखो आत्मा भी)
जीव, अनेक ७४-७५
„ अमर ६७, १३३
„ अल्पज्ञ ७२
अल्पशक्ति „
„ ईश्वर जैसा नही ६७, १३१
„ ईश्वर नही वनता १२६, १३२
„ उत्पन्न नही होता ६३
„ और ईश्वर का सम्वन्ध ७२
„ „ „ मे वैधर्म्य १३१, २०१
„ „ „ मे साधर्म्य „
„ कर्म करने मे स्वतन्त्र ७५-७६
„ कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता ७६-७७
„ का ज्ञान व सामर्थ्य सीमित ७२, २६७
„ का देह प्रवेश ईश्वरीय प्रेरणा से ११८
„ का परिमाण ६८, ७०
„ का ब्रह्म में लय नहीं १२६
„ को मूर्च्छितावस्था मे दुःख नही १०३
„ देह परिमाण नही ६६
„ नित्यमुक्त नही ११६-२१, १३४
„ फल भोगने मे परतंत्र ८०
„ ब्रह्म एक नही १६६-२०१
„ ब्रह्म का अंश नही ६६, २०६
„ „ „ प्रतिविव ६६, २०२, २०४
„ „ व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध ७२
„ „ नही-अन्वय व्यतिरेक से ३१८
„ नही, विशेपण व्यपदेश से २३२
„ सृष्टिकर्ता नही १६८
„ स्थावर देहो मे १०२-३
जीवन्मुक्त १४५
जीवात्मा १२५
„ देह से भिन्न ६३-६४
„ भूतो से उत्पन्न नही ६१
„ जैवी सृष्टि १८७

ट

टेनिसन १०६

त

तत्त्वज्ञान से अभ्युदय १
„ „ निःश्रेयस १
तत्त्वमसि २३७-२३०
तत्सहचरितोपाधि २३०
तन्मात्र १७६
तप २६४-६६, २७६
तमस् १५१, १५३
तमोगुण ३०६
तात्स्योपाधि २२८
तादात्म्य २२८, २३०
तामस मन ३०६
तितिक्षा १४६
तीन अनादि पदार्थ १६६
तीन एषणायें ३०६
तीन कारण १५१, १५८
तीन के बिना सृष्टि नही १६६
तुरीय शरीर ३१३
तुरीयावस्था ३१५
तृष्णा १२४-२५
तेज १८२
त्रसरेणु १८३
त्रिकालदर्शी ३८
त्रिविध कर्म ८४
त्रिविध दुःख ११६
त्रैतवाद १६६-२०१

,, और उपनिषद् २३६-४२
,, और वेद २३५-३८
,, और वेदान्त सूत्र २४२-४५

द

दम १४६
दया व न्याय ३८
दयानन्द १०४
दयालु व न्यायकारी ३८
दर्शनो मे अविरोध १६७
दिशा १२४-२५
दु:ख ७३, १२२, १२५, २५२
दु:ख का कारण १२२
दु:ख का स्वरूप १२१
दु:ख निवृत्ति ११६
दु:ख–प्रकार ११६
दु:खवाद १७६-७७, २०२-३
दृष्टार्थ शब्द १६
देवता का आवाहन ५०
देवयोनि १०१
देह के बिना अनुभूति १४४
देह परिमाण जीव नही ६६
देह–पाचभौतिक ६१
देहसघात आत्मा नही ६१
दैव मन २८५
दोष १२२
दौर्मनस्य २५२
द्रवत्व १२५
द्रव्य का लक्षण १२३
द्रव्य कितने १२४
द्रव्य के बिना गुण नही २१५
द्रव्य–गुण–कर्म १२७
द्रव्य गुण का साधर्म्य १२७
द्रष्टा १२८
द्रष्टा, दृश्य नही ६६
द्व्यणुक १८३
द्वितीय २३३
द्वेष ७३,१२५,२८०
द्वैत २३१

ध

धर्म अधर्म १२५
धर्मानुष्ठान २६४
धारणा २५४,२७४
धी २६६
धृति २६६
धृति मन २८६
ध्यान २५४,२७५

न

नष्ट बीज से उत्पत्ति नही १६५
नाम स्मरण ५२
नाश का अर्थ १५६-५७
नासदीय सूक्त १५५
नास्तिको के सृष्टि रचना विषय तर्क १७२-७३
नित्शे ६७
नित्य का स्वरूप १६६
नित्य के गुणकर्मस्वभाव नित्य २१४
नित्य पदार्थ १६६
नित्यत्ववाद १६८
निदिध्यासन ३००
निद्रा ३०३
निमित्त कारण १५१
निमित्त कारण के बिना सयोग नही १७२
निमित्त कारण के भेद १५१
नियम २५३,२६१
निराकार ईश्वर २८-३०
निराकार का ध्यान ५१

निराकार से साकार नहीं ३१
निरोध २४८, ३०५
निर्गुण-सगुण ३६
नि श्रेयस् १
निष्क्रमण १८३
नैर्घृण्य ९७-९८
न्यूटन १०४
न्यूट्रॉन १५३

प

पचकोश ३०८
पचक्लेश २७७
पच तन्मात्र १७६
पचभूत १८०
पचायतन पूजा ५३
पदार्थ का अभाव नहीं १५७
पदार्थ-छह् प्रकार १२३
पदार्थमात्र सगुण-निर्गुण ३६
परत्व १२५
परम प्रमाण ५
परमाणु का स्वरूप १८१
परमाणु से दृश्य जगत् १८१
परमात्मा का प्रत्यक्ष १८
परमार्थ-व्यवहार भेद २२२
परमेश्वर की प्रेरणा ८०
परिच्छिन्न आत्मा ६८
परिमाण १२५
परीक्षा, सत्यासत्य की ३
पशुयोनि १०२
पापाचरणेच्छा मे भयादि ८०
पिथागोरस १०७
पुत्रैषणा ३०६
पुनर्जन्म, उन्नति के लिये ९८
" कर्मफल भोगार्थ ९९-१००
" न मानने से हानि ९७-९८
" में आत्मा का नित्यत्व कारण ९५
" में शास्त्रीय प्रमाण ९५-९७
" सिद्धि मे हेतु १०४-१०
" विषयक सिद्धान्त की व्यापकता १०६-११०
पुरुष विशेष २७, १३१
पुरुषार्थ का प्रयोजन ११९
पूर्वजन्म का ज्ञान १११-११३
पूर्वजन्म की स्मृति १०५-६, ११०-११, ११३-१६
" " विस्मृति ११३
पूर्ववत् अनुमान १४
पूर्वापर जन्म ९७
पृथक्त्व १२५
पृथिवी १२४-२५
" आदि की सृष्टि प्राणिसृष्टि से पूर्व १८०-१८४
" का आधार ईश्वर १९६
" का गुण १८३
" का घूमना १९६
प्रकृति-अनादि १५४-५६
" उपादान कारण १५२
" कार्य नहीं १५४
" का लक्षण १५३-७८
" का स्वरूप १५९
" के कारण बन्धमोक्ष १२१
प्रज्ञान मन २९१-९२
प्रणव ५३-५८
प्रतिबिम्ब का स्वरूप २०२
प्रतिमा ४०
प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप १०
प्रत्यक्ष प्रमाण १०-१३
प्रत्यभिज्ञान ६५, १७६, २०९
प्रत्याहार २५४, २७३

प्रमाण-आठ १०
प्रमाणवृत्ति ३०२
प्रमाद २५०
प्रयत्न ७३, १२५
प्रयोजन ११९
प्रवर्त्तक २३२
प्रवृत्ति १२२, २०३
प्रलय १५६
प्रवाह से अनादि सृष्टि १९४
प्रवेश २३३
प्रवेशन १८३
प्रश्वास २५२
प्रसारण १२६
प्राण २६९, २८३, ३०९
प्राणप्रतिष्ठा ५०
प्राणमय कोश ३०९
प्राणायाम २५४, २६९-७३
प्राणी से पूर्व पृथिवी आदि १८४
प्रारब्ध कर्म ८५
प्रार्थना ९०-९१
प्रार्थना के अनुरूप प्रयत्न ९१
प्रार्थना, सगुण-निर्गुण ९१
प्रायश्चित से क्षमा नही ८६
प्रेत्यभाव ९४
प्रेरक तन्त्रिकायें २८५, २९१
प्रोटोन १५३
प्लैटो १०७

फ

फल, कर्मानुसार ८२
फलदाता, परमेश्वर ८१
फलभोग बिना कर्मक्षय नही ८५
फलभोग बिना हानि ८७

ब

बन्ध का कारण १२२
बन्धमोक्ष स्वभाव से नही १२०
बाह्यार्थ प्रत्यक्ष १७५
बाह्यार्थ शून्य १७३
बुद्बुद् २०६
बुद्ध १०४
बुद्धि १२५-२९१
बौद्ध ९७
बौद्धदर्शन की शाखायें १७३
बौद्धो का भावनाचतुष्टय १७५
बौद्धो के पाँच स्कन्ध १७७
ब्रह्म अखण्ड है २०६
,, अनुप्रविष्ट २३३
,, अन्तर्यामी २३१
,, अज्ञानी कभी नही २०८
,, उपाधिग्रस्त नही २१५
,, का आभास नही २०२-०४
,, की कल्पना असत्य नही २१४
,, जगत् का उपादान नही १५२, २१९, २२३
,, जीव मे तादात्म्य नही २१७
,, ,, साधर्म्य से एकत्व नही २१७
ब्रह्म मिथ्यासकल्प नही २१४
,, मे जगत् का आरोप नही २१०
ब्रह्मगुहा ७१-७२
ब्रह्मचर्य २५७
ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या २२२
ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति नही १५२, २१९

भ

भक्ति २४६
भय-शका-लज्जा ८०
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १०४
भाव का अभाव नही ६८
भावना-चतुष्टय १७५
भी २६६
भूत, पृथिवी आदि १८०
भूतो मे चैतन्य नही ६१
भोक्ता से भोग्य पहले १८४
भोक्ता जीवात्मा ७६, ८३
भोग ९९-१००
भोगयोनि ११८
भोगापवर्ग १६०
भोज १०४
भौतिक शरीर ३१०
भ्रम, कब, किसे, क्यो २१०
भ्रान्तिदर्शन २५१

म

मकडी का दृष्टान्त २२६
मन १२४, १२५, २८२, २९६-९९
मन-आन्तरेन्द्रिय २८३
,, उभयात्मक २८४
,, का लक्षण (लिंग) २८६, २९१
,, जड है ३०१
,, द्वारा विषयो का ग्रहण २८४-८७
,, बाहर नही जाता २८४
,, भौतिक-अभौतिक २८४
मनप्राणादि भोग मे साधनमात्र ३०१
मनन ३००
मनुष्ययोनि १०२
मनोमय कोश ३०९
मनोवृत्ति ३०२
मनोवृत्ति निरोध ३०४-५
महत्तत्त्व १७९, ३१०
महावाक्य, वेदान्त के २२८
महाव्रत २६०
माध्यमिक १७३
मानवसृष्टि, लोकान्तर मे १९६
मानस तप २६५
माया २२०
मिथ्या ज्ञान १२२
,, की निवृत्ति १२३
मुक्तात्मा ११२
मुक्ति, अनन्त नही १३४-४२
,, अनादि अनन्त प्रवाह से १३६
,, अनेक जन्मो मे १५६
,, और बन्ध निमित्त से १२०-२१
,, कब १२२
,, का अधिकारी १४७
,, की अवधि १४३
,, के भेद १४६-४७
,, के साधन १०७-४९
,, जन्म-मरण सदृश नही १४२-४३
,, नित्य नही १३४-४२
,, मे आनन्द भोग १३३,१४४
,, मे भौतिक शरीर नहीं १४३
,, ज्ञानकर्मोपासना के समन्वय से १४९
,, मे जीव ईश्वर के सदृश नही १३१
,, मे जीव का लय १२९-३०, नही १३२-३३
,, मे सकल्पमय शरीर १४४
,, मे जीव का सामर्थ्य १४५
,, मे जीव की स्थिति १३३

„ मे स्थूल शरीर के बिना भोग १४३-४४
„ के सन्दर्भ मे 'अत्यत' पद का अर्थ १३५
„ से अनावृत्ति का तात्पर्य १३७-४०
„ से पुनरावृत्ति १३४-४२
„ सालोक्य आदि भेद १४६-४७
मुमुक्षुत्व १४६
मूर्त्ति-निराकार की सभव नही ४०
मूर्त्तिपूजा अज्ञानियो के लिये ४३-४५
„ अधर्म है ४८
„ मे भावना का अर्थ ४६
„ वेद विरुद्ध ४८
„ शास्त्र विरुद्ध ४२
„ मे ईश्वर से मेल नही ५०
मूल कारण का कारण नही १६३
मृत्यु ६४
मैकटेगर्ट १०८
मैक्समूलर ६७
मोक्ष—देखो मुक्ति

य

यक्षम न २८८
यथार्थ दर्शन २
यम २५३-५४, २६८
यमनियम २५३
याग २४७
योग के अग २५३
योगाचार १७३
योग्यतम की विजय १६०
योनि—उभय, कर्म, भोग ११७-१८
„ देव १०२
„ पशु १०२
„ मनुष्य १०२
योनि-स्थावर १०२-३
योनिज शरीर १८५

र

रजस् १५१,१५३
रजोगुण २८८, ३०६
रज्जु-सर्प दृष्टान्त २१०
रवीन्द्रनाथ टाकुर १०६
रस १२५, १८२
रसना १८२
राग २७६
राग द्वेष २७७
राजस मन ३०५
रूप १२५, १८२
रूप स्कन्ध १७७

ल

लिंग (सूक्ष्म) शरीर ३११
लूता दृष्टान्त २२६
लैसिंग १०७
लोकान्तर सृष्टि १६६
लोकैषणा ३०८

व

वर्ड्सवर्थ १०४, १०८
वसु १६६
वस्तु का अभाव नही १३२
वस्तुतत्त्व १२६, १५४
वाचिक तप २६५
वायु १२४-२५, १८२
वासना २६३
वृत्ति निरोध ३०५
वृत्तिया ३०२, ०४
विकल्प वृत्ति ३०२
विकार १७६

विकासवाद १७७ ९२
विकृति १५३
विक्षेप २४९
विक्षेप सहभुव २५२
विघ्न (अन्तराय) २४६
विचिकित्सा २९८
विज्ञानमय कोश ३१०
विज्ञानस्कन्ध १७७
वित्तैपणा ३०७
विधि निषेध २०२
विनाश १७१
विपर्यय वृत्ति ३०२
विपाक १०३
विभाग १२५
विरोध १९७
वियोग १७२
विवर्त्तवाद १५२
विवेक १४८
विवेकख्याति १७८, २७८
विशिष्टाविशिष्ट १९२
विशेष १२७
विशेषण २३२
विषय २७४, २८५
विस्मरण ११०, ११३, ११५
वृक्षो (स्थावरो) मे जन्म १०२
वेग सस्कार १२५
वेद का प्रामाण्य ३-७
वेद-ब्रह्म से प्रादुर्भूत ४-५
वेद मे त्रैतवाद २३५ ३८
वेदनास्कन्ध १७७
वेदान्त के महावाक्य २२८
वेदान्त मे अनादि पदार्थ २३५
वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) त्रैतवादी २४२-४५
वैधर्म्य १२३,२१७
वैभाषिक १७५
वैराग्य १४८, २४८
वैषम्य ९७-९८
व्यतिरेक २१८
व्यवसायात्मक १२
व्याधि २४९
व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध ७२
व्यावर्त्तक २३२
व्युत्थितचित्त २७६

श

शकराचार्य १०४
शब्द १२५
,, आकाश का गुण १८३
,, प्रमाण १६
शम १४८
शरीर की अवस्थायें ३१३
शास्त्रो मे अविरोध १९७
शिवसंकल्प सूक्त २८५
शून्यवाद १६३-६४, १७३, १७६
शेष १९६
शेषवत् १४
शौच २६१
श्रद्धा १४९, २९९
श्रवण ३००
श्रवणचतुष्टय ३००
श्वास २५२

ष

षट्कसम्पत्ति १४८
षड्दर्शनो मे अविरोध १९७

स

सगुण-निर्गुण ३९
सगुण-निर्गुण स्तुतिप्रार्थनो-

पासना ८९. ९३
सञ्चित कर्म ८४-८५
सत् असत् एक साथ १६८
सतोगुण ३०५
सत्कार्यवाद १६२-६३
सत्य २, ३, २५५
सत्यासत्य निर्णय ३
सदसत् १५५
सन्तोष २६३
सन्निकर्ष ११
सत्त्व-रजस्-तमस् १५१, १५६, १६२, ३०५
सकल्प २९८
सकल्प शरीर १२९, १४४
सख्या १२५
सज्ञास्कन्ध १७७
सयोग १२५, १७२
सवेदन तत्रिकायें २८५, २९१
सशय २५०
ससार की दु खात्मकता १७७
सस्कार १२५, २१३
सस्कार दोष २७८
सस्कारस्कन्ध १७७
समन्वय १५९
समवाय १२८
समवाय सबध २१४
समाधान १४९
समाधि २५४, २७६, ३१५
समाहित चित्त २७६
सम्भव प्रमाण १७
सर्ग १५५, १९३
सर्गान्त मे प्रकृति १५६
सर्वं खल्विद ब्रह्म २२७-२२८
सर्वज्ञ २८, २०१
सर्वव्यापक २८, २०२
सर्वशक्तिमान् ३७
सहचरितोपाधि २३०
साकार निराकार २८-३३
साक्षात्कार २९९
साजात्य प्रजनन १९३
सात्त्विक मन ३०५
साधनचतुष्टय १४७-४९
साधर्म्य १२३, २१७
साधारण कारण १५२
सानुज्य मुक्ति १४७
सापेक्ष १६८
सामान्य विशेष १२७
सामान्यतोदृष्ट १५
सामीप्य मुक्ति १४७
साम्यावस्था १५३, १५६
सायुज्य मुक्ति १४७
सालोक्य मुक्ति १४६
सुख ७३, १०३, १२५
सुख दुःख ७३, १०३
सुखसवित्ति १०३
सुषुप्ति ३१५
सूक्ष्मभुक् ३१३
सूक्ष्म (लिंग) शरीर ३११
सूर्य १९६
सृष्टि, अमैथुनी १८५
„ उत्पत्ति १५८
„ उत्पत्ति क्रम १७८-८४
„ का उपादान कारण १५२, २२३, २२४
„ का निमित्त कारण १५८
„ का प्रयोजन १६०-६१, २१८
„ का स्वरूप १५१
„ आदि मे अनेक युगल १९३
„ आदि मे युवा प्राणी १९३
„ पदार्थ १४१, १६०, २१८

,, प्रवाह से अनादि १६४
,, मे रचना वैचित्र्य २०, १५८
,, मे विषमता १६१-६२
,, विषयक अविरोध दर्शनो मे १६७
सृष्टि क्रमाविरुद्ध ८
सृष्टि रचना मे कारण १५१, १५८
सृष्टि रचना विषयक नास्तिको की युक्तिया १७१-७२
सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलय १६४
सौत्रातिक १७४
स्कन्ध (पाच) १७७
स्तुति का फल ८८-६०
स्त्यान २४६
स्थावर शरीर १०२-०३
स्थिति स्थापक सस्कार १२४
स्थूलभुक् ३१३
स्थूलभूतो की उत्पत्ति १८०
स्थूल शरीर ३१०
स्थूल सृष्टि १८१
स्नेह १२५
स्पर्श १२५, १८२
स्फुलिंग २०६
स्मृति २१२, २६३, ३०४
स्मृति का अत्यन्ताभाव नही ११४
स्मृतिप्रामाण्य ८
स्वतन्त्र का लक्षण ७५
स्वप्न २१२, ३१३
स्वप्न जन्मान्ध को रूप का नही २१४
स्वप्न का दृष्टान्त २१२
स्वप्न का स्वरूप २१२
स्वप्न मे स्मृति २१२
स्वप्नावस्था ३१३
स्वभाव २०६
स्वभाव से सृष्टि नही १७१-७२
स्वरूप से अनादि १६६
स्वलक्षण १७६
स्वाध्याय २६६, २७६
स्वाभाविक निर्वचन १८६
स्वाभाविक शरीर १४४

ह

हृदय की स्थिति ७०-७१
हिरण्यय कोश ७१
ह्यूम १०७
ह्री २६६